मैक्समूलर के पत्र तथा जापानी अनुवादक, श्रीयुत तंककुसू, की व्यापक भूमिका से लग जायगा। अच्छा होता, यदि कोई विद्वान् मूल चीनी भाषा से इसका हिन्दी में अनुवाद करता, परन्तु इ-त्सिङ्ग की प्राचीन चीनी को समझनेवाला कदाचित् अभी हिन्दी-जगत् में कोई नहो है। स्वयं तककुसू महाशय को भी इस पुस्तक के समझने में कठिनाई हुई है। इस दशा में किसी भारतीय विद्वान् के लिए तो इसका भाषान्तर करना और भी कठिन होगा।

जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इस पुस्तक-रत्न का आज तक किसी भारतीय भाषा में अनुवाद नहीं हुआ। इसलिए, मुझे आशा है, इस अनुवाद के प्रकाशित हो जाने से आर्यभाषा-भाषियों के ऐतिहासिक ज्ञान में कुछ न कुछ वृद्धि अवश्य होगी।

मैंने अपने इस अनुवाद मे वैयाकरण भर्तृहरि पर एक टिप्पणी बढ़ा दी है। इसके अतिरिक्त पुस्तक के अन्त में एक अनुक्रमणिका भी जोड़ दी है, जो कि हिन्दी-ग्रन्थों के लिए एक नई परन्तु बहुत उपयोगी चीज़ है। आशा है, इनसे पुस्तक की उपयोगिता बढ़ेगी।

इनके अतिरिक्त श्रीमद्दयानन्द ऐंगलो वैदिक कालेज, लाहौर, के संस्कृत अनुसन्धान-विभाग के अध्यक्ष मित्रवर पण्डित भगवद्दत्तजी बी० ए०, और प्रिय सुहृद प्रोफ़ेसर वेदव्यासजी एम० ए० ने अनेक महत्त्वपूर्ण टिप्पणियाँ लिखकर पुस्तक के महत्त्व को बहुत बढ़ा दिया है। गवर्नमेण्ट कालेज लाहौर के प्रोफ़ेसर श्रीयुत राय साहिब शिवरामजी कश्यप, डी० एस-सी० ने वनस्पति-शास्त्र के अनेक पारिभाषिक नामो के हिन्दी पर्याय बताकर मेरे अनुवाद-कार्य को सुगम बनाया है। इसलिए मैं इन तीनों विद्वानों का, उनकी दी हुई बहुमूल्य सहायता के लिए, कृतज्ञ हूँ।

पुरानी बसी, होशियारपुर।

सन्तराम, बी० ए०

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ

संक्षेप

Chavannes—Memoire compose a L'epoque de la grande dynastie T'ang sur les religieux eminents qui allerent chercher la loi dans les pays d' occident, par I-tsing. Traduit en Francais par Edouard Chavannes Paris, 1894.

Childers (चाइल्डर्स) = पाली भाषा का अभिधान, आर० सी० चाइल्डर्स कृत। लन्दन, १८७५।

धर्म्मसंग्रह = केञ्जियो कसावरा का प्रकाशनार्थ तैयार किया हुआ बौद्ध परिभाषाओं का एक प्राचीन संग्रह। एफ़० मैक्स-मूलर तथा एच० वेञ्ज़ल-द्वारा सम्पादित। ऑक्सफ़ोर्ड, १८८५।

जापानी = बोडलियन पुस्तकालय में चीनी बौद्ध पुस्तकों का नवीन जापानी संस्करण।

जूलियन = Methode pour dechiffrer et transcrire les Noms Sanscrits qui se rencontrent dans les Livres Chinois. Par Stanislas Julien. Paris, 1861.

काश्यप = सन् १७५८ में लिखी हुई, इ-त्सिङ्ग के इस इतिहास पर हस्तलिखित टीका। लेखक जि-उन काश्यप (ओं-को), —नन-काई-काई-रन-शो।

नञ्जियो = बौद्ध त्रिपिटक के चीनी अनुवाद की सूची। भारत-मन्त्री की आज्ञा से बुन्यिऊ नञ्जियो-द्वारा सङ्कलित। ऑक्सफ़ोर्ड, १८८३।

S. B. E.—The Sacred Books of the East, translated by various Oriental Scholars, and edited by F. Max Muller. Clarendon Press, Oxford.

Yule (यूल) = मार्को पोलो का पर्यटन। कर्नल यूल-कृत। दूसरा संस्करण। लन्दन, १८७५।

श्रीयुत ज० तककुसू के नाम

राईट आनरेबल प्रोफ़ेसर एफ़० मेक्समूलर का पत्र

आक्सफ़ोर्ड

जनवरी, सन् १८९६

प्रिय मित्रवर,

सन् १८४६ मे, जब से, पेरिस में, स्टेनिस्लस जूलियन के साथ मेरा परिचय हुआ—क्योंकि जिन दिनों वह ह्यू न-थ्सांङ्ग के भारत-भ्रमण का अनुवाद कर रहा था मैं लगातार उसके साथ रहता था—मुझे निश्चय हो गया कि मध्यकालीन संस्कृत-साहित्य के निर्माण-काल का निश्चय करने मे चीनी लेखकों के ग्रन्थों से बड़ी महत्त्वपूर्ण सहायता मिलेगी। मुझे इ-त्सिङ्ग के ग्रन्थ के अनुवाद की विशेष रूप से उत्सुकता थी। मुझे तो सन् १८८० में ही आशा थी कि उस बड़े चीनी पर्यटक के भारत-प्रवास का वृत्तान्त अँगरेज़ी-अनुवाद के रूप में हमें जल्दी ही मिल जायगा। उसकी पुस्तक के कुछ विषयों का ज्ञान मुझे अपने एक जापानी बौद्ध शिष्य, कसावरा, के द्वारा हो गया था; परन्तु दुर्भाग्य से सारी पुस्तक का अनुवाद समाप्त करने के पहले ही उसका देहान्त हो गया। फिर भी उसके अनुवाद के टुकड़ों से मैंने कुछ महत्त्वपूर्ण बातें इकट्ठी कीं जो पहले अकैडेमी, अक्तूबर २, सन् १८८०, में फिर इण्डियन ऐण्टिकेरी में, और "संसार को भारत का सन्देश" (India ; and what it can teach us) नामक मेरे ग्रन्थ के परिशिष्ट में 'संस्कृत-साहित्य का पुनरुद्धार' शीर्षक से प्रकाशित हुईं।

इ-त्सिङ्ग अथवा भारत में किसी अन्य चीनी पर्यटक से हमें भारत

के प्राचीन साहित्य पर किसी विश्वसनीय जानकारी की आशा नहीं करनी चाहिए। उदाहरणार्थ, बुद्ध की जन्मतिथि के विषय में जो कुछ वे बताते हैं वह ऐतिह्य मात्र है; उसका कोई स्वतन्त्र मूल्य नहीं। यह एक रुचि की बात है कि उन्हें पाणिनि तथा उसके प्रसिद्ध व्याकरण का नाम मालूम था; परन्तु उसके काल तथा अवस्थाओं के विषय में जो कुछ वे कहते हैं उससे हमें अधिक सहायता नहीं मिलती। इस विषय में जो-जो महत्त्व की बातें हैं वे सब मैंने संग्रह करके अपने प्रातिशाख्य के संस्करण (1856, Nachtrage, pp. 12-15) में प्रकाशित कर दी हैं। पाणिनि के काल का निश्चय केवल आनुमानिक रीति से ही हो सकता है। यह बतलाया गया है कि पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में पुष्यमित्र* का और कुछ हस्तलेखों के अनुसार चन्द्रगुप्त* का भी उल्लेख किया है। चन्द्रगुप्त मौर्य-वंश का संस्थापक था, और पुष्यमित्र उस वंश का प्रथम पुरुष था जिसके हाथ मौर्यों के बाद राज्य आया। एक स्थान पर पतञ्जलि मौर्यों के पतन† की ओर संकेत करता प्रतीत होता है, और यह पतन ईसा

---

* देखो महाभाष्य १ । १ । ६८ ॥ अथवा कीलहार्न का संस्करण भाग प्रथम, पृष्ठ १७७, पंक्ति १०—राजसभा ।......। पुष्यमित्रसभा । चन्द्रगुप्तसभा । तथा, महाभाष्य ३ । १ । २६ ॥ अथवा कीलहार्न का संस्करण भाग द्वितीय, पृष्ठ ३४, पंक्ति १—पुष्यमित्रो यजते, याजका याजयन्तीति । तथा च, महाभाष्य ३ । २ । १२३ ॥ इह पुष्यमित्रं याजयामः ।—भगवद्दत्त ।

† भट्ट मोक्षमूलर का संकेत सम्भवत. इस वाक्य की ओर है—मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः । महाभाष्य ५ । ३ । ६६ ॥ परन्तु इन मौर्यों का राजवंश से कोई सम्बन्ध न था । मौर्य नाम की एक जाति बुद्ध के काल से ही चली आती है ।—भ० दत्त ।

के १७८ वर्ष पूर्व हुआ था, इसलिए यह मान लिया गया है कि वह लगभग उसी काल में था और यह तिथि राजतरङ्गिणी (सन् ११४८) के इस कथन के अनुकूल जान पड़ती है कि उसका ग्रन्थ, महाभाष्य, राजा अभिमन्यु* के शासन-काल में, अर्थात् ईसा के पूर्व पहली शताब्दी के मध्य में, काश्मीरवालों को मालूम था। चूँकि पतञ्जलि और पाणिनि के बीच वैयाकरणों की एक परम्परा एक-दूसरे की उत्तराधिकारी होती चली आई है, इसलिए सत्याभास के कुछ अंश के साथ यह युक्ति दी गई थी कि पाणिनि ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी के पीछे का नहीं हो सकता। यह सारी आनुमानिक काल-गणना है और किसी अधिक निश्चित बात के मिल जाने पर इसे दब जाना पड़ेगा। इसलिए बर्लिन के प्रोफ़ेसर वीबर का यह दिखलाना और इस पर ज़ोर देना ठीक ही है कि पाणिनि यवनानी† नाम की एक लिपि का प्रमाण देता है, जिसका अर्थ वीबर ने आईओनियन या यूनानी समझा है। उसकी युक्ति यह है कि सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व इसका ज्ञान नहीं हो सकता था,‡

---

* चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वा देशात् तस्मात्तदागमम् ।
प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वं च व्याकरणं कृतम् ॥ १ । १७६ ॥—भ० दत्त ।

† ......०यवनमातुलाचार्याणामानुक् । अष्टाध्यायी ४ । १ । ४९ ॥
इसी सूत्र पर कात्यायन का वार्तिक है—यवनाल्लिप्याम् ॥—भ० दत्त ।

‡ जर्मन अध्यापक की यह कल्पना-मात्र है। सिकन्दर से सहस्रों वर्ष पूर्व होनेवाले व्यास और उनसे भी पूर्व के मनु-भृगु आदि लेखक यवनों से परिचित थे। देखो महाभारत भीष्मपर्व—

उत्तराश्चापरे म्लेच्छा: क्रूरा भरतसत्तम ।
यवनाश्चीनकाम्भोजा दारुणा म्लेच्छजातयः ॥ ९ । ६१ ॥

मनुस्मृति—भृगुसंहिता—

पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः । १० । ४४ ॥

इसलिए पाणिनि का पुस्तक-प्रणयन-काल ईसा के पूर्व ३२० के और पहले नहीं हो सकता ।*

यद्यपि प्रोफ़ेसर बिहटलिङ्ग (Boehtlingk) कहता है कि भारत में लेखन-कला, कम से कम स्मरणार्थक प्रयोजनों के लिए, तीसरी शताब्दी के पूर्व अवगत थी, परन्तु उसने अपनी प्रतिज्ञा की पुष्टि में कोई तिथिवाला शिला-लेख उपस्थित नहीं किया, और उससे भी कम उसने यह सिद्ध किया है कि यह असत् लिपि यवनानी कहलाती थी ।† हम इस बात की सम्भावना से इन्कार नहीं कर सकते कि अक्षर लिखने का ज्ञान सिकन्दर के समय के पूर्व भारत में पहुँच गया होगा; और न यवनानी से तात्पर्य आईओनियन या यूनानी होने का है। किसी ने कभी यह नहीं कहा कि कोई भी भारतीय लिपि सिकन्दर के समय में प्रचलित यूनानी अक्षरों से प्रत्यक्षरूप से उत्पन्न हुई है। किसी भी प्रामाणिक लेखक ने इन भारतीय लिपियों की व्युत्पत्ति सेमेटिक (Semitic) या अरामाइक (Aramaic) स्रोत के सिवा और किसी से नहीं मानी ।‡ ईसा पूर्व

महाभारत और मनुस्मृति के ये श्लोक प्रक्षिप्त नहीं हैं।

गौतमधर्मसूत्र ४ । २१ ।। भी देखो।

पाश्चात्य विद्वानों ने ऐसे ही श्लोकों के आधार पर महाभारत और मनु आदि को भी सिकन्दर से अर्वाचीन माना है। यह उनका हठ-मात्र है।—भ० दत्त।

* वीबर की इस युक्ति का बेलवल्कर महाशय ने प्रबल खण्डन किया है। देखो—Systems of Sanskrit Grammar. Pages 15-17.—वेदव्यास।

† हड़प्पे के नूतन आविष्कार (देखो सरस्वती, जनवरी सन् १६२५) आज से लगभग ५००० वर्ष पहले भी भारत में किसी न किसी प्रकार की लिपि का अस्तित्व बताते हैं।—भ० दत्त।

‡ इस कल्पना का सारगर्भित खण्डन रा० ब० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा ने स्वप्रणीत "भारतीय लिपि-माला" की भूमिका में किया है।—भ० दत्त।

पाँचवीं शताब्दी (मस्पेरो के अनुसार, चौथी शताब्दी) की समाप्ति पर एशमूनेज़र के शिला-लेख के पहले के सेमिटिक (फ़ोनीशियन) शिला-लेख भी बहुत थोड़े हैं। मुझे केवल लगभग ईसा पूर्व ७०० का सिलोअम का और लगभग ईसा पूर्व ६०० का मेशा का शिला-लेख ही अवगत है। इसलिए वीबर की युक्ति एक प्रतिज्ञा मात्र से ही काटी नहीं जा सकती।

फिर किसी विद्वान् के लिए यह कहना और भी कठिन है कि अक्षर-लिपि के ज्ञान के बिना प्राचीन वैदिक साहित्य का अस्तित्व असम्भव था। जहाँ वर्ण-लिपि का ज्ञान है और साहित्यिक प्रयोजनों के लिए उसका उपयोग किया जाता है, वहाँ संसार का कोई भी व्यक्ति इस सचाई को नहीं छिपा सकता और मैं इस समय भी चुनौती देकर कहता हूँ कि कोई विद्वान् पाणिनि के कल्पित काल के पहले के भारतीय साहित्य में लिखने का कोई उल्लेख दिखलाये।* यह कहना कि वर्ण-लिपि के बिना साहित्य असम्भव है, यूनानी, इबरानी, फ़िन्निश, एस्टोनियन, मोर्डविनियन, प्रत्युत मेक्सिकन साहित्य से भी अज्ञता प्रकट करना है। यदि लिखावट, काग़ज़, स्याही, लेखनी, चिट्ठियाँ, अथवा पुस्तकें दैनिक उपयोग मे आती थीं तो उनकी संज्ञाओं को ऐसी सावधानी से क्योंकर (पुस्तकों से) बाहर रक्खा गया है? इसके अतिरिक्त, यह सब कोई जानता है कि अधिकारिक अथवा स्मरणार्थक प्रयोजनों के लिए वर्ण-लिपि का जो उपयोग होता है उसमें और साहित्य के लिए उसका जो उपयोग होता है उसमें बड़ा भारी अन्तर है। माँग से ही सामग्री उत्पन्न

---

* प्रोफ़ेसर ब्यूहलर ने जातकों और अन्य बौद्ध-ग्रन्थों के आधार पर सिद्ध कर दिया है कि पाँचवीं और छठी शताब्दी ईसा पूर्व में लेखन-कला भारत में प्रचलित थी। देखो Brahmi Alphabet—Literary evidence for the use of writing. Pages 5-35.—वेदव्यास।

होती है, और लिखित साहित्य के पहले पढ़नेवाली जनता माननी होगी; परन्तु आज तक होमर और मूसा के तथा कलेवला (Kalevala) कलेविपोग (Kalevipoeg) के या उगरो-फ़िन्निश (Ugro-Finnish) या मेक्सिकन जातियों के लोकप्रिय और धार्मिक गीतों के रचयिताओं के समय में ऐसी जनता का होना किसी ने स्वीकार नहीं किया। यह कहने से कि लेखन-कला गुप्त रक्खी जाती थी, और ब्राह्मण लोग सम्भवतः प्रत्येक पुस्तक की एक प्रति अपने लिए रख लेते, और कण्ठस्थ करके अपने शिष्यों को पढ़ाते थे, यह बात प्रकट होती है कि सचाई से बचने के लिए क्या-क्या कल्पना नहीं कर ली जाती। प्राचीन भारत में लेखन-कला को न मानने के लिए मेरे पास ये प्रमाण हैं—

अशोक के शिला-लेख अभी तक भारत में सब से पुराने शिला-लेख हैं* जिनकी तिथि दी जा सकती है, और जिस स्थानीय वर्णमाला मे वे लिखे हुए हैं उनका परीक्षात्मक रूप मेरी दृष्टि में इस बात का प्रमाण है कि भारत के भिन्न-भिन्न भागों में वर्णमाला में लिखने की रीति का उपक्रम बहुत नूतन है।† मुझे इस बात की

---

* सन् १९१९ में श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने यह सिद्ध करने का यत्न किया कि कलकत्ता के अजायबघर में शैशुनाग-वंश के दो राजाओं—अजातशत्रु और नन्दिवर्धन—(४८३–४०९ ईसा पूर्व) की मूर्तियाँ हैं। उनके नाम भी मूर्त्तियों पर अङ्कित हैं। प्रसिद्ध प्राचीन-लिपि-विज्ञाता रा० ब० गौरीशङ्कर ओझा तथा अन्य भारतीय विद्वानों ने भी इसे मान लिया है। परलोकगत डाक्टर विन्सेण्ट स्मिथ का झुकाव भी इसी मत की ओर था। देखो J.B.O.R.S. Vol. V. pp. 88-106. 402-404. 512-563. Vol. VI. pp. 173-204.—वेदव्यास।

† प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् ब्यूहलर की सम्मति इस विषय में मोक्षमूलर के सर्वथैव विपरीत है। अपने ग्रन्थ Brahmi Alphabet में वे

सम्भावना में सन्देह करने के लिए कोई कारण नहीं दीख पड़ता कि पूर्व काल मे ब्राह्मणों को वर्णमाला में लिखने का ज्ञान था और मैं मेजर डीन की ऐसी किसी भी उपलब्धि को (यदि वास्तव में वे भारतीय शिला-लेख हैं) हीरेटिक (Hieratic) या नाममात्र फ़ीनिशियन वर्णमाला के देशान्तरगमन के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण वृद्धि समझकर स्वागत करूँगा; परन्तु यह बात इस प्रतिज्ञा से सर्वथा भिन्न है कि स्मरणार्थक या साहित्यिक प्रयोजनों के लिए, ईसा से कोई ४०० वर्ष पूर्व, लेखन-कला ज्ञात थी, या अवश्य ज्ञात होगी। मुझे अब तक वत्तगामनि (ई० पू० ८८—७६) के समय के पहले के ताड़ के पत्र या काग़ज़ पर लिखे हुए किसी ग्रन्थ, या अशोक के समय के पूर्व के किसी ऐसे शिला-लेख का पता नहीं जिसकी तिथि का निश्चय हो सके।

यद्यपि चीनी यात्रियों के ग्रन्थ प्राचीन साहित्य पर, प्रत्युत उस पर भी जिसे मैं सन् ४०० तक पुनरुद्धार-काल कहता हूँ, बहुत थोड़ा प्रकाश डालते हैं, तथापि वे उन संस्कृत ग्रन्थकारों की तिथियों का निश्चय करने मे हमारे लिए भारी सहायक सिद्ध हुए हैं जिनको वे या तो व्यक्तिगत रूप से जानते थे या जिनका देहान्त हुए उनके समय में बहुत काल नहीं हुआ था। मैंने यही बात अकैडेमी,

---

लिखते हैं........it will be necessary to assume that the letters of the Edicts (of Asoka) had been used *at least during four or five hundred years. p. 40*

पुनः अन्यत्र लिखते हैं—......and especially the Brahmi lipi, had a long history in India, before King Piyadasi—Asoka caused his edicts to be inscribed. P.—35.—वेदव्यास।

अक्टोबर २, १८८० में प्रकाशित काशिकावृत्ति* पर एक निबन्ध में बतलाई थी।

प्रोफ़ेसर वॉन विहटलिङ्ग ने पाणिनि-व्याकरण के अपने संस्करण की भूमिका मे, यह मानकर कि काशिका का लेखक वामन वही वामन है जिसका उल्लेख काश्मीर के इतिहास मे है, काशिका-वृत्ति को कोई आठवीं शताब्दी का बताया है। इतिहास का लेखक, कल्हण पण्डित, काश्मीर में जयपीड के शासन-काल में व्याकरण के अध्ययन की पुनः स्थापना और पतञ्जलि के महाभाष्य के प्रवेश का उल्लेख करके, राजसभा के अन्य विद्वानों के नामों की सूची देता और (अव्यय वृत्ति और धातुतरङ्गिणी के रचयिता) चीर, दामोदर गुप्त, मनोरथ, शङ्खदत्त, चतक, सन्धिमत्, और वामन का विशेष रूप से उल्लेख करता है। यह वामन काशिका का प्रणेता मान लिया गया था।† इस अनुमान की पुष्टि के लिए कोई भी प्रमाण नहीं था, और प्रोफ़ेसर वॉन विहटलिङ्ग ने स्वयं इसे छोड़ दिया है।

प्रोफ़ेसर एच० एच० विलसन ने एक और अनुमान किया है। वे कहते हैं कि जयपीड की राजसभा का वामन और काव्यालङ्कार-वृत्ति का प्रणेता वामन दोनों एक ही हैं; परन्तु वामन, अन्य ग्रन्थ-

---

* काशिका पाणिनि के सूत्रों पर पण्डित जयादित्य तथा वामन की टीका है। इसका सम्पादन पण्डित बालशास्त्री (काशी, १८७६-१८७८) ने किया है।

† वामन काशिका-वृत्ति के कुछ अंशों का स्वतन्त्र प्रणेता नहीं था। वह तो इसका प्रतिसंस्कर्ता था। इसपर देखो "Paninian studies in Bengal" Sir Ashutosh Commemoration Volume. Vol. III. Part I. P. 189.—भ० दत्त।

कारों के अतिरिक्त राघवपाण्डवीय* के लेखक कविराज का भी प्रमाण देता है। कविराज† सन् १००० के बाद हुआ है,‡ और जयपीड़ की मृत्यु सन् ७७६ (या ७८६) में हुई थी।

अन्ततः काव्यालङ्कार-वृत्ति के सम्पादक डाक्टर कपलर (Dr. Cappeller) ने, इसके रचयिता वामन को बारहवीं शताब्दी का ठहराने के पश्चात्, उसे काशिका-वृत्ति के लेखक वामन से अभिन्न सिद्ध करने का यत्न किया।

प्रोफ़ेसर गोल्डस्टकर ने वैयाकरण वामन को तेरहवीं शताब्दी से भी अधिक नूतन काल का माना।

पिछले विद्वानों में से डाक्टर ब्यूहलर ने वामन को दसवीं शताब्दी मे, बर्नेल ने बारहवीं शताब्दी में रक्खा और शोनबर्ग§ (Schonberg) ने यह दिखलाया कि क्षेमेन्द्र ने उसका अवतरण ग्यारहवीं शताब्दी में दिया।

इससे भारतीय साहित्य के पिछले इतिहास में भी काल-गणना

---

* लिङ्गानुशासन का कर्ता, काशिकावृत्ति का प्रतिसंस्कर्ता, और काव्यालङ्कार का प्रणेता वा वृत्तिकार वामन, तीनों एक ही हैं। लिङ्गानुशासनकारिका ७ की टीका तथा काशिका टीका २। ४। २१॥ के तो वाक्य के वाक्य सदृश हैं।

कश्मीर में काव्यालङ्कार का जीर्णोद्धार भट्टमुकुल (लगभग सन् ८८०) ने किया था। अतः यह ग्रन्थ इतना नवीन नहीं, जितना पहले लोग इसे समझते थे।—भ० दत्त।

इंडियन ऐण्टिक्वेरी, १८८३, पृ० २० में श्रीयुत पाठक इस कविता को आर्य्य श्रुतकीर्ति, शाके १०४५, की ठहराने का यत्न करते हैं।

† एक कविराज को राजशेखर (लगभग सन् ८८०—९१०) भी उद्धृत करता है।—भ० दत्त।

‡ श्रीयुत राईस अपने 'कर्नल ग्रन्थकार' में इसकी तिथि सन् ११७० स्थिर करते हैं।

§ शोनबर्ग, क्षेमेन्द्र का कविकण्ठाभरण, पृष्ठ १५, पाद-टीका।

का निश्चित न होना प्रकट हो जायगा। साथ ही यह इ-त्सिङ्ग जैसे चीनी पर्यटकों का मूल्य भी दिखला देगा। इ-त्सिङ्ग ने भारत मे सातवी शताब्दी के अन्त के पहले संस्कृत का अध्ययन किया और वह काशिका-वृत्ति को जानता था। यह पुस्तक, जो पाणिनि के सूत्रों की टीका है, वास्तव में वामन और जयादित्य नामक दो ग्रन्थकारो की कृति थी। कभी यह एक की बताई जाती है और कभी दूसरे की और दोनों नाम एक ही व्यक्ति के ठहराये गये हैं; परन्तु एक ऐतिह्य ऐसा था जो इस व्याकरण के कुछ भाग वामन के और कुछ जयादित्य के ठहराता था। इ-त्सिङ्ग वृत्ति-सूत्र का प्रमाण जयादित्य की रचना के रूप में देता है। वृत्ति-सूत्र नाम ही विचित्र है। हम सूत्र-वृत्ति की आशा करते हैं, परन्तु भर्तृहरि भी उसी नाम का प्रयोग करते हैं। इ-त्सिङ्ग का कथन है कि जयादित्य की मृत्यु सन् ६६१—६६२ के बाद नहीं, अर्थात् भारत मे उसके अपने आगमन के कोई दस वर्ष पहले हुई।

इस प्रकार यह दिखलाया जा सकता है कि जिसे इ-त्सिङ्ग इस ग्रन्थ की टीका, या चूर्णि, कहता है वह वास्तव मे पतञ्जलि का महाभाष्य है, जैसा कि वह—पाणिनि के सूत्रों की काशिका-परिपाटी की वृत्ति के रूप मे—इ-त्सिङ्ग के समय मे पढ़ाया जाता था। भर्तृहरि, जिसने स्वयं पतञ्जलि के महाभाष्य पर टीका की, पतञ्जलि को वस्तुतः चूर्णिकार कहता है। भर्तृहरि की मृत्यु, जो विद्यामात्र सम्प्रदाय का एक बौद्ध था*, इ-त्सिङ्ग के कथनानुसार, कोई सन् ६५१—६५२ मे हुई। इनके समकालीनों मे धर्मपाल का उल्लेख

---

* यद्यपि इ-त्सिङ्ग भर्तृहरि को बौद्ध लिखता है, पर वाक्यपदीय का रचयिता बौद्ध प्रतीत नहीं होता। वह तो अपनी कारिकाओं में ऐसा उल्लेख करता है, जैसा कोई वेदविश्वासी आस्तिक करे। देखो:—वाक्यपदीय, प्रथम काण्ड, श्लोक १—७।—भ० दत्त।

है, और यह धर्म्मपाल उस शीलभद्र का उपाध्याय जान पड़ता है जिसने सन् ६३५ में नालन्द में ह्यू न-त्साङ्ग का स्वागत किया था। भर्तृहरि के अन्य ग्रन्थ, जिनका इ-त्सिङ्ग ने उल्लेख किया है, वाक्य-पदीय और पेई-ना हैं। प्रथम ग्रन्थ में ७०० श्लोक और इसकी टीका में ७००० श्लोक हैं। क्योंकि यह एक व्याकरण का ग्रन्थ है, इसलिए यदि हम इसे भर्तृहरि-कृत वाक्यपदीय मान लें तो कोई भूल न होगी। पेई-ना के लिए प्रोफ़ेसर ब्यूहलर ने एक बड़ा विचित्र अनुमान किया है; और वह यह कि कदाचित् यह 'बेड़ा' (नौका) अर्थात् टीका होगी। भर्तृहरि की किसी भी पुस्तक के सम्बन्ध में ऐसा नाम कहीं नहीं मिलता।

व्याकरण की अवशिष्ट पुस्तकों, तीन खिलों पर पुस्तक, धातुपाठ, और इ-त्सिग द्वारा उल्लिखित सी-तन-चङ्ग के विषय में जो कुछ मैंने अपनी "संसार को भारत का सन्देश" (India: what it can teach us) नामक ग्रन्थ में लिखा है उसकी पुनरुक्ति का प्रयोजन नहीं। इन ग्रन्थों में से कुछ एक के वास्तविक स्वरूप के विषय में अभी तक कुछ कठिनाई बाक़ी है, परन्तु मुझे आशा है कि यह कालान्तर में हल हो जायगी।

जिन लोगों को मालूम है कि भारतीय साहित्य के इतिहास में निश्चित तिथियाँ कितनी थोड़ी हैं वे सब संस्कृत-साहित्य की काल-गणना में इ-त्सिङ्ग की ऐसी पुस्तक का स्वागत एक नवीन प्रधान आश्रय के रूप मे करेंगे। जैसा कि मैं अमितायुर्ध्यान-सूत्र की भूमिका में बतला चुका हूँ, अभी तक हमारे पास ऐसे केवल तीन ही आश्रय हैं—

१—यूनानी ऐतिहासिकों द्वारा स्थिर की हुई चन्द्रगुप्त (सण्ड्रोकोटस) की तिथि,—जो अशोक और उसके शिला-लेखों की तिथियाँ हमारे संवत् से पहले, तीसरी शताब्दी में, और अप्रत्यक्ष रूप से

बुद्ध की तिथि पाँचवीं शताब्दी में निश्चित करने में सहायक होती है।

२—ह्यू न-त्साङ्ग की अपने 'भारत-भ्रमण' (सन् ६२६—६४५) मे दी हुई अनेक साहित्य-सेवियों की तिथियाँ।

३—सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में (सन् ६७१—६९५) इ-त्सिङ्ग की दी हुई तिथियाँ।

इ-त्सिङ्ग ने जितनी तिथियाँ दी हैं उनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण भर्तृहरि, जयादित्य और उनके समकालीनों की हैं। जिस समय को मैंने 'संस्कृत-साहित्य का पुनरुद्धार-काल' कहा है वे उससे सम्बन्ध रखनेवाले अनेक साहित्य-सेवियों के लिए मिलन-स्थान का काम देती हैं।

मैं आपके अनुवाद की समाप्ति पर आपको बधाई देता हूँ। इससे मेरी चिरकाल की कामना पूर्ण हो गई। आपकी कृति मेरे प्रिय स्वर्गीय शिष्य, कसावरा, का स्थायी स्मारक होगी, जिसने इसे आरम्भ किया था पर जो इसको समाप्त न कर सका। मैं दिखलाऊँगा कि जापानी विद्वानों से कैसे उत्कृष्ट और उपयोगी कार्य की आशा की जा सकती है। मैंने आपको जो अपना समय और साहाय्य प्रसन्नता-पूर्वक दिया है, और जैसा कि आपके पहले मैंने कसावरा तथा बुंन्यऊ नञ्जियो को दिया था, तो यह सब केवल हमारे विश्वविद्यालय के कारण ही नहीं जहाँ कि आप संस्कृत तथा पाली के अध्ययन के लिए आये थे, वरन् इस आशा से दिया है कि जापान में बौद्ध धर्म्म का यथार्थतः पण्डितोचित अध्ययन फिर से जारी हो सकेगा, और कालान्तर में आपके देश-बन्धु भारत के प्राचीन धर्म्म के बड़े सुधारक की अधिक विज्ञ और ऐतिहासिक कल्पना स्थिर करने में समर्थ हो जायँगे। प्रत्येक दूसरी वस्तु की भाँति, धर्म्मों में भी समय-समय पर सुधार का प्रयोजन होता है; और यदि बुद्ध इस समय

जीता होता, तो वह सम्भवतः सबसे पहला मनुष्य होता जो तिब्बत, चीन, जापान, सिंहल, ब्रह्मा, और श्याम में फैले हुए बौद्ध धर्म्म की अनेक कुरीतियों का सुधार करता। एक संशोधित बौद्ध धर्म्म, जिसकी मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ, आपको इस समय दूसरे धर्म्मों से अलग करनेवाले अन्तर को बहुत कुछ कम कर देगा, और अब तक ईसा, बुद्ध, और मुहम्मद के अनुयायियों मे जो परस्पर वैर और आसुरी घृणा पाई जाती है—जो मनुष्य-जाति के लिए कलङ्क, धर्म के लिए अपमान, और उन महापुरुषों की स्थायी अवज्ञा है जो संसार में शान्ति और मनुष्यों के प्रति सद्भाव का प्रचार करने आये थे,—उसके स्थान में वह सुदूर भविष्य में संसार के बड़े-बड़े धर्म्मों में परस्पर समझौता और प्रेम-भाव उत्पन्न करने में सहायता देगा।

आपका सच्चा मित्र,

एफ़० मेक्समूलर।

———

व्यापक भूमिका

—:-❀-:—

प्रारम्भिक मन्तव्य

सन् ६७ में, चीन में,* बुद्ध-धर्म्म के प्रवेश के पश्चात्, फ़ा-हिएन ही पहला व्यक्ति था जिसने बौद्धों की पुण्यभूमि, भारत, की यात्रा की। उसका यात्रा-काल कोई सोलह वर्ष (सन् ३९९-४१४) रहा। उसका सविस्तर वर्णन उसकी 'फ़ो-कुए-की' में है। उसके पीछे सुन-युन और हुई-सेङ्ग (सन् ५१८) गये; परन्तु दुर्भाग्य से उनका वृत्तान्त† बहुत छोटा है, और उसकी तुलना दूसरे पर्यटकों के वृत्तान्त से नहीं हो सकती। इसके बहुत देर पीछे, तङ्ग वंश में,—जो चीनियों के बौद्ध साहित्य की वृद्धि का काल था,—पहला प्रसिद्ध मनुष्य ह्वेन-त्साङ्ग भारत गया। इसकी पुस्तक 'सि-यू-की,' अर्थात् 'पश्चिमी राज्य का इतिहास', से हमें उसके विषय में बहुत जानकारी मिलती है। उसने कोई सत्रह वर्ष तक (सन् ६२९-६४५) भारत मे भ्रमण किया, और जो कुछ बात उसकी दृष्टि मे आई उसे अपनी उपर्युक्त पुस्तक में पूर्ण रूप से लिख लिया। यह पुस्तक भारतीय इतिहास तथा भूगोल के लिए एक आवश्यक पाठ्य पुस्तक है।

---

* यह पहले भारतीय श्रमणों, काश्यप मातङ्ग और भारण (या धर्मरत्न) के पहुँचने की तिथि है। इनको चीनी सम्राट् मिङ्ग-ति (सन् ५८—७१) ने बुलाया था। चीन में बौद्ध धर्म का ऐतिहासिक आरम्भ यहीं से होता है, यद्यपि इसके पूर्व के साहित्य में भी इसके चिह्न कहीं-कहीं पाये जाते हैं।

† बील के फ़ा-हिएन में इसका अनुवाद है।

ह्वेन-थ्साङ्ग की मृत्यु के पश्चात् शीघ्र ही इ-त्सिङ्ग नाम का एक दूसरा बौद्ध, जो उससे किसी प्रकार कम प्रसिद्ध नहीं, सन् ६७१ में भारत के लिए चला और हुगली के मुहाने पर ताम्रलिप्ति में, सन् ६७३ में, पहुँचा। उसने राजगृह उपत्यका के पूर्वी सिरे पर, बौद्ध विद्यापीठ नालन्द मे बहुत काल तक अध्ययन किया, और ५,००,००० श्लोकों के कोई ४०० संस्कृत-ग्रन्थ संग्रह किये। स्वदेश लौटते हुए वह मार्ग मे श्रीभोज (सुमात्रा में, पेलम्बङ्ग) में ठहर गया। वहाँ उसने और अध्ययन किया और, संस्कृत या पाली से, बौद्ध पुस्तकों का अनुवाद किया।

श्रीभोज से इ-त्सिङ्ग ने अपनी पुस्तक, जिसका यहाँ अनुवाद दिया जा रहा है, सन् ६९२ मे, एक दूसरे चीनी भिक्षु, ता-त्सिन, के हाथ—जो उस समय चीन को वापस जा रहा था—स्वदेश भेजी। इसलिए यह पुस्तक 'नन-है-चो-कुएइ-नै-फ़ा-चुअन' अर्थात् 'दक्षिणी सागर से स्वदेश भेजा हुआ भीतरी धर्म का "वृत्तान्त" ' कहलाती है। मलय प्रायद्वीप के सामने के टापू उस समय दक्षिणी सागर के द्वीप कहलाते थे। इ-त्सिङ्ग सन् ६९५ में स्वदेश लौटा, और तत्कालीन सम्राज्ञी, चोऊ की वू होऊ (उसका शासन-काल इसी नाम से पुकारा जाता था) ने उसका अच्छा स्वागत किया। इस प्रकार उसका प्रवास-काल लगभग पचीस वर्ष (सन् ६७१—६९५) ठहरता है, यद्यपि हमे चीन को उसके अचानक लौट आने के बाद घर में ठहरने के कुछ मास इसमे से घटा देने चाहिएँ। सन् ६९५ के बाद वह स्वदेश में शिक्षानन्द, ईश्वर, तथा अन्य कोई नौ भारतीय भिक्षुओं के साथ बौद्ध ग्रन्थों के अर्थ लगाने मे प्रवृत्त था। उसने २३० ग्रन्थखण्डों में छप्पन अनुवाद पूर्ण किये (सन् ७००—७१२); इसके अतिरिक्त, उसकी संकलित पाँच पुस्तकें मिलती हैं, जिनमें मुख्य यहाँ दिया हुआ हमारा यह "वृत्तान्त" है।

इस पुस्तक का ज्ञान हमे इन बातों से हुआ—

१—श्रीयुत स्टेनिस्लस जूलियन (Mons. Stanislas Julien) ने संस्कृत परिभाषाओं की चीनी प्रतिलिपियों का संग्रह करते हुए हमारे इस इतिहास का उपयोग किया। यह बात उसके Methode pour dechiffrer et transcrire les Noms Sanscrits qui se rencontrent dans les Livres Chinois (Paris, 1861) देखने से मालूम हो जाती है।

२—पहले पहल अध्यापक मेक्समूलर ने इस पुस्तक के विषयों के महत्त्व को पहचाना। व्याकरण की जिन पुस्तकों का उल्लेख इ-त्सिङ्ग ने किया है उनकी विज्ञप्ति अध्यापक महाशय ने सबसे पहले २५ सितम्बर तथा २ अक्तूबर सन् १८८० के अकैडेमी नामक पत्र में, फिर इंडियन ऐण्टिक्वेरी के दिसम्बर १८८० (पृष्ठ ३०५) के अङ्क मे प्रकाशित की है। एक जापानी बौद्ध और अध्यापक महाशय के शिष्य, स्वर्गीय कञ्जिऊ कसावरा, का तैयार किया हुआ एक अंश का अनुवाद 'संसार को भारत का सन्देश' नामक पुस्तक मे, सन् १८८३, पृष्ठ २१०—२१३ तथा ३४३—३४९, में प्रकाशित हुआ है।

३—श्रीयुत सेमुयल बील की इ-त्सिङ्ग के ग्रन्थ की विज्ञप्ति इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, १८८१ पृष्ट १९७, में छपी। उन्होंने इसके कुछ विषयों पर ९ सितम्बर १८८३ की 'अकैडेमी' में विचार किया। उन्होंने अपने 'ह्यू न-त्साङ्ग के जीवन-चरित' में इस इतिहास का संक्षिप्त 'वृत्तान्त' भी दिया है।

अध्यापक डब्ल्यू० वसिलीफ़ (Prof. W. Wassilief) ने हमारे इस "वृत्तान्त" के नवम परिच्छेद का रूसी अनुवाद २४ अक्तूबर १८८८ के Memoirs of the Historico-Philological Branch of the Academy, St. Petersburg, मे छपाया। मैंने मास्को के

डाक्टर ग्रस्डफ़ (Dr. Grusdef) की सहायता से उनके अनुवाद का अपने अनुवाद के साथ मिलान किया है। सर्वतोभावेन दोनों मिलते हैं। कुछ एक क्षुद्र सी बातों मे ही हमारा एक दूसरे से भेद है। मुझे यह कहते प्रसन्नता होती है कि जब मुझे श्रोल्डन-बर्ग के अध्यापक सर्ज (Prof. Serge) की कृपा से रूसी अनुवाद की एक प्रति मिली, तब मुझे अपने अनुवाद मे,—जो पहले ही छप चुका था—किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं हुई।

५—श्रीयुत र० फूजिशीमा नामक एक जापानी भिक्षु ने चालीस में से दो परिच्छेदों का फ्रांसीसी अनुवाद 'Deax Cha pitres des Memoires d' I- tsing' शीर्षक से नवम्बर-दिसम्बर १८८८, के जर्नल एशियाटिक, पृष्ठ ४११-४३६, मे छपाया। उसके और मेरे अनुवाद मे जिन बातों में भेद है वे इस पुस्तक मे साव-धानता-पूर्वक लिख दी गई हैं। ये दोनों परिच्छेद (३२ तथा ३४) विशेष महत्त्व के हैं; क्योंकि उनमें भारत के अनेक साहित्य-सेवियों के नामों तथा तिथियों का वर्णन एक प्रत्यक्षदर्शी का लिखा हुआ वृत्तान्त है, जो किसी दूसरे स्रोत से प्राप्त नहीं हो सकता।

श्रीयुत कसावरा, सन् १८८१ में इँगलेण्ड से स्वदेश लौटते समय, अपना हस्तलेख अध्यापक मेक्समूलर के पास छोड़ गये। जर्नल ऑव दि पालि-टेक्स्ट सोसायटी, १८८३, पृष्ठ ७१, से मालूम होता है कि अध्यापक महोदय इस इतिहास को मुद्रित करने की कैसी आशा रखते थे। वे कहते हैं—'मैं यह भी कह दूँ कि श्रीयुत कसावरा का उसके ऑक्सफ़ोर्ड-प्रवास में किया हुआ इ-त्सिङ्ग के 'नन-है-ची-कुएइ-नै-फ़ा-चुअन' का अनुवाद मेरे पास है। यह पूरा नहीं है। उसे आशा थी कि जापान से वापस आकर मैं इसे समाप्त करूँगा। जापान में इस समय कोरिया की एक प्राचीन प्रति से, अनेक चीनी संस्करणों के साथ मिलाकर, चीनी पाठ का एक

नवीन संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। परन्तु मुझे आशा है कि श्रीयुत बुन्यिऊ नञ्जियो तथा कुछ और विद्वानों की सहायता से उस महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ के कसावरा के अनुवाद का शीघ्र ही प्रकाशित करना सम्भव हो जायगा।' श्रीयुत नञ्जियो ने एक बार हस्तलेख की परीक्षा की और यह लिखा—'कसावरा अपने अनुवाद में मूल पुस्तक का आधे से भी अधिक भाग छोड़ देता है; परन्तु जिस अंश का उसने अनुवाद किया है, मैं समझता हूँ, वह मूल से ख़ूब मिलता है।' वास्तव में उसका अनुवाद २०६ पृष्ठों मे से केवल बहत्तर का था, जिसमें अस्पष्ट और नीरस भाग स्वभावतः ही छोड़ दिया गया था। बत्तीसवें और चौतीसवें परिच्छेदों के सिवा उसका हस्त-लेख या तो अपूर्ण था या केवल संक्षेपमात्र। परन्तु उसके परिश्रम ने ही मेरे इस वर्तमान ग्रन्थ के लिए मार्ग तैयार किया, और उसकी हस्त-लिखित पुस्तक से काम लेते और हमारे "वृत्तान्त" के अस्पष्ट वाक्यों को लगाने का यत्न करते समय उसकी छोटी आयु में मृत्यु की स्मृति मुझे निरन्तर उत्साहित करती रहती थी।

इ-त्सिङ्ग के ग्रन्थ का उद्देश 'विनय' के नियमों के मिथ्यावर्णन को ठीक करना, और चीन के तत्कालीन विनयधर-निकायों के भ्रान्त मतों का खण्डन करना था। इसलिए वह मुख्यतः विहार के जीवन तथा अपने समय की विनय का वर्णन करता है। परन्तु हमें इस पुस्तक में इसके साथ मिली हुई अनेक महत्त्व-पूर्ण बातों का भी उल्लेख मिलता है। भारतीय साहित्य के इतिहास (परिच्छेद ३२ तथा ३४) के लिए इ-त्सिङ्ग की पुस्तक कितने महत्त्व की है यह बात पुस्तक स्वयं बतायगी। दूसरे परिच्छेद भी बौद्ध धर्म्म के, विशेषतः चीनी विनय के सम्प्रदायों के विकास के अध्ययन के लिए बहुत आवश्यक हैं। इन सम्प्रदायों के विषय मे हमारा ज्ञान बहुत ही परिमित है। वर्तमान पुस्तक केवल मूलसर्वास्तिवाद निकाय का ही वर्णन है।

यह निकाय भारत में प्रचलित चार प्रधान निकायों में से एक है। मुझे आशा है कि इस पुस्तक की सहायता से कुछ चीनी विद्वान् विनय का अध्ययन करने लगेंगे, जो कि चीनी साहित्य मे अभी तक प्रायः एक नई ही बात है। इस विशेष निकाय की 'विनय' प्रचुर और सबसे अधिक पूर्ण है। इसके साथ पूर्ण टीकाएँ (विभाषा) और इसके अध्ययन के लिए अनेक 'साहाय्य' भी हैं। इनमे से प्रायः सबका अनुवाद स्वयं इ-त्सिङ्ग का ही किया हुआ है। इसके अतिरिक्त दो और विनय-पिटक हैं। इनका सम्बन्ध उपर्युक्त विनय-पिटकों से अत्यन्त निकट है। ये महीशासक और धर्म्मगुप्त निकायों के विनयपिटक हैं, जो—इ-त्सिङ्ग के कथनानुसार—मूलसर्वास्तिवाद के दो उपविभाग हैं। इन सब निकायों का ज्ञान सिंहालियों तथा तिब्बतियों दोनों को है, और महीशासक तथा सर्वास्तिवाद अशोक के समय से हैं। कहते हैं, इन दोनों का विकास स्थविर-निकाय से हुआ है जिसको अध्यापक ओल्डनबर्ग सिंहल के ऐतिहासिक लेखो के विभाज्यवादी (नाम भी तिब्बती और चीनी में मिलता है) से अभिन्न ठहराता है। इस समय तीन भाषाओं मे विनय-पिटक के छः संशोधित संस्करण मौजूद हैं:—(१) थेरवाद का पूरा पाठ पाली मे सुरक्षित है, (२) जो आशय में चीनी के महीशासक विनय के बहुत सदृश है, (३) तिब्बती मे मूल सर्वास्तिवाद की विनय, (४) चीनी, (५) इनके साथ ही धर्म्मगुप्त की—जो अन्तिम का एक उपविभाग है और (६) इनके अतिरिक्त, महासङ्घिक विनय है। इसे फ़ा-हिएन सन् ४१४ मे पाटलिपुत्र से स्वदेश लाया था, और सन् ४१६ मे उसने इसका अनुवाद किया था।

हमारे पास ऐसी प्रचुर सामग्री है। इसकी सावधानी से परीक्षा तथा सारे परिणाम की शास्त्रीय तुलना से सभी निकायों के परम्परागत मतों के विकास की अवस्थाओं को जाँचने में सहायता

मिलेगी, क्योंकि नाना आप्त लोगों से मिले हुए ऐतिह्यों के अन्तर का निश्चय करने के लिए वे विनय को बहुत ही महत्त्व देते थे। इन सब पुस्तकों की जाँच हो चुकने और ऐतिहासिक विकास का पता लगा चुकने के पश्चात्, विनय के नियमों से सम्बन्ध रखनेवाले इस पुस्तक के कुछ परिच्छेद, चाहे वे इस समय कुछ लोगों को नीरस जान पड़ें, मुझे आशा है कि एक बहुमूल्य गुटका सिद्ध होंगे; क्योंकि वे बताते हैं कि ईसा की सातवीं शताब्दी में लोगों ने बुद्ध के मूल नियमों में किस प्रकार फेर-फार किया और वे उन पर किस प्रकार आचरण करते थे।

मूलसर्वास्तिवाद निकाय

बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् १००—२०० वर्षों के समय में, अर्थात् वैशाली की सभा के अनन्तर, जिसका मुख्य उद्देश वज्जी भिक्षुओं के दस प्रबन्धों का खण्डन करना था, कहा जाता है कि बौद्ध धर्म्म अनेक निकायों में विभक्त हो गया। सर्वास्तिवाद निकाय—जिसके साथ स्वयं इ-त्सिङ्ग का सम्बन्ध था—सबसे पुराने निकायों में से एक होने के कारण, अवश्य इसी अवधि में वृद्धि को प्राप्त हुआ होगा। दीपवंश ५,४७, में कहा है कि पहले महिंसासक ने अपने आपको थेरवाद से अलग किया, और फिर महिंसासक से, सब्बत्थिवाद, और धम्मगुत्त अलग हो गये; परन्तु हमारे निकाय का इतिहास अशोक की सभा के प्रधान, मोग्गलिपुत्त तिस्स (ई०पू० २४०) के कथावत्थु से आरम्भ होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसने उस समय कोई बड़ा महत्व-पूर्ण काम नहीं किया, क्योंकि तिस्स का ग्रन्थ सब्बत्थिवादों के विरुद्ध केवल तीन प्रश्न ही करता है:—१—क्या अर्हत अर्हतपद से पतित हो सकता है?* (परिहायति

---

* यह वैसा ही वाद है जैसा वर्तमान काल में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने "मुक्ति से पुनरावृत्ति" को माना है।—भ० दत्त।

अरहा अरहत्ताति); २—क्या प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व है? (सब्बम् अत्थीति); ३—क्या विचार की निरन्तरता समाधि है? (चित्त-सन्तति समाधीति)। इन सबका उत्तर सब्बत्थिवाद, आस्तिक निकाय के मतों के विरुद्ध, हाँ में देंगे। यह देहात्मवादी निकाय पीछे से वैभाषिक के रूप मे प्रकट होता है, जो सम्भवतः सायण के सर्वदर्शन-संग्रह* से अभिन्न है। निर्वाण के ३०० वर्ष पश्चात् कात्यायनीपुत्र ने ज्ञानप्रस्थान-शास्त्र का सङ्कलन किया। यह सर्वास्तिवादों का आधारभूत ग्रन्थ है। कनिष्क के समय में, इसी पुस्तक पर वसुमित्र और दूसरों ने इसी निकाय की महाविभाषा-शास्त्र नाम की एक बृहद् टीका रची, जिसके कारण वे समष्टि रूप से वैभाषिक कहलाये। कोई ४०० वर्ष पीछे पाँचवीं शताब्दी मे, वसुबन्धु ने अभिधर्मकोश-शास्त्र लिखा जिसमे उसने, महायान का अनुयायी होने के कारण, वैभाषिकों के विचारों का खण्डन किया। इस पर उसके समकालीन और पूर्व उपाध्याय, सर्वास्तिवाद-निकाय के सङ्घभद्र ने, अपने न्यायानुसार शास्त्र में कोश मे वर्णित मतों का खण्डन किया। परन्तु इन दोनों उपाध्यायों के पहले ही यह निकाय मध्य भारत मे घर बना चुका था। फ़ा-हिएन (सन् ३९९—४१४), जो भारत में विनय की पुस्तकों का संग्रह करने गया था, कहता है कि इस निकाय के अनुयायी पाटलिपुत्र और चीन में हैं और इसका विनय अभी लेखबद्ध नहीं हुआ। ह्यू न-त्साङ्ग के समय मे (सन् ६२९—६४५) इस निकाय का बहुत विस्तृत प्रचार जान पड़ता है। वह इससे सम्बन्ध रखनेवाले कोई तेरह स्थानों का उल्लेख करता है; उत्तरीय सीमा पर काशगर, उद्यान, और अन्य अनेक स्थान, पश्चिम में फ़ारस, मध्य भारत मे मतिपुर, कनौज, और

---

* सर्वदर्शनसंग्रह के रचयिता सायणाचार्य्य के बड़े भ्राता माधवाचार्य्य थे।—वेदव्यास।

राजगृह के निकट एक स्थान। तिब्बती विनय, जिसका अनुवाद सातवीं तथा तेरहवीं शताब्दियों के बीच हुआ, इस निकाय की कही जाती है, यद्यपि दुल्व (= विनय) का विश्लेषण वास्तव में इसे दशाध्याय-विनय के अधिक सदृश प्रकट करता है। यह शेषोक्त विनय, इ-त्सिङ्ग के कथनानुसार, ठीक सर्वास्तिवादों की ही पुस्तक नहीं। इ-त्सिङ्ग हमारे "वृत्तान्त" मे इस निकाय का भौगोलिक विस्तार देता है। यह मध्य और उत्तर भारत मे ख़ूब ज़ोरों पर था। दक्षिणी भारत मे इसके बहुत ही थोड़े अनुयायी थे और सिंहल में इसका सर्वथा अभाव था। सुमात्रा, जावा और इर्द-गिर्द के टापुओं में प्राय: सभी लोग इस निकाय के थे, और चीन में तो इसकी चारों उपशाखाएँ फैल रही थीं। चम्पा मे भी इसका चिह्न पाया जाता था। जहाँ तक हम जाँच सकते हैं, सातवीं शताब्दी के क्या पहले और क्या पीछे, सर्वास्तिवाद के समान और कोई भी दूसरा निकाय इतनी दूर-दूर तक नही फैला, चाहे ह्यू न-थ्साङ्ग के समय मे, अकेले भारत में इसके अनुयायियों की संख्या दूसरे निकायों के अनुयायियों के बराबर न थी।

निस्सन्देह इस निकाय का सम्बन्ध हीनयान से है, यद्यपि हमारा ग्रन्थकार स्पष्ट रूप से ऐसा नही कहता। वह सायण के दार्शनिक ग्रन्थ मे मिलनेवाले दो दर्शनों का, (नागार्जुन के) माध्यमिक* और (असङ्ग के) योगाचार्य का, उल्लेख करता है, और कहता है कि उस समय और उसके पहले भी केवल यही दो महायान थे। इ-त्सिङ्ग दोनों पराकोटि के यानों को, दोनों की सामान्य बातें दिखलाकर, जैसा कि उसी विनय और

---

* इस बौद्ध सम्प्रदाय के मध्यमक वृत्ति आदि कई ग्रन्थ रूस में छप चुके हैं। नैयायिक विद्वान् इनको पढ़कर नागार्जुन की प्रतिभा का आनन्द उठा सकते हैं।—भ० दत्त।

उन्हीं निषेधों का ग्रहण करना, एकतान करने का यत्न करता है। उसके अनुसार, दोनों में भेद बोधिसत्त्व की पूजा और महायान-सूत्र के पाठ का है। ये दोनों महायानवालों की विशेषताएँ हैं, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि महायान के संसर्ग में आने के बाद, अठारह निकायों में से कुछ ने उसकी रीति ग्रहण की, या, हर सूरत में, अपने दर्शनों के साथ-साथ उसके दर्शन का भी अध्ययन किया। इ-त्सिङ्ग के कथन से ऐसा जान पड़ता है कि एक निकाय एक स्थान में हीनयान से और दूसरे स्थान में वही महायान से सम्बन्ध रखता है; किसी निकाय का केवल हीन या केवल महायान से ही सम्बन्ध नहीं।

अठारह निकायों के मत-भेद के विषय में वह एक शब्द भी नहीं कहता, परन्तु उसके इस बात को विशेषरूप से कहने से कि मेरा "वृत्तान्त" केवल मेरे अपने ही निकाय के अनुसार है, किसी दूसरे के नहीं, हमें मालूम होता है कि दूसरे निकायों के मत अनमेल हैं। वह उनके अनुष्ठानों के भेद की कुछ क्षुद्र बातें देता है; जैसे, निवास-स्थानों की व्यवस्था, भिक्षा लेने अथवा वस्त्र ओढ़ने की रीतियाँ; यद्यपि वे मूलसर्वास्तिवाद-निकाय तथा दूसरे निकायों के बीच जुदाई की रेखा खींचने के लिए पर्याप्त नहीं।

इ-त्सिङ्ग के बौद्ध निकायों के वर्णन का परिणाम

(सन् ६७१—६९५)

(उसकी भूमिका)

चार मुख्य शीर्षकों के नीचे बौद्ध धर्म्म के अठारह निकायः—

१. आर्य महासङ्घिक निकाय।

 १. सात उपविभाग।

 २. त्रिपिटक ३००००० श्लोकों में।

३. इस पर मगध में आचरण होता है; थोड़े से लाट और सिंधु में; थोड़े से उत्तर और दक्षिण भारत में। पूर्वी भारत मे दूसरे निकायों के साथ-साथ। सिंहल में त्यक्त। दक्षिणी सागर के टापुओं (सुमात्रा, जावा इत्यादि) में पीछे से प्रविष्ट हुआ। शेन-सी (पश्चिमी चीन) में कुछ अनुयायी।

२. आर्य-स्थविर-निकाय।

१. तीन उपविभाग।

२. त्रिपिटक ३००००० श्लोकों में।

३. दक्षिण भारत मे प्रायः सभी का इससे सम्बन्ध है; मगध में इसका प्रचार है। सिहल में सभी इसको मानते हैं। थोड़े से लाट और सिंधु में। पूर्वी भारत मे दूसरे निकायों के साथ-साथ। (उत्तर भारत मे नहीं।) दक्षिणी सागर के द्वीपों में अभी थोड़ी देर से इसका प्रवेश हुआ। (चीन में नही)।

३. आर्यमूलसर्वास्तिवाद निकाय।

१. चार उपविभाग—

क. मूलसर्वास्तिवाद निकाय।

ख. धर्मगुप्त निकाय।

ग. महीशासक निकाय।

घ. काश्यपीय निकाय।

२. त्रिपिटक ३००००० श्लोकों मे।

३. मगध मे सबसे अधिक ज़ोरों पर; उत्तर भारत में प्रायः सबका सम्बन्ध इससे है। लाट, सिंधु और दक्षिणी भारत में थोड़े से। पूर्वी भारत में दूसरे के साथ-साथ। तीन

उपविभाग ख, ग, घ भारत विशेष में नहीं पाये जाते, परन्तु उद्यान, खरचर, और कुस्तन में कुछ अनुयायी हैं। (सिंहल मे नहीं।) दक्षिणी सागर के द्वीपों में प्राय: सब के सब इसी के हैं। चम्पा (कोचीन चीन) में थोड़े से। ख पूर्वी चीन मे और शेन-सी (पश्चिमी चीन) में पाया जाता है। क, ख, ग, घ यङ्ग-त्से-किअङ्ग के दक्षिण में, कङ्ग-तुङ्ग और कङ्ग-सी (दक्षिणी चीन) में फैले हुए हैं।

४. आर्य सम्मितीय निकाय।

१. चार उपविभाग।

२. त्रिपिटक २००००० श्लोकों मे; अकेली विनय ३०००० श्लोकों मे।

३. सबसे अधिक लाट और सिंधु में फैला हुआ। मगध में इसका प्रचार है। दक्षिणी भारत मे थोड़े से। पूर्वी भारत मे दूसरे के साथ-साथ। (उत्तर भारत मे नहीं।) (सिंहल मे नहीं।) दक्षिणी सागर के टापुओं मे थोड़े से। चम्पा (कोचीन-चीन) मे बहुत से अनुयायी। (चीन विशेष में नहीं)।

भारत तथा अन्य स्थानों मे निकायों की भौगोलिक बाँट—

भारत सामान्यरूप से—अठारह निकाय मौजूद हैं।

मध्य भारत—मगध; चारों निकायों का प्रचार है, परन्तु तीसरे का सबसे अधिक ज़ोर है (सिवाय उसके ख, ग, घ के)।

पश्चिमी भारत—लाट और सिन्धु; चौथे का सबसे अधिक प्रचार; १, २, ३ के थोड़े से।

उत्तर भारत—प्राय: सबका सम्बन्ध तीसरे से है; थोड़े से एक के (२, ४ नहीं पाये जाते।)

दक्षिणी भारत—प्रायः सबके सब २ के माननेवाले; थोड़े से दूसरे निकायों के।

पूर्वी भारत—१, २, ३, ४ साथ-साथ।

सिंहल—सब २ के माननेवाले; १ परित्यक्त है (३, ४ नहीं मिलते)।

सुमात्रा, जावा और उनके पड़ोसी द्वीप— प्रायः सबका सम्बन्ध ३ से है; कुछ ४ हैं; अभी थोड़े से १, २ के।

श्याम—हाल ही मे एक राजा के बौद्धों को पीड़ा देने के कारण इस समय बौद्ध धर्म बिलकुल नहीं।

पूर्वी चीन—३ का ख अच्छा फैल रहा है।

पश्चिमी चीन—शेन-सी; ३ के ख और १ के अनुयायी हैं।

दक्षिणी चीन—यङ्ग-त्से-किअङ्ग के दक्षिण, कङ्ग तुङ्ग, और कङ्ग-सी; सारा ३ (क, ख, ग, घ) अच्छा फैल रहा है।

महायान और हीनयान

सामान्यरूप से चीन महायान की है।

मलयु (= श्रीभोज), थोड़े से महायानी।

उत्तर भारत और दक्षिणी सागर के दस या अधिक द्वीप (सुमात्रा, जावा इत्यादि) सामान्यतः हीनयानी हैं।

भारत के शेष सब स्थान—दोनों यान पाये जाते हैं, अर्थात् कुछ एक के अनुसार आचरण करते हैं और कुछ दूसरे के अनुसार।

इ-त्सिङ्ग का जीवन-चरित और भ्रमण-वृत्तान्त

१—उसके लड़कपन से लेकर चीन से उसके प्रयाण तक।

इ-त्सिङ्ग तीन बड़े भारत-पर्यटकों मे से एक था। उसका जन्म

सन् ६३५ में फ़न-यङ्ग[1] में, ताई-त्सुङ्ग[2] के शासन-काल मे हुआ था। सात वर्ष की आयु में (सन् ६४२) वह उपाध्याय शन-यू और हुई-हूसी के पास गया। ये दोनों शन-तुङ्ग में ताई पर्वत पर एक मन्दिर में रहते थे। सम्भवतः इन उपाध्यायों ने उसे सामान्य चीनी साहित्य की प्रारम्भिक शिक्षा दी थी ताकि वह भिक्षु बन सके।

उसकी आयु अभी बारह ही वर्ष की थी (सन् ६४६) कि उसके उपाध्याय शन-यू की मृत्यु हो गई। इससे उसे बड़ा शोक हुआ। तब वह सांसारिक साहित्य के अध्ययन को एक ओर रख कर बुद्ध के पवित्र धर्म्मशास्त्र में लीन हो गया। चौदह वर्ष की आयु में उसे प्रव्रज्या मिल गई। वह कहता है कि अठारह वर्ष की आयु में (सन् ६५२) मैंने भारत-यात्रा का सङ्कल्प किया, परन्तु यह सङ्कल्प सैंतीसवें वर्ष (सन् ६७१) में जाकर पूरा हुआ। ऐसा जान पड़ता है कि इस कोई उन्नीस वर्ष के अन्तर मे उसने अपने युवा-काल की सारी शक्ति धर्म्म के अध्ययन मे लगा दी, ताकि सांसारिक साहित्य मे पड़ने से जीवन निष्फल न हो जाय।

बीस वर्ष की आवश्यक आयु मे उसे उपसम्पदा मिली। तब उसका कर्माचार्य, हुई-हूसी, मृत शन-यू का स्थान लेने के लिए उसका उपाध्याय बन गया। उसी दिन उसे बुद्ध के आर्य उपदेशों पर दृढ़ रहने का महत्व जतलाकर, और यह बताकर कि बुद्ध की शिक्षा के झूठे अर्थ किये जा रहे हैं, उपाध्याय ने उसे बड़े यत्न से शिक्षा दी। उसके उपाध्याय के वचन जीवन भर उसे पथ-प्रदर्शन करते

१—आधुनिक चो-चोऊ (मार्को पोलो का पेकिङ्ग के निकट जू जू), जो चि-लि प्रान्त का एक विभाग है।

२—सन् ६२७—६४६ तक शासन किया; चीनी में, ६३५ चेङ्ग-कुअन काल का नवाँ वर्ष है।

रहे होंगे, क्योंकि पीछे से जो कुछ उसने किया अथवा लिखा वह पूर्णरूप से उनके अनुरूप है।

उस घटना के बाद, अगले पाँच वर्षों में (सन् ६५४—६५८) वह एक मात्र विनय-पुस्तकों के अध्ययन में ही लगा रहा। उसने अपने काम मे बड़ी उन्नति की, और उसके उपाध्याय ने उस विषय पर उसे व्याख्यान देने के लिए आज्ञा दी। सच तो यह है कि एक अवसर पर वह अपने आपको, जहाँ तक उसके चीनी अध्ययन का सम्बन्ध है, 'विनय मे निपुण' कहता है।

विनय के उपरान्त वह बड़े सूत्रों का अध्ययन करने लगा। पहाड़ी विहार में रहते समय वह तेरह धूताङ्गों मे से कुछ का अनुष्ठान करता रहा। उपाध्याय के उभारने से वह अभिधर्म-पिटक से सम्बन्ध रखनेवाले असङ्ग के दो शास्त्रों का अध्ययन करने के लिए पूर्वी वेई[1] में गया। वहाँ से वह पश्चिमी राजधानी[2] मे गया, जहाँ उसने वसुबन्धु कृत अभिधर्म्म-कोश और धर्म्मपाल कृत विद्यामात्र-सिद्धि का और अध्ययन किया। अपने चङ्ग-अन में ठहरने के दिनों में उसने 'ह्यू न-श्साङ्ग का श्रेष्ठ उत्साह' और सम्राट् की विशेष आज्ञा से होनेवाली उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया भी सम्भवतः देखी होगी, क्योंकि उसका देहान्त इ-त्सिङ्ग के राजधानी में रहने के दिनों (सन् ६६४) में ही हुआ था।

कदाचित् ह्यू न-श्साङ्ग के महान् व्यक्तित्व और उसे मिलनेवाले सम्मान और यश के उकसाने से, इ-त्सिङ्ग ने चिरकाल से सङ्कलिपत अपनी भारत-यात्रा को पूरा करने का भारी यत्न किया; क्योंकि भारत उसके समय मे बौद्ध साहित्य का घर था। उसका चरित-लेखक बताता है कि इ-त्सिङ्ग वास्तव में ह्यू न-श्साङ्ग और फ़ा-हिएन

१—या येह, होनन में अब चङ्ग-तेह फ़ू।
२—सी-अन फ़ू या चङ्ग-अन, शेन-सी में।

का बड़ा प्रशंसक हो गया था। वह सन् ६७० तक अर्थात् स्वदेश से प्रयाण के पूर्व के वर्ष तक, राजधानी में रहा।

उसके भ्रमण-वृत्तान्त को पाठक कदाचित् उसके अपने शब्दों में ही सुनना पसन्द करेंगे, यद्यपि दुर्भाग्य से उसका लेख छोटा है।

२—उसकी भारत-यात्रा

मैं,[१] इ-त्सिङ्ग, ह्सिएन-हेङ्ग काल के पहले वर्ष (सन् ६७०) में पश्चिमी राजधानी (चङ्ग-अन) में, अध्ययन कर और व्याख्यान सुन रहा था। उस समय मेरे साथ पिङ्ग-पू निवासी, धर्म्म (Law) का उपाध्याय, चू-इ; लै-चोऊ निवासी, शास्त्र का उपाध्याय, हुङ्ग-इ, और दो-तीन दूसरे भदन्त थे; और हम सबने गृध्रकूट जाने का निश्चय किया, और भारत में बोधिद्रुम को देखने की इच्छा करने लगे। परन्तु चू-इ को उसके मोह ने पिङ्ग-चुअन (में उसके घर) की ओर वापस खींच लिया, क्योंकि उसकी माता बूढ़ी थी, और हुङ्ग-इ ने किअङ्ग-निङ्ग मे ह्यूएन-चन से मिलने पर अपना विचार सुखावती की ओर मोड़ा। ह्यूएन-कुएइ (जो दल में से एक था) कङ्ग-तुङ्ग तक आया; परन्तु उसने, दूसरों के सदृश ही अपना सङ्कल्प जो पहले बनाया था बदल डाला। इसलिए मुझे त्सिन-चोऊ के शन-हिङ्ग नामक एक युवा भिक्षु के साथ ही भारत के लिए प्रयाण करना पड़ा।

दिव्य भूमि (चीन) के मेरे पुराने मित्र इस प्रकार दुर्भाग्यवश मुझसे अलग होकर अपने-अपने रास्ते चले गये, परन्तु अभी तक भारत में एक भी नवीन परिचित मुझे नहीं मिला था। यदि मैं उस समय झिझकता तो मेरी इच्छा कभी भी पूरी न होती। मैंने चार प्रकार के दुःख की कविता का अनुकरण करते हुए दो श्लोक रचे[२]।

१—ता-तङ्ग-सी-यू-कु-फ़ा काओ-सेङ्ग-चुअन, दूसरा खण्ड।

२—चङ्ग-हेङ्ग (सन् ७८–१३९) विरचित एक पुरानी कविता।

अपने पर्यटन में मैं सहस्रों विश्राम-स्थानों में से गुज़रा,

शोक के बारीक तारों ने मेरे विचार को सौ गुना उलझन में डाल दिया।

इसका क्या कारण था, कृपया केवल मेरे शरीर की छाया को

भारत के पाँच खण्डों की सीमाओं पर फिरने दो ?

फिर अपने आपको धीरज देने के लिए;

एक अच्छा सेनापति शत्रुदल को रोक सकता है,

परन्तु मनुष्य के सङ्कल्प को हिलाना कठिन है।

यदि मैं एक छोटे से जीवन में दुःखित होने पर सदा उसकी चर्चा करता रहता हूँ, तो मैं दीर्घ असंख्य* काल को कैसे भर सकता हूँ ?

स्वदेश से प्रयाण करने के पहले मैं राजधानी (चङ्ग-अन) से अपने जन्म-स्थान (चो-चोऊ) को लौट आया। मैंने अपने अध्यापक, हुई-ह्सी, से इस प्रकार परामर्श माँगा :—'हे पूज्यदेव, मेरा सङ्कल्प लम्बी यात्रा पर जाने का है; क्योंकि, यदि मैं उसको देखूँगा जिससे मैं अभी तक परिचित नहीं हूँ, तो मुझे अवश्य बड़ा लाभ होगा। किन्तु आप पहले ही वयोवृद्ध हैं, इसलिए आप से परामर्श लिये बिना मैं अपने सङ्कल्प को पूरा नहीं कर सकता।' मेरे गुरु ने मुझे इस प्रकार उत्तर दिया :—'तुम्हारे लिए यह भारी अवसर है, यह दुबारा नहीं मिलेगा। (मैं तुम्हें निश्चय कराता हूँ कि) मुझे तुम्हारे ऐसी बुद्धिमत्ता से बनाये हुए सङ्कल्प को सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई है। यदि मैं (तुम्हें वापस आते देखने के लिए) पर्याप्त देर तक जीता रहा, तो तुम्हें प्रकाश को फैलाते देख कर मुझे हर्ष होगा। निःसङ्कोच होकर जाओ; पीछे रही हुई चीज़ों की ओर मुड़कर मत

---

* बोधिसत्व भूतदया आदि का अभ्यास करता हुआ तीन असंख्य कालों में से लाँघता है। इ-त्सिंग का संकेत इसी ओर है।

देखो। तुम्हारी तीर्थस्थानों की यात्रा को मैं निस्सन्देह पसन्द करता हूँ। इसके अतिरिक्त, धर्म्म की समृद्धि के लिए उद्योग करना एक बड़ा ही आवश्यक कर्त्तव्य है ! संशय को बिलकुल दूर कर दो !'

प्रयाण के पूर्व मैं अपने गुरु (शनायू) की समाधि पर पूजा करने तथा छुट्टी लेने गया। उस समय, समाधि-मन्दिर के इर्द-गिर्द के पेड़ पाले से हानिग्रस्त होने पर भी इतने बढ़ चुके थे कि प्रत्येक पेड़ को नापने के लिए एक हस्त लगेगा, और जङ्गली घासों ने समाधि-मन्दिर के आँगन को भर रक्खा था। यद्यपि प्रेत-लोक हम से छिपा हुआ है, तो भी मैंने उसका वैसे ही सन्मान किया मानो वह वहाँ उपस्थित था। इर्द-गिर्द घूमते तथा प्रत्येक दिशा मे दृष्टि करते हुए, मैंने अपनी यात्रा का सङ्कल्प सुनाया। मैंने उसकी आध्यात्मिक सहायता माँगी, और उस दयालु श्रेष्ठजन के मुझ पर किये हुए महोपकारों का बदला चुकाने की इच्छा प्रकट की।

हि्सएन-हेङ्ग काल के दूसरे वर्ष (सन् ६७१) मे मैंने यङ्ग-फू मे 'वर्ष' (वस्स) किया। शरत्काल के आरम्भ (सातवे मास) मे मुझे अकस्मात् एक राजदूत, कोङ्ग-चोऊ का फ़ेङ्ग-हि्सयाओ-चूअन, मिल गया; उसकी सहायता से मैं कङ्ग-तुङ्ग नगर में आया। यहाँ मैंने दक्षिण की यात्रा के लिए एक ईरानी जहाज़* के स्वामी से मिलने की तिथि निश्चित की। फिर उस सन्धिदूत का निमन्त्रण स्वीकार कर मैं कोङ्ग-चोऊ गया। अब वह मेरा दुबारा दानपति बना। उसके छोटे भाइयों, हिसयाओ-तन और हिसयाओ-चेन, ने जो कि

---

*इ-त्सिङ्ग के समय में ईरान, भारत, मलयद्वीपों और चीन के बीच जहाज़ आते जाते थे। मैं समझता हूँ इससे पहले नस्टोरियन पादरी, ओलोपूएन या एलोपन, के यात्रा-मार्ग का समाधान हो जाता है। यह चीन मे सन् ६३५ में गया था।

दोनों राजदूत थे, श्रीमती निङ्ग और पेन ने, उसके परिवार के सभी लोगों ने मुझे उपहार देकर अनुगृहीत किया।

उन्होंने मुझे बहुत बढ़िया प्रकार की वस्तुएँ और अत्युत्कृष्ट भोजन दिये; प्रत्येक अपना पूरा-पूरा यत्न करता था। इससे वे आशा करते थे कि मुझे समुद्र-यात्रा में किसी वस्तु की कमी न रहेगी, परन्तु वे डरते थे कि भयानक देश में मुझे कुछ कष्ट होंगे। उनका प्रेम मेरे माता-पिता के प्रेम के समान गम्भीर था। मुझ अनाथ को जिस वस्तु की इच्छा होती थी, वे झट मुझे दे देते थे। वे सब मेरा आश्रय या उपाय बन गये, और सबने मिलकर मुझे श्रेष्ठ भूमि (के दर्शन) के साधन दिये।

(पुण्य भूमि की) यात्रा के विषय में जो कुछ मैं कर सका वह सब फेङ्ग-परिवार की शक्ति के ही कारण है। इसके अतिरिक्त, लिन-वन के भिक्षुओं और सामान्य उपासकों को हमारे वियोग से दुःख हुआ; उत्तरीय प्रान्तों के सभी प्रतिभाशाली विद्वानों ने हमारे बिदाई लेने पर शोक मनाया, क्योंकि वे समझते थे कि वे हमें फिर नहीं देखेंगे।

इस वर्ष (सन् ६७१) के ग्यारहवें मास में हम यी और चेन* राशियों की ओर मुँह करके, और पन-यू (कङ्ग-तुङ्ग) को ठीक अपने पीछे रखकर, चल पड़े। कभी मेरा विचार सुदूर मृगदाव (काशी में) की ओर दौड़ता था, कभी (गया के निकट) कुक्कुटपदगिरि पर पहुँचने की आशा में मैं सुख-लाभ करता था।

इस समय पहली बरसाती हवा चलने लगी, और हमारा जहाज़, सौ हस्त लम्बे रस्सों को दो-दो† करके, ऊपर से लटका-

---

* यी = सर्प, Crater और Hydra मे बाईस तारे; चेन = कीड़ा, B, Y, S, E Corvus. Long. 170° 56′ 9″—187° 56′ 52″, अर्थात् दक्षिण के आसपास।

† 'मास्तूलो की उचित तैयारी के बाद।'

कर, लाल* दक्षिण की ओर चला। ची† राशि से हमारे अलग होने की ऋतु के आरम्भ में, नौकापटों का जोड़ा, जिनमें से प्रत्येक पाँच लम्बाइयों में था, काला उत्तर पीछे छोड़कर, उड़ गया। अथाह गहराई में से काटते हुए, पानी के बड़े-बड़े फुलाव, समुद्र पर पर्वत के सदृश हैं। खाड़ी की विस्तीर्ण धारा को तिरछी मिलाती हुई बड़ी-बड़ी लहरें, बादलों के सदृश, आकाश से टकराती हैं।

सवार हुए अभी बीस दिन नहीं हुए थे कि जहाज 'भोज' पहुँच गया। मैं वहाँ उतर गया और छः मास तक ठहरकर धीरे-धीरे शब्द-विद्या सीखता रहा। राजा ने मुझे कुछ आश्रय देकर मलयु देश को भेज दिया। यह अब श्रीभोज‡ कहलाता है।

---

* दक्षिण का रङ्ग लाल और उत्तर का काला माना गया है।

† ची V, S, E, B, Sagittaru = चित्रक राशि के लिए है। द्राघिमा २६८° २८′ १५″ इस राशि में वे तारे हैं जो आकाश में केवल उसी समय दिखाई देते हैं जब सूर्य दिङ्मण्डल के १६° या अधिक अंश नीचे होता है। इसलिए २०° अक्ष (केण्टन) के लिए उषाकाल में पहला सौर उदय (ortus heliacus) ८ फ़र्वरी के क़रीब, और अक्ष २०° के लिए, साँझ की सन्ध्या को, ११ दिसम्बर के क़रीब होता है। चान्द्र मास में ११ दिसम्बर का अनुरूप दिन ग्यारहवें मास की पहली के क़रीब होगा, क्योंकि यह प्रायः वह समय है जब कि ची राशि अन्तर्धान हो जाती है। इस समय तक उत्तर-पूर्व से पवन बहने लगता है, इसी से यह कहावत है—'ची हाओ फेङ्ग, पी हाओ यू', अर्थात् 'ची राशि पवन से और पी (वृषभराशि) वर्षा से प्रेम करती है'। इसका अर्थ यह है कि ये दोनों क्रमशः वायु और वर्षा को अपनी ओर खींचती हैं, और 'वायु उत्तर-पूर्व से, और वर्षा दक्षिण-पश्चिम से आती है।'

‡ यह इत्सिङ्ग की टीका है। इसलिए हमें भोज, राजधानी और श्रीभोज के देश (=मलयु) में पहचान करनी चाहिए, यद्यपि इ-त्सिङ्ग दोनों का उपयोग निर्विशेष रूप से करता है। इ-त्सिङ्ग की पुस्तक में टीकाएँ बहुधा भूल से, किसी दूसरे की, पीछे से लिखी हुई मानी जाती हैं। परन्तु इस बात की पुष्टि में हमारे पास कोई कारण नहीं। अपनी रचनाओं और अनुवादों

वहाँ मैं फिर दो मास ठहरकर 'क-च*' चला गया। यहाँ से मैंने बारहवें मास में यात्रा आरम्भ की, और फिर राजा के जहाज़ पर पूर्वी भारत के लिए चल दिया। क-च से उत्तर की ओर जाते हुए, दस से अधिक दिन तक चलने के पश्चात्, हम नग्न लोगों के देश में पहुँचे। पूर्व की ओर दृष्टि डालने पर, हमें एक-दो चीनी मीलों के विस्तार का तट दिखाई दिया। इस पर सरस और मनोहर नारियल के पेड़ों और सुपारी† के वनों के सिवा और कुछ न (दीखता) था। जब वहाँ के अधिवासियों ने हमारे पोत को आते देखा, तब वे बड़ी उत्सुकता से अपनी छोटी-छोटी नावों में सवार हो गये। उनकी संख्या पूरी सौ थी। वे सब नारियल, केले, और बेत तथा बाँस की बनी हुई वस्तुएँ लाये, और हमारी वस्तुओं के साथ उन्होंने उनकी अदला-बदली करनी चाही। जिस वस्तु के लेने की उन्हें उत्सुकता होती है वह केवल लोहा है। दो उँगली भर लोहे के टुकड़े के लिए आप उनसे दस-पाँच नारियल ले सकते हैं। पुरुष बिलकुल नंगे हैं, और स्त्रियाँ अपने शरीरों को कुछ पत्तों के साथ ढाँपती हैं। यदि व्यापारी लोग हँसी से उन्हें कपड़े देते हैं तो वे हाथ हिला देते हैं (कि) हम उनका उपयोग नहीं करते। मैंने सुना कि यह देश शू-चूअन की दक्षिण-पश्चिमी सीमा की दिशा में है। इस द्वीप में लोहा बिलकुल नहीं होता, सोना और चाँदी भी दुष्प्राप्य हैं। यहाँ के अधिवासी केवल नारियल (नालिकेर) और कन्द-मूल पर ही निर्वाह करते हैं;

के कठिन वचनों पर टीका देने की उसे आदत है। कुछ टीकाएँ ऐसी भी हैं जिन्हें केवल वही मनुष्य लिख सकता था जो भारत में रह चुका हो।

* क-च अवश्य नग्न लोगों के देश के दक्षिण में, एचिन सागर-तट पर किसी जगह होगा। यह संस्कृत का 'कच्छ' हो सकता है।

† मलय पि-नङ्ग से पिन-लङ्ग; संस्कृत पूग।

यहाँ चावल अधिक नहीं होता। इसलिए जिस वस्तु को वे सब से बहुमूल्य और महँगी समझते हैं वह 'लोह' है, जो कि इस देश मे लोहे का नाम है। ये लोग काले नहीं, और मध्यम क़द के हैं। वे बेत के बड़े सन्दूक़ बनाने मे निपुण हैं; दूसरा कोई देश उनकी बराबरी नहीं कर सकता। यदि कोई उनके साथ अदला-बदली करने से इन्कार करे तो वे कुछ विषाक्त बाण छोड़ते हैं, जिनका एक ही वार प्राणघातक सिद्ध होता है। यहाँ से उत्तर-पश्चिम की दिशा मे कोई आधा मास पोत-यात्रा करने पर हम ताम्रलिप्ति पहुँच गये। यह पूर्वी भारत की दक्षिण सीमा है। यह महाबोधि और नालन्द (मध्य भारत) से साठ योजन से अधिक है।

मैं हिसएन-हेङ्ग काल के चौथे वर्ष (सन् ६७३) के दूसरे मास के आठवें दिन वहाँ पहुँचा। पाँचवें मास मे मैंने पश्चिम की ओर चलना आरम्भ किया। मुझे यत्र-तत्र साथी मिल जाते थे।

मुझे ता-चेङ्ग-तेङ्ग (महायानप्रदीप)* पहली बार ताम्रलिप्ति में मिला। मैं एक वर्ष (का कुछ भाग) उसके पास ठहरा। यहाँ मैंने ब्रह्म-भाषा (संस्कृत) सीखी और शब्द-विद्या का अभ्यास किया। अन्ततः, मैं गुरु-तेङ्ग (ता-चेङ्ग-तेङ्ग) के साथ चल पड़ा, और वह मार्ग लिया जो सीधा पश्चिम को जाता है। कई सौ व्यापारी हमारे साथ मध्य भारत को आये।

महाबोधि विहार से दस दिन की यात्रा के अन्तर पर हमारे मार्ग में एक बड़ा पर्वत और दलदल आये; यह घाटी भयानक और

---

*- ह्यून-थ्साङ्ग का एक शिष्य। उसने द्वारवती (पश्चिमी श्याम), सिंहल, तथा दक्षिण भारत का पर्य्यटन किया और फिर ताम्रलिप्ति में आकर वह बारह वर्ष रहा। वह संस्कृत में निपुण था। इ-त्सिङ्ग उसके साथ नालन्द, वैशाली और कुशिनगर मे गया। उसका देहान्त कुशिनगर के परिनिर्वाण विहार में हुआ।

लाँघने के लिए कठिन है। यह आवश्यक है कि अनेक मनुष्यों की मण्डली के साथ यात्रा की जाय। अकेले जाना कभी ठीक नहीं। उस समय मुझ, इ-त्सिङ्ग, पर ऋतु के रोग का आक्रमण हुआ; मेरा शरीर थका हुआ और निर्बल था। मैंने व्यापारियों की मण्डली के पीछे जाने का यत्न किया, परन्तु, ठहर जाने और रोगी होने के कारण, उन तक पहुँचने में असमर्थ हो गया। यद्यपि मैं बहुत ज़ोर लगाता था और चलना चाहता था, पर पाँच चीनी मील चलने में भी मुझे सौ बार ठहरना पड़ता था। वहाँ नालन्द के कोई बीस भिक्षु थे, और उनके साथ पूजनीय तेङ्ग भी था। वे सब आगे चले गये थे। मैं ही अकेला पीछे रह गया था, और बिना किसी साथी के भयानक पगडण्डियों पर चल रहा था। साँझ के समय, जब सूर्य छिपनेवाला था, कुछ पहाड़ी लुटेरे प्रकट हुए। धनुष को खेंचे और उच्च स्वर से चिल्लाते हुए आकर वे मुझे क्रूर दृष्टि से देखने और एक-एक करके मेरा अपमान करने लगे। पहले उन्होंने मेरा ऊपर का चोला उतार लिया, और फिर नीचे के वस्त्र ले लिये। मेरे पास जितने कमर-बंद और बद्धियाँ थीं वे भी सब उन्होंने छीन लीं। वास्तव में, उस समय मैंने समझा कि इस संसार से मेरी अन्तिम विदाई का समय निकट आ गया है, और तीर्थ-स्थानों की यात्रा की मेरी कामना पूरी न होगी। यदि वे मेरे अङ्गों को अपने भालों की नोकों से चीर डालते तो मैं अपने चिरकाल से सोचे हुए मूल कार्य को कभी पूरा न कर सकता। इसके अतिरिक्त, पश्चिम के देश (भारत) में यह जन-श्रुति थी कि जब लोग किसी गौराङ्ग मनुष्य को पकड़ लेते हैं, तब वे उसे मारकर देवों को बलि चढ़ा देते हैं। जब मुझे इस कथा का विचार आया तब मेरा डर दुगुना हो गया। इस पर मैंने एक कीचड़ के बिल में घुसकर अपने सारे शरीर को कीच से मैला कर

लिया। मैंने अपने आप को पत्तों से ढक लिया। अब मैं एक लाठी के सहारे धीरे-धीरे चलने लगा।

उस दिन की साँझ हो गई, परन्तु विश्राम-स्थान अभी दूर था। रात की दूसरी घड़ी मे मैं अपने साथी-पथिकों के पास जा पहुँचा। मैंने स्पष्ट सुना कि पूजनीय तेङ्ग गाँव से बाहर निकलकर उच्च स्वर से मुझे पुकार रहा है। जब हम आपस मे मिले, तब उसने कृपापूर्वक मुझे एक चोला दिया। मैं एक छप्पड़ मे स्नान करने के पश्चात् गाँव मैं गया। उस गाँव से कुछ दिन तक उत्तर की ओर चलने पर, हम पहले नालन्द मे पहुँचे। वहाँ हमने मूलगन्ध कुटी का पूजन किया और हम गृध्रकूट पर्वत पर चढ़े। यहाँ हमने वह स्थान देखा जिस पर कपड़े लपेटे हुए थे। तत्पश्चात् हम महा-बोधि* विहार मे पहुँचे, और हमने (बुद्ध के) वास्तविक मुख-मण्डल की प्रतिमा का पूजन किया। मैंने शन-तुङ्ग के भिक्षुओं तथा उपासकों के दिये हुए मोटे और महीन रेशम के वस्त्र लेकर उनका, तथागत के परिमाण का, एक काषाय बनाया, और स्वयं अपने हाथ से इसे प्रतिमा पर चढ़ाया। पू के विनय गुरु ह्यू एन के मेरे हाथ भेजे हुए सहस्रों (छोटे-छोटे) छत्र मैंने उसकी ओर से चढ़ाये। त्साओ के ध्यान-गुरु अन-ताओ ने मुझे बोधि की प्रतिमा को पूजने के लिए कहा था, और मैंने उसके नाम से यह कर्तव्य पूरा किया।

तब एकाग्रचित्त होकर, सच्चे हृदय और सम्मान से, मैंने साष्टाङ्ग प्रणाम किया। पहले मैंने चीन के लिए कामना की कि

---

* बोधि वृक्ष के पास सिंहल के एक राजा ने बनवाया था। यह विहार थेरवाद का था, फिर भी महायान से लगा हुआ था। इसी बात से कदाचित् ह्यून-थ्साङ्ग को भूल हुई, जो सिंहल का सम्बन्ध दोनों यानों से बताता है। ह्यून-थ्साङ्ग के अनुसार भरुकच्छ और सुराष्ट्र का सम्बन्ध भी दोनों से था।

धर्म्म के प्रदेश (धर्मधातु) में सारे चेतन प्राणियों (हन-शिह = सत्त्व) मे चार प्रकार के लाभ खूब फैले। मैंने नाग-वृक्ष के नीचे पूज्य (बुद्ध) मैत्रेय से मिलने और सच्ची धार्मिक विधि के अनुसार चलने के निमित्त, ताकि मुझे वह ज्ञान प्राप्त हो जो जन्मों के अधीन नहीं, साधारण पुनर्योग की इच्छा की। मैं सभी पवित्र स्थानों में उनके पूजन के लिए गया; मैं एक घर के पास से गुज़रा जिसको (चीनी) 'फ़न-चङ्ग'* (वैशाली मे) कहते हैं, और कुशिनगर में पहुँचा। मैं प्रत्येक स्थान मे हृदय को भक्तिपूर्ण और स्वच्छ रखता था। मैं मृगदाव मे गया और कुक्कुटपदगिरि पर चढ़ा; और नालन्द विहार में (सम्भवत: सन् ६७५—६८५) दस वर्ष तक रहा।

चुई-कुङ्ग-काल के पहले वर्ष (सन् ६८५) में मैं भारत में वू-हिङ्ग से (नालन्द से छः योजन की दूरी पर एक स्थान मे) अलग हुआ।

धर्म्म-पुस्तकों को इकट्ठा करने के पश्चात्, मैंने वापस आने के लिए अपने चरण-चिह्नों पर पलटना आरम्भ किया। तब मैं ताम्रलिप्ति में लौट आया। वहाँ पहुँचने के पूर्व, मुझे एक बार फ़िर लुटेरों का एक बड़ा दल मिला। उनकी तलवारों से मैं अपने शरीर की रक्षा बड़ी कठिनता से कर सका, और इस प्रकार अपने प्राणों को सबेरे से साँझ तक सुरक्षित रख सका। तत्पश्चात् मैं वहाँ जहाज़

---

* फ़न-चङ्ग = 'दस हस्त वर्ग'। वैशाली में एक घर था जिसे बुद्ध के समकालीन विमलकीर्ति का कमरा कहा जाता है। वन-ह्यू एन-त्से ने, जो शिलादित्य के पास आने वाले दूत-समूह का प्रधान था, अपने वैशाली-प्रवास में इस घर को नापकर प्रत्येक ओर से दस हस्त पाया था (काश्यप)। इसी लिए पीछे से इसका नाम फ़न-चङ्ग हुआ, पीछे से प्रधान भिक्षु के रहने के प्रत्येक कमरे का यही नाम हो गया। अब कोई भी महन्त और विहार फ़न-चङ्ग कहलाता है।

में बैठा और क-चक्ष के पास से गुज़रा। जो भारतीय पुस्तकें मैं लाया वे ५०००० से अधिक श्लोकों की थीं। उनका यदि चीनी में अनुवाद किया जाय तो एक सहस्र से अधिक ग्रन्थ-खण्ड बनेंगे। इनको लिये हुए मैं अब भोज में बैठा हूँ।

स्थूल रूप से, भारत के मध्यदेश से सीमान्त भूमियों (प्रत्यन्तक) तक का अन्तर पूर्व में और पश्चिम में ३०० योजन से अधिक है। दक्षिण मे और उत्तर मे प्रत्यन्तक की दूरी ४०० योजन से अधिक है। यद्यपि मैंने स्वयं (सारी सीमाएँ) नहीं देखीं और (दूरी) नहीं जाँची, फिर भी मैं पूछताछ से जानता हूँ। ताम्रलिप्ति भारत की पूर्वी सीमा से चालीस योजन दक्षिण को है। वहाँ पाँच-छः विहार हैं; लोग धनवान् हैं। इसका सम्बन्ध पूर्वी भारत से है, और यह महाबोधि और श्रीनालन्द से कोई साठ योजन है। चीन को लौटते हुए हम इसी स्थान से जहाज़ में बैठते हैं। यहाँ से दक्षिण-पूर्व दिशा में दो मास तक चलने के पश्चात् हम क-च में आते हैं। इस समय तक भोज से वहाँ जहाज़ आ जाता है। यह बात प्रायः वर्ष के पहले या दूसरे मास में होती है। परन्तु सिंहल द्वीप जानेवालों को दक्षिण-पश्चिम दिशा में जाना पड़ता है। कहते हैं वह द्वीप ७०० योजन परे है। हम हेमन्त तक क-च मे ठहरते हैं, फिर जहाज़ पर दक्षिण की ओर जाते हैं, और एक मास के बाद मलयु के देश में पहुँचते हैं, जो अब भोज हो गया है; (इसके अधीन) कई राज्य हैं। पहुँचने का समय प्रायः पहले या दूसरे मास मे होता है। हम वहाँ ग्रीष्म के मध्य तक ठहरकर उत्तर की ओर जहाज़ मे चल देते हैं; कोई एक मास में हम कङ्ग-फू (कङ्ग-

~ वह यहाँ उतरा और उत्तर (तुखार या शूलि) के एक मनुष्य से मिला। उसने इसे बताया कि उत्तर में दो चीनी भिक्षु पर्यटन कर रहे हैं। (जिनको इ-त्सिङ्ग ने अपने ही मित्र समझा)। Chvannes p. 106.

तुङ्ग) पहुँचते हैं। इस समय तक वर्ष का पहला आधा भाग बीत जाता है।

जब हमें अपने (पूर्व) पुण्य-कर्मों की शक्ति की सहायता हो, तब यात्रा सब कहीं ऐसी ही सुगम और आनन्ददायक होती है मानो हम बाज़ार में से जा रहे हैं; परन्तु इसके विपरीत, जब हमारे पास कर्म का अधिक प्रभाव न हो तब, हमें विभीषिका की ऐसी ही सम्भावना होती है मानो (एक बालक) एक लेटने के घोंसले में हो। मैंने इस प्रकार संक्षेप से स्वदेश-मार्ग का वर्णन कर दिया है, और मुझे आशा है कि बुद्धिमान् अब भी अपने ज्ञान को और सुनकर बढ़ायँगे।

दक्षिणी सागर के द्वीपों के अनेक राजा और राना (बौद्ध धर्म्म की) प्रशंसा करते तथा (उसमे) विश्वास रखते हैं, और उनके हृदय पुण्य-कर्मों के उपार्जन मे लगे हुए हैं। भोज के दुर्ग-बन्द नगर में बौद्ध भिक्षुओं की संख्या १००० से अधिक है। उनके मन शिक्षा-प्राप्ति तथा उत्तम अनुष्ठानों पर झुके हुए हैं। वे सभी वर्तमान विषयों की खोज तथा उनका अध्ययन उसी प्रकार करते हैं जैसे कि मध्यभारत मे होता है; नियमों और प्रक्रियाओं में कुछ भी भेद नहीं। यदि कोई चीनी भिक्षु (व्याख्यान) सुनने और (मूल पुस्तकों को) पढ़ने के लिए पश्चिम (भारत) जाना चाहता है, तो उसके लिए यह अच्छा होगा कि वह यहाँ एक दो वर्ष ठहरकर विशेष नियमों का अभ्यास करे, और फिर मध्य भारत को जाय।

भोज नदी के मुहाने पर मैं (व्यापारी के द्वारा) कङ्ग-चोऊ (कङ्ग-तुङ्ग) को विश्वास-पत्र के रूप में चिट्ठी भेजने, (अपने मित्रों को) मिलने; और काग़ज़ तथा स्याही की टिकियाँ माँगने के लिए, जो ब्रह्म-भाषा में सूत्रों की नक़ल करने के लिए वरती जाती हैं, और

भाड़े पर लेखक लेने को साधन (व्यय) माँगने के लिए जहाज़ पर गया। ठीक उस समय व्यापारी ने वायु को अनुकूल पाया, और वात-वस्त्रों को पूर्णरूप से ऊँचा कर दिया। इस प्रकार मुझे वापस ले जाया गया, (यद्यपि मेरी स्वयं स्वदेश जाने की इच्छा न थी)। यदि मैं ठहर जाने के लिए कहता भी, तो ऐसा करने के लिए कोई साधन न था। इससे मैं देखता हूँ कि कर्म का प्रभाव ही (हमारी गति को) ढाल सकता है, इसका उपाय करना हम मानवों के हाथ नहीं। युङ्-चङ्ग काल के पहले वर्ष (सन् ६८९) के सातवे मास के बीसवें दिन हम कङ्-फू पहुँचे। यहाँ मुझे फिर सब भिक्षु और उपासक मिले। तब चिह-चिह के मन्दिर में सभा के बीच मैंने निःश्वास छोड़कर कहा—"मैं पहले पश्चिम के देश (भारत) मे (धर्म्म के) प्रचार तथा प्रसार की आशा से गया था; मैं वापस आकर दक्षिणी सागर के टापू में ठहर गया। अभी तक कुछ पुस्तकों की कमी है, यद्यपि जो कुछ मैं (भारत से) लाया और भोज मे छोड़ आया हूँ उसकी संख्या त्रिपिटक के ५०००० श्लोक हैं। इस अवस्था में मेरा वहाँ एक बार फिर जाना आवश्यक है। मेरी आयु पचास से ऊपर (पचपन) हो चुकी है; दौड़ती हुई लहरों को एक बार फिर पार करते हुए, दरारों* मे से लाँघनेवाले घोड़े न ठहर जायँ, और मेरे शरीर की दुर्गप्राचीर की रक्षा करना कठिन हो। यदि प्रातःकाल की ओस (के सूखने) का समय अकस्मात् आ जाय तो वे पुस्तकें किसके सिपुर्द की जायँगी?

'पवित्र धर्म्म-शास्त्र वास्तव मे एक महत्त्वपूर्ण वाद है। तब मेरे साथ कौन चलकर इसे सँभाल सकता है? (पुस्तकों का) अनुवाद

* चीनी की एक विचित्र उपमा :—'मानव जीवन ऐसी शीघ्रता से बीतता है जैसे एक सफ़ेद बछेरा एक दरार में से लाँघता है।'

करने के लिए जैसी (शिक्षाएँ उनमें) हम पाते हैं हमें एक योग्य व्यक्ति का प्रयोजन है।'

सभा ने एक मत होकर मुझे कहा—'यहाँ से निकट ही चेङ्ग-कू (सालगुप्त) नाम का एक भिक्षु है। उसने चिरकाल तक विनय-सिद्धान्त का अध्ययन किया है; बहुत छोटी आयु से ही उसने अपने आपको निर्दोष और स्वच्छ रक्खा है। यदि आपको वह मनुष्य मिल जाय तो वह आपका एक उत्तम साथी सिद्ध होगा।' ज्योंही मैंने ये शब्द सुने, मैंने समझा कि सम्भवतः वह मेरी आवश्यकता को पूरा कर देगा। इस पर मैंने पर्वत के मन्दिर में उसके पास एक पत्र भेजा, जिसमे यात्रा की तैयारी का स्थूल रूप से वर्णन किया। उसने तब मेरा पत्र खोला; उसको देखकर उसने मेरे साथ आने का शीघ्र ही सङ्कल्प कर लिया। तुलना के लिए (कह सकते हैं कि), लियाओ-तुङ्ग* नगर पर एक ही धावे ने तीन सेनापतियों के वीर हृदयों को तोड़ डाला, या हिमालय पर्वत से (या, के विषय मे) एक छोटे-से श्लोक ने महर्षि के गम्भीर निश्चय को खींच लिया। उसने शान्त नदियों और देवदारु के वनों को, जिन में वह रहता था, सहर्ष छोड़ दिया; उसनें 'पाषाण द्वार' की पहाड़ी (कङ्ग-तुङ्ग के उत्तर-पश्चिम में, शिह-मेन) के सामने अपनी बाँहों को समेटा, और 'राजाज्ञा' के मन्दिर (चिह-चिह) में अपना अञ्चल ऊपर को उठाया। हमने अपनी छोटी छतरी झुकाई (और कन्फ्यूशस के सदृश मित्र-भाव से बातें कीं); क्योंकि हम दोनों ने अपने पाँचों अङ्ग (धर्म्म को) दे दिये थे, इसलिए (हमारी मित्रता यहाँ तक बढ़ गई कि) हमने (एक दूसरे के सामने) अपने हृदय खोल दिये, मानों पूर्वकाल से ही (मित्र हों)। यद्यपि अपने सारे जीवन में

---

* लियाओ-तुङ्ग और हिमालय तो प्रसिद्ध है, परन्तु मैं यह नहीं बता सकता कि उसका सङ्केत यहाँ किस घटना की ओर है।

मैंने पहले उसे कभी नहीं देखा था, परन्तु मैंने देखा कि मुझे अकस्मात् ठीक वैसा ही मनुष्य मिल गया है जिसकी मुझे आवश्यकता है। एक निर्मल रात को हम दोनों ने गम्भीरता-पूर्वक अपने भावी कार्य पर विचार किया। तब चेङ्ग-कू ने मुझे कहा :—'जब भलाई भलाई से मिलना चाहती है तब वे बिना किसी माध्यम के आपस मे मिल जाती हैं, और जब समय परिणत होनेवाला होता है तब—चाहे लोग चाहें भी—इसे कोई ठहरा नहीं सकता। तब क्या मैं आपके साथ हमारे त्रिपिटक का प्रचार करने, और (भविष्य के लिए) एक सहस्र दीपक जलाने में सहायता देने का सच्चे हृदय से प्रस्ताव करूँ ?' तब हम मन्दिर के प्रधान, किएन, और दूसरों से बिदाई लेने के लिए फिर हिसया पर्वत पर गये। किएन जानता था कि ठीक समय पर क्या करना चाहिए और उसने उसके अनुसार ही आचरण किया। उसकी इच्छा हमे अपने पास और अधिक अटका रखने की कभी न होती थी। जब हमने उसे देखा और जो कुछ सोच रक्खा था उसे बताया, तब उसने हमे सहायता दी और सब पसन्द किया। उसे अपनी आवश्यकताओं की कभी चिन्ता न होती थी; वह सदा दूसरों को सहायता देने मे ही तत्पर रहता था। उसने, हमारे साथ ही, यात्रा की तैयारी कर ली ताकि हमें किसी बात की कमी न रहे। इसके अतिरिक्त, कङ्ग-तुङ्ग के सभी भिक्षुओं और उपासकों ने हमें आवश्यक वस्तुएँ दीं।

तब वर्ष (सन् ६८९) के ग्यारहवें मास के पहले दिन हम एक व्यापारी-पोत में चल पड़े। पन-यू से चलकर लम्बी समुद्र-यात्रा के पश्चात् भोज मे पहुँचने के विचार से हम चम्पा* की दिशा में

---

* ओडोरिक (कोई सन् १३२३) का ज़म्पा; मार्को पोलो (सन् १२८८) का चम्बा। संस्कृत चम्पा।

गये, ताकि हम सब प्राणियों के लिए सीढ़ियाँ, या, उन्हें दुःख-सागर से पार ले जाने के लिए, नौकाएँ बन जायँ। हमें अपने सङ्कल्पों को यथासम्भव शीघ्र ही पूरा करने की प्रसन्नता थी, और साथ ही हमें आशा थी कि हम अपनी यात्रा के मध्य में नहीं गिर पड़ेंगे।

[चेङ्ग-कू, ताओ-हुङ्ग और दो और भिक्षु इ-त्सिङ्ग के पीछे गये। उन्होंने भोज में तीन वर्ष सूत्रों का अध्ययन किया; ताओ-हुङ्ग उस समय (सन् ६८६ मे) बीस वर्ष का, और, जब इ-त्सिङ्ग ने 'वृत्तान्त' लिखा, तेईस वर्ष का था।]

मैं, इ-त्सिङ्ग, श्रीभोज में ता-त्सिन से मिला (जो वहाँ सन् ६८३ मे आया था)। मैंने उससे प्रार्थना की कि पश्चिम (भारत) मे एक मन्दिर बनाने के लिए राजानुग्रह माँगने स्वदेश जाओ। जब उसने देखा कि (यदि मेरी प्रार्थना स्वीकार हो गई तो) बहुत बड़े लाभ होंगे, तब ता-त्सिन ने अपने प्राणों की कुछ भी परवा न करके विस्तृत महासागर को फिर से पार करना स्वीकार कर लिया। तिएन-शोऊ काल के तीसरे वर्ष (सन् ६९२) के पाँचवें मास के पन्द्रहवे दिन चङ्ग-अन (सि-अन-फू) को वापस लौटने के लिए वह एक व्यापारी-पोत मे बैठा। अब मैं उसके पास अनेक सूत्रों तथा शास्त्रों का नया अनुवाद दस ग्रन्थ-खण्डों में, 'नन-है-चि-कुएइ-नै-फ़ा-चुअन' (यह वृत्तान्त) चार ग्रन्थ-खण्डों में, और 'ता-तङ्ग-सि-यू-कू-फ़ा-काओ-सेङ्ग-चुअन, (वृत्तान्त) दो ग्रन्थ-खण्डों में भेज रहा हूँ।

३—उसका स्वदेश में प्रत्यागमन, उसकी मृत्यु तक

उसके जीवन-चरित से पता लगता है कि इ-त्सिङ्ग पचीस वर्ष मेसन् ६७१–६९५) विदेश में रहा और उसने तीस से अधिक देशों (पर्यटन किया, और वह तिएन-होऊ (Tien-hou) (राज्यापहारी

सम्राज्ञी, सन् ६८४-७०४) के चेङ्ग-शेङ्ग-काल के पहले वर्ष (सन् ६९५) में मध्य ग्रीष्म मे चीन मे वापस आया; इसके अतिरिक्त, वह अपने साथ बौद्ध पुस्तकों के कोई चार सौ भिन्न-भिन्न मूल, ५००००० श्लोक, और बुद्ध के वज्रासन की वास्तविक कल्पना स्वदेश को लाया।

सन् ७००—७१२ मे इ-त्सिङ्ग ने २३० भागों में ५६ ग्रन्थों का अनुवाद किया, यद्यपि उनमे से कुछ पहले के थे। इन ग्रन्थों में अनेक महत्त्व के सूत्र और शास्त्र हैं, परन्तु यह जानने के लिए कि उसने मूल सर्वास्तिवाद-निकाय को, जिसके साथ हमारे "वृत्तान्त" का विशेष रूप से सम्बन्ध है, किस प्रकार दिखलाया, यहाँ नीचे केवल विनय-पुस्तकों का दे देना ही पर्याप्त होगा:—

क. इण्डिया ऑफिस संग्रह

१. संख्या १११० मूलसर्वास्तिवाद—विनय—सूत्र, १ भाग।
२. " १११८ " —विनय, ५० भाग।
३. " ११२१ " —सम्युक्तवस्तु, ४० भाग।
४. " ११२३ " —सङ्घभेदक-वस्तु, २० भाग।
५. " ११२४ " —भिक्षुणी-विनय, २० भाग।
६. " ११२७ " —विनय-संग्रह, १४ भाग।
७. " ११३१ " —एकशतकर्मन्, १० भाग।
८. " ११३३ " —निदान, ५ भाग।
९. " ११३४ " —मातृका, ५ भाग।
१०. " ११४० " —विनय-निदान-मातृका-गाथा (१५ पत्ते)।
११. " ११४१ " —सम्युक्त-वस्तु गाथा (१० पत्ते)।
१२. " ११४३ " —विनय-गाथा, ४ भाग।
१३. " ११४९ " —भिक्षुणी-विनय-सूत्र, २ भाग।

ख. उपर्युक्त के अतिरिक्त बोडलियन (Bodleian) लायब्रेरी संग्रह

१४. संख्या (१) मूलसर्वास्तिवाद-प्रव्रज्या (-उपसम्पदा-)वस्तु, ४ भाग।
(तुलना कीजिए महावग्ग, खन्धक १)

१५. " (२) मूलसर्वास्तिवाद-वर्षावास-वस्तु, १ भाग।
(तुलना कीजिए महाव० खंध० ३)

१६. " (३) मूलसर्वास्तिवाद-प्रवारण-वस्तु, १ भाग।
(तुलना कीजिए, महावग्ग, खंधक ४)

१७. " (४) मूलसर्वास्तिवाद-चर्म-वस्तु, १ भाग।
(तुलना कीजिए महावग्ग, खन्धक ५)।

१८. " (५) मूलसर्वास्तिवाद-भैषज्य-वस्तु, १८ भाग।
(तुलना कीजिए महावग्ग, खन्धक ६)।

१९. " (६) मूलसर्वास्तिवाद-कठिनचीवर-वस्तु, १ भाग।
(तुलना कीजिए महावग्ग, खन्धक ७)।

इस प्रकार उसने अपने निकाय से सम्बन्ध रखनेवाले विनय की सारी पुस्तकों को दिखलाया, और चीन में बौद्ध-साहित्य की इस शाखा के अध्ययन के लिए एक नवीन सम्प्रदाय की स्थापना की। सन् ७१३ में उनासी वर्ष की आयु मे उसका देहान्त हो गया। उसके समकालीन सम्राट् चुङ्ग-त्सुङ्ग ने, अपनी त्रिपिटक-नामावली की भूमिका मे, उसके ग्रन्थों की बडी प्रशंसा की है।

कुछ भौगोलिक नामों पर टीका

१—नग्न लोगों का देश

इ-त्सिङ्ग जहाज़ में भारत को जाते समय इस द्वीप से गुज़रा। यह क-च से उत्तर मे दस दिन की दूरी पर है, और उत्तर दिशा में अवस्थित छोटे निकोबार द्वीपों में से एक की ओर इसकी नोक है।

इ-त्सिङ्ग का दिया हुआ वर्णन इन द्वीपों के पीछे के कुछ वृत्तान्तों से इतना अधिक मिलता है कि हम उसके 'लो-जेन-कुओ' को वर्तमान निकोबार से अभिन्न समझने मे पूर्णरूप से सचाई पर हैं। यह द्वीपसमूह नवीं शताब्दी के अरब नाविकों का लञ्जबालूस या लङ्ग-बालूस माना जाता है। उन्होंने इस प्रकार लिखा है:—'ये द्वीप पुष्कल जनता का पोषण करते हैं। पुरुष और स्त्रियाँ दोनों नंगे फिरते हैं, केवल स्त्रियाँ पेड़ों के पत्तों का कटिबन्ध पहनती हैं। जब कोई पोत पास से लांघता है तब पुरुष विविध परिमाणों की नावों मे बाहर आते हैं और भूरे रङ्ग की तृणमणि (ambergris) और नारियल देकर लोहा ले जाते हैं*।' तेरहवीं शताब्दी मे मार्को-पोलो का वर्णन वैसी अच्छी तरह से नहीं मिलता जैसा कि ऊपर का। वह कहता है:—'जब तुम जावा के टापू (छोटा जावा = सुमात्रा) और लम्बरी राज्य को छोड़कर जहाज़-द्वारा उत्तर की ओर कोई १५० मील चलते हो, तब तुम दो द्वीपों में आते हो, जिनमें से एक "नेकूवेरन (या नेकौरन) कहलाता है†। इस द्वीप में लोगों का न कोई राजा है और न कोई मुखिया, और वे पशुओं के सदृश रहते हैं। मैं आपसे कहता हूँ कि वे, क्या स्त्रियाँ और क्या पुरुष, सब नंगे फिरते हैं, और किसी प्रकार के हलके से आच्छादन का भी प्रयोग नहीं करते। वे मूर्ति-पूजक हैं; वहाँ सब

---

* Colonel Yule, Marco Polo, vol. II, chap. xii, p. 289 seg; Relation des Voyages faits par les Arabes et les Persans dans I' Inde et a la Chine, dans le IXsiecle de l'ere Chretienne, by Reinaud, tom. i. p 8.

† रशीदुद्दीन नाकवारम (लाकवारम नहीं) के नाम का प्रयोग करता है; जो इस नाम का कम भ्रष्टरूप हो सकता है। कदाचित् यह ह्यू न-त्साङ्ग का नालिकेर-द्वीप हो। यूल महाशय का भी यही मत है।

प्रकार के सुन्दर और मूल्यवान पेड़ हैं, जैसा कि रक्त चन्दन, सुपारी, लौंग; ब्राज़ील, लकड़ी, और कई एक अन्य उत्तम गरम मसाले होते हैं।'

ऊपर के दो वर्णन और इ-त्सिङ्ग का वर्णन अवश्य एक ही द्वीप के हैं, यद्यपि इ-त्सिङ्ग उसका कोई नाम नहीं देता। ऐसा जान पड़ता है कि यह 'लो-जेन-कुओ' नाम से पुकारा जाता था। त'अङ्ग (सन् ६१८—९०६) के इतिहास में निकोबार द्वीपसमूह 'राक्षस-भूमि' कहलाता था।

२—दक्षिणी सागर के द्वीप

इ-त्सिङ्ग जिन्हें दक्षिणी सागर के टापू (Islands of the Southern Sea) कहता है उनको हमे दक्षिण समुद्र-द्वीपों (South Sea Islands) के साथ गड़बड़ न कर देना चाहिए। 'नन- है' परिभाषा से तात्पर्य दक्षिणी चीन-समुद्र या मलय द्वीपपुञ्ज है, और इ-त्सिङ्ग इसमें सुमात्रा, जावा, और उस समय के अवगत पड़ोसी द्वीपों का अन्तर्भाव करता है। वह बताता है कि दस से अधिक देश हैं और सब बुद्ध-धर्म्म के प्रभाव के अधीन हैं। दक्षिणी सागर के द्वीप ये हैं:—

१. पो-लू-शि द्वीप; पूलूशिह।
२. मो-लो-यू देश; मलयू, या शिह-लि-फ़ो-शिह देश; श्रीभोज।
३. मो-हो-हि्सन द्वीप; महासिन।
४. हो-लिङ्ग द्वीप, या पोलिङ्ग; कलिङ्ग।
५. तन-तन द्वीप; नतुन
६. पेन-पेन द्वीप; पेम-पेन।
७. पो-लि द्वीप; बलि।
८. कु-लुन द्वीप (K'u-lun); पूलो कण्डोर (Pulo Condore)
९. फ़ो-शिह-पू-लो द्वीप; भोजपुर।

१०. अ-शन द्वीप, या ओ-शन ।

११. मो-चिया-मन द्वीप; मचमन ।

और भी अनेक द्वीप हैं जिनका यहाँ उल्लेख नहीं हुआ ।

ग्रन्थकर्त्ता के अनुसार, उपर्युक्त ग्यारह द्वीप पश्चिम से गिने गये हैं। हम इस क्रम का अनुसरण करते हुए, यथासम्भव, प्रत्येक का स्थान निश्चित करने का यत्न करेंगे ।

१—पो-लू-शि (पूलूशिह)

पो-लू-शि पहले पहल बरूसी इन्सुली (Barussae Insulae) को दिखलाता जान पड़ेगा, जो कि श्रीयुत लेस्सन के मानचित्र (Lassen's map) में, भारतीय महासागर में अण्डेमान द्वीपों का एक समूह है , परन्तु इ-त्सिङ्ग का सङ्केत इतनी दूर के किसी टापू की ओर नहीं जान पड़ता, क्योंकि वह कहता है कि कोरिया देश के दो श्रमण जहाज़ द्वारा, श्रीभोज के पश्चिम में, पो-लू-शि देश को गये और वहाँ रुग्ण होकर मर गये । अध्यापक चवेनस (Prof. Chavannes) को 'त-'अङ्ग के इतिहास' में 'लङ्ग-पो-लोऊ-से' नाम का एक देश मिला है, जो कि शिह-लि-फ़ो-शिह का पश्चिमी भाग कहा जाता है, और हमारे पो-लू-शि तथा मार्को पोलो के फ़ुर्लक (= पर्लाक) से, जो कि वर्तमान वज्र-विन्दु (Diamond Point) है, अभिन्न समझा जाता है । उसकी पहचान ठीक जान पड़ती है, क्योंकि श्रीभोज का देश त'अङ्ग वंश (सन् ६१८—९०६) के समय में मलका के सागर-तट तक फैला हुआ था ।

२—मो-लो-यू (मलयू) या शिह-लि-फ़ो-शिह (श्रीभोज)

श्रीभोज हमारे ग्रन्थकर्त्ता के समय में एक बड़ा समृद्ध देश जान पड़ता है । वह वहाँ दो बार गया, और कोई सात वर्ष (सन् ६८८—

६९५) ठहरकर उसने संस्कृत या पाली के मूल ग्रन्थों का अध्ययन तथा अनुवाद किया। अपने ग्रन्थों में वह 'भोज' या 'श्रीभोज' नाम का प्रयोग निर्विशेष रूप से करता है। ऐसा जान पड़ता है कि इस देश की राजधानी पहले से भोज कहलाती थी। यह सम्भवतः जावा का एक उपनिवेश था। जब राज्य बड़ा होकर मलयू तक फैल गया तब सारे देश तथा राजधानी दोनों का नाम श्रीभोज पड़ गया। मलयू नाम का श्रीभोज में परिवर्तन ज़रूर इ-त्सिङ्ग के समय के कुछ ही पहले या उसके वहाँ निवास के दिनों मे हुआ होगा, क्योंकि जब कभी वह मलयू का उल्लेख नाम से करता है तब वह साथ ही कहता है कि 'यह अब श्रीभोज या भोज मे परिवर्तित हो गया है।'

इन नामों का उल्लेख सबसे पहले हमारे ग्रन्थकर्त्ता ने किया है, इसलिए उसका वर्णन इस योग्य है कि उसकी सावधानी से परीक्षा की जाय। इस 'वृत्तान्त' (record) और 'स्मरण लेख्य' (Memoirs) में हमें ये बातें मिलती हैं:—

१. राजधानी भोज, भोज नदी पर थी। यह चीन के साथ व्यापार की एक बड़ी मण्डी थी। एक ईरानी व्यापारी भोज और कङ्ग-तुङ्ग के बीच नियमपूर्वक पोत चलाया करता था।
२. कङ्ग-तुङ्ग से भोज की दूरी अनुकूल पवन होने पर कोई बीस दिन की, और कभी-कभी एक मास की थी।
३. मलयू, जिसका नया नाम श्रीभोज था, राजधानी भोज से पन्द्रह दिन की समुद्र-यात्रा थी, और मलयू से क-च भी पन्द्रह दिन की दूरी पर था,—इसलिए मलयू दोनों स्थानों के ठीक मध्य में है।
४. श्रीभोज का देश पुलूशिह के पूर्व मे था

५. भोज के राजा के पास, सम्भवतः व्यापार के लिए, पोत थे, जो भारत और भोज के बीच चलते थे।

६. भोज का राजा तथा पड़ोस के राज्यों के शासक बौद्ध धर्म्म के पक्षपाती थे।

७. दक्षिणी सागर के द्वीपों मे यह राजधानी बौद्ध-विद्या का केन्द्र थी, और वहाँ एक सहस्र से अधिक श्रमण थे।

८. बौद्ध धर्म्म मुख्यतः हीनयान था जिसका बड़ा प्रतिनिधि मूलसर्वास्तिवाद निकाय है। सम्मितीय के अतिरिक्त, दो और निकायों का नया प्रवेश हुआ था। थोड़े से महायानी लोग मलयू (= नवीन श्रीभोज) में थे।

९. सुवर्ण प्रचुर जान पड़ता है। इत्सिङ्ग एक बार श्रीभोज को 'चिन-चोऊ' स्वर्ण द्वीप कहता है। लोग बुद्ध को सोने का कमल-फूल चढ़ाया करते थे। उनके पास सोने के बर्तन और सोने की प्रतिमाएँ थीं।

१०. लोग कन-मन (एक लम्बा कपड़ा) पहनते थे।

११. अन्य उपजें ये थीं:—पिन-लङ्ग (मलय० पिनङ्ग, संस्कृत पुग), जातीफल, लवङ्ग, और कर्पूर। वे सुगन्धित तैल का प्रयोग करते थे। इन स्थानों के लोग पौधों (या वृक्षों) के रस को उबालकर शक्कर के गोले बनाते हैं, और श्रमण लोग विविध समयों में उन्हें खाते हैं, परन्तु भारतीय लोग चावल से शक्कर बनाते हैं, और 'पाषाण-मधु' बनाने के लिए वे दूध और तेल का प्रयोग करते हैं (नञ्जियों का सूचीपत्र, सं० ११३१, खण्ड १०, पृष्ठ ७२)।

१२. श्रीभोज के देश में, आठवें मास के मध्य में और वसन्त (दूसरे मास) के मध्य में, धूप-घड़ी की कोई छाया नहीं पड़ती, और दुपहर के समय खड़े मनुष्य की कोई परछाईं

नहीं होती। सूर्य वर्ष में दो बार ठीक सिर के ऊपर से गुज़रता है।

१३. भाषा 'कुन-लुन' कहलाती थी।

शिह-लि-फ़ो-शिह यद्यपि अज्ञात नहीं, पर चीनी ऐतिहासिकों ने सन्तोषजनक रीति से इसका वर्णन नहीं किया। ऐसा जान पड़ता है कि यह नाम इ-त्सिङ्ग के पीछे के बौद्ध लेखकों को बहुत परिचित था। त'अङ्ग के इतिहास (सन् ६१८—९०६) में लिखा है कि फ़ोशिह (=भोज) मलक्का सामुद्रधुनी के दक्षिणी तट पर हो-लिङ्ग (=जावा) से चार-पाँच दिन की दूरी पर है। फिर सुङ्ग (सन् ९६०—१२७९) के इतिहास मे दक्षिण सागर में सन-बो-त्साई (सन-फ़ो-ची) नाम का एक देश लिखा है, जो सम्भवतः इ-त्सिङ्ग का शिह-लि-फ़ो-शिह (=श्रीभोज) है। इसका वर्णन इस प्रकार है:—

'सन-बो-त्साई का राज्य दक्षिणी बर्बरों का है। यह कम्बोज (चेन-ला) और जावा (शे-पो) के बीच अवस्थित है और पन्द्रह भिन्न-भिन्न राज्यों (States) पर शासन करता है। इसमे बेत (rattan), लाल कीनो (kino), एलवा (Lignum aloes), सुपारी (पीन-लङ्ग), और नारियल होते हैं। वे ताँबे की मुद्रा का प्रयोग नहीं करते, किन्तु उनकी रीति सोने और चाँदी के साथ सब प्रकार की वस्तुओं का वाणिज्य करना है। ऋतु बहुधा गरम रहती है, और शीतकाल में पाला या तुषार नहीं होता। लोग अपने शरीरों में सुगन्धित तेल मलते हैं। इस देश मे जौ नहीं उगते, परन्तु यहाँ चावल और पीले तथा हरे मटर होते हैं। वे फूलों, नारियल, पिन-लङ्ग, या मधु से मदिरा बनाते हैं। वे संस्कृत अक्षरों में लिखते हैं, और राजा अपनी अँगूठी की छाप लगाता है; वे चीनी अक्षर भी जानते हैं; (चीन को) राजस्व भेजते समय वे उनमें लिखते हैं। अनुकूल पवन के साथ इस देश से कङ्ग-तुङ्ग (केण्टन) की दूरी

बीस दिन है। यहाँ अनेक वंश-नाम "पु" हैं। सन् ९६० में राजा शिह-लि-कू-ता-हिया-लि-तन ने चीन को राजस्व भेजा। सन् ९९२ मे जावा ने इस देश पर धावा किया। सन् १००३ में सन-बो-त्साई से दो राजदूतों ने आकर बताया कि चीनी सम्राट् की दीर्घायु के लिए प्रार्थना करने के निमित्त एक बौद्ध मन्दिर बनाया गया है। सम्राट् ने उस मन्दिर का नाम रक्खा और उसके लिए विशेष रूप से बनाया हुआ एक घण्टा दिया। सन् १०१७ में वहाँ से एक दूत, तख़्तियों के बीच तह की हुई, संस्कृत पुस्तकों की पोटलियाँ लाया। सन् १०८२ में, तीन दूत सम्राट् से मिलने के लिए आये, और उन्होंने मोतियों वाले सोने के कमल-फूल (चिन-लिएन-हुआ), कर्पूर, और सा-तिएन भेंट किये।'

उसी वंश (सन् ९६०-१२७९) के अधीन सङ्कलित, 'बर्बरों* के वर्णन' नामक पुस्तक सन-बो-त्साई (सन-फ़ो-ची) का एक दीर्घ वर्णन देती है। यह वर्णन उपर्युक्त सुङ्ग-इतिहास से मिलता है। इस पुस्तक के अनुसार, 'सन-बो-त्साई' 'चऊअन्-चोऊ' के ठीक दक्षिण में है; लोग अपने शरीरों के गिर्द एक सूती कपड़ा (सरोङ्ग) रखते, और एक रेशमी छत्रक का उपयोग करते हैं। वे जल और स्थल दोनों पर युद्ध करते हैं; उनका सैनिक सङ्गठन अत्युत्तम है। राजा की मृत्यु पर लोग शोक-चिह्न के तौर पर अपने सिर मुँड़ाते हैं। 'मृत्यु मे जो दूसरे के पीछे जाते हैं वे अपने आपको ईंधन की चिता मे जला लेते हैं। यह रीति 'तुङ्ग-शेङ्ग-स्सू', 'इकट्ठे जीना और मरना†', कहलाती है।

* चाओ-जू कुआ-कृत चू-फ़'अन-शिह। यह एक बड़ी दुर्लभ पुस्तक है। डाक्टर हर्थ इसका अनुवाद करने लगे हैं।

† या 'दूसरे के जीवन और मृत्यु में भाग लेना'। बाली द्वीप में 'सत्य' और 'वेला' की रीतियाँ, अर्थात् 'दूसरे की मृत्यु के पश्चात् अपने शरीर को जला देना,' है। निस्सन्देह इनका मूल भारतीय है। सत्य तो विख्यात 'सती' है, और बेला को श्री० फ्रेडरिक ने संस्कृत 'वेला',

'सोने और चाँदी का पहाड़' नाम की एक बुद्ध-प्रतिमा है। राजा सामान्यतः 'सर्प-सार' कहलाता है। उसका सुवर्ण-मुकुट बड़ा भारी है और केवल राजा ही उसे धारण कर सकता है। जो उसे धारण कर सकता है वही राजा बनाया जाता है।

समुद्र पर होने के कारण इस देश में वाणिज्य की बड़ी महत्त्व-पूर्ण जगहें हैं, और यह राजा बर्बरों के आने और जानेवाले सभी पोतों को वश मे रखता है। पहले वे सीमा का चिह्न लगाने के लिए लोहे की ज़ञ्जीरों का उपयोग किया करते थे।

उसी पुस्तक में जिन पन्द्रह राज्यों को सन-पो-त्साई के अधीन बताया गया है उनमें से तन-मा-लिङ्ग, प-लिन, फेङ्ग, सिन-दा, लन-पी, और लन-वू-ली क्रमशः ताना-मलयू (De Barros में सुमात्रा के राज्यों की सूची में पेलम्बङ्ग से अगला), पेलम्बङ्ग, सुन्दा, जम्बी, और लम्बरी के साथ मिलाये जा सकते हैं। इन सबसे यही प्रकट होता है कि इनका सम्बन्ध सुमात्रा से था।

हमारे पास इससे कुछ पहले का और महत्वपूर्ण एक दूसरा वृत्तान्त है। यह अरब पर्यटकों का लिखा हुआ है। वे सर्बांज़ा*

'अचानक और सुगम मृत्यु,' माना है। बेला का अर्थ बाली-भाषा में 'अपने से उच्च पद के मनुष्य के साथ मरना' (स्त्री का पति के साथ, सेवक का स्वामी के साथ, प्रजा का राजा के साथ) है। हमारा 'तुङ्ग-शेङ्ग--स्सू' स्पष्ट बेला की रीति को दिखलाता है।

* Reinaud, Relation des Voyages, tom. i, p. 93; ii, p. 48. श्रीयुत ग्रोयनवेल्डट (Groeneveldt) ने सन-बे-त्साई को सर्बांज़ा के साथ मिलाया है। (Essays, p. 187, note); इन दोनों नामों की पहचान के विषय में तब से Prof. P. A. Van der Lith, अजायबलं हिन्द, pp. 247—253 में पूरी तरह विचार कर चुके हैं (देखिए सर्बोज़ा, और इ-त्सिङ्ग के दिये उसके वृत्तान्त के विषय में बील महाशय का निवेदन)।

द्वीप का उल्लेख करते हैं, जो उस समय ज़ाबेज*-राज्य [=टोलमी का॰इबादिऊ, लगभग सन् १५०, फ़ाहिएन का यावादी (या-पो-ती), सन् ४१४, और 'प्रथम सुङ्ग के इतिहास' (सन् ४२०–४७८) का यावादा (या-पो-ता)] के अधीन था। ज़ाबेज यवद्वीप का अपभ्रंश जान पड़ता है।

अब, सन-बो- त्साई (सन-फ़ो-ची) की स्थिति के विषय में प्रायः यही समझा जाता है कि यह सुमात्रा के दक्षिणी भाग में वर्तमान पेलम्बङ्ग है। हमें इस व्यापक विश्वास के विरुद्ध कुछ नहीं कहना है। इसके विपरीत, अनेक ऐसी बातें हैं जो इस पहचान की सत्यता को प्रकट करती हैं। सब वर्णनों में, दक्षिणी समुद्र का यह बडा राज्य कङ्ग-तुङ्ग से कोई बीस दिन की, और कभी-कभी एक मास की दूरी पर बताया गया है। राजधानी एक महत्त्वपूर्ण व्यापारिक बन्दर है, और लोगों ने कुछ काल से बौद्ध धर्म्म ग्रहण किया जान पड़ता है; और अनेक ऐसी बातें हैं जिनसे प्रकट होता है कि उनकी उत्पत्ति हिन्दुओं से थी। सभी वृत्तान्तों के अनुसार, देश में सोने की प्रचुरता है, और सोने के कमल-फूलों का दान लोगों की एक विशेषता है। सुगन्धित तैल, कान-मान

---

* मैं नहीं समझता, जैसा कि चवेनस Chavannes ने लिखा है, श्रीभोज ज़ाबेज है। यह, ज़ाबेज (=जावा) के अधीन, सर्बाज़ है। पेलम्बङ्ग जावा का एक उपनिवेश था, Yule, Marco Polo, vol. ii, p. 263. अरबों का ज़ाबेज एक बड़े राजतन्त्रशासन को दिखलाता है, जो उस समय मलय द्वीपों में, सम्भवतः जावा में, था। अरब लोग वहाँ के राजा को 'महाराजा' नाम से जानते थे। इन समुद्रों का एक द्वीप, दाबाग, जहाँ कुलपति एलियास ने शामी पादरी, टामस और दूसरे, भेजे थे, सम्भवतः पहले वृत्तान्तों के ज़ाबेज रूप का अवशेष है। इसका प्रयोग अलबेरूनी ने किया है। इब्न खुर्दादबह और अदरीसी ज़ाबेज के लिए जावा का प्रयोग करते हैः Yule, Cathy, p. civ.

(सरेङ्ग), इत्यादि के उपयोग तथा उपजों के वृत्तान्त, यद्यपि दूसरे द्वीपों में भी सामान्य हैं, प्रायः एक दूसरे से मिलते हैं। सबसे बढ़कर, नाम, इ-त्सिङ्ग का शिह-लि-फ़ो-शिह (=श्रीभोज), अरबों का सर्वाज़ा, और चीनी ऐतिहासिकों का सन-बो-त्साई (=सन-फ़ो-ची), गुरुत्तम प्रमाण हैं, विशेषतः जब हम देखते हैं कि इन तीन नामों के नीचे दिये वृत्तान्तों मे से कोई भी एक दूसरे का खण्डन नहीं करता।

चीनी इतिहास में वर्णित जावा के साथ निरन्तर शत्रुता अरबों के सर्वाज़ा को ज़ाबेज (=जावा) के आश्रित बना देने का कारण ठहराई जा सकती है।

अब हम इस स्थिति मे हैं कि यह कह सकें कि सन-बो-त्साई की राजधानी और बन्दरगाह, जो सन् १३९७ के पश्चात् चिऊ-चिअङ्ग ('पुराना बन्दर' या 'पुरानी नदी') नाम से प्रसिद्ध थी, वही थी जिसे इ-त्सिङ्ग भोज नदी कहता है, और जहाँ वह कङ्ग-तुङ्ग को संदेश भेजने के लिए जहाज़ पर गया था, और इसलिए यह हमारे समय की पेलम्बङ्ग नदी है। जिसे वह 'भोज का गढ़बन्द नगर' कहता है वह आधुनिक पेलम्बङ्ग (Palembang) है, किन्तु श्रीभोज का सारा देश पेलम्बङ्ग के वर्तमान प्रान्त से बहुत अधिक बड़ा है। कई आश्रित राज्य थे।

यिन-याई-शेङ्ग-लन, जिसका सङ्कलन सन् १४१६ मे हुआ, इन बातों को पूर्ण रूप से स्पष्ट कर देती है। वह कहती है, 'चिऊ-चिअङ्ग वही देश है जो पहले सन-बो-त्साई कहलाता था; यह पेलम्बङ्ग (पो-लिन-पङ्ग) भी कहलाता है, और जावा के आधिपत्य के नीचे है।

'किसी भी स्थान से जहाज़ आये, वे 'ताज़ा जल की नदी' (तान-चिअङ्ग, पेलम्बङ्ग नदी का चीनी नाम) पर, और ईंटों के बने हुए अनेक पगोडों वाले एक स्थान के निकट, बाङ्का (पेङ्ग-चिया)

सामुद्रधुनी में प्रवेश करते हैं। इसके पश्चात् व्यापारी लोग छोटी-छोटी डोंगियों में नदी के ऊपर की ओर जाकर राजधानी में पहुँच जाते हैं।'

अब 'मलयू' नाम को लीजिए। यह चिरकाल से मौजूद जान पड़ता है। 'बर्बरों के वर्णन' (सन् ९६०—१२७९) के तान-मा-लिङ्ग (ताना-मलयू), और तेरहवीं शताब्दी मे मार्को पोलो का मलैउर (Malaiur), सम्भवतः मलयू नाम के, जिसका उपयोग हमारे ग्रन्थकर्त्ता के समय के पहले होता था, अवशिष्टांश हैं। परन्तु दुर्भाग्य से मार्को पोलो की मलैउर नगरी का अभी तक सन्तोषजनक रीति से पता नहीं लग सका। कर्नल यूल कहता है:—'मुझे सम्भावनाएँ पेलम्बङ्ग और उसके उपनिवेश सिङ्गापुर (पेलम्बङ्ग स्वयं जावा वालों का एक उपनिवेश है) के बीच बँटी हुई जान पड़ती हैं। अलबूकर्क (Alboquerque) की टीका के अनुसार, जावा के लोग पेलम्बङ्ग को मलयो कहते थे। डी बरोस (De Barros) मे सुमात्रा के राज्यों की नामावली ताना मलयू को पेलम्बङ्ग से अगला ठहराती है। सर्वतोभावेन मैं इसी विवरण की ओर झुका हुआ हूँ।'

मैं समझता हूँ कि यह बात मेरी ऊपर की विज्ञप्ति से कि भोज देश, अर्थात् मलयू मलका के दक्षिणी तट पर था, स्पष्ट हो जाती है; यदि मलैउर सिङ्गापुर हो तो इसका उत्तरीय तट पर होना आवश्यक है जहाँ, उसी इतिहास के अनुसार, देश लो-यूएह* (Lo-yiieh) कहलाता था। फिर श्रीभोज-मलयु की स्थिति का

* यह वह स्थान है जहां शिन्नियो ताका-ओका नाम का एक जापानी राजकुमार, धर्म की खोज में भारत को जाते हुए, सन् ८८१ में मर गया था। उसने बीस वर्ष तक चीन में रहकर बौद्ध धर्म्म का अध्ययन किया। और वहीं से वह पश्चिम (भारत) के लिए प्रस्थान कर गया। उसकी मृत्यु का स्थान चम्पा में या सियाम में सैगोन के निकट माना जाता है। परन्तु यदि हमारी पहचान ठीक हो तो यह अवश्य सिङ्गापुर में या उसके निकट होगा।

निश्चय करने के लिए, इ-त्सिङ्ग हमें महत्त्वपूर्ण स्वीकृत तत्त्व देता है:—'श्रीभोज देश में (राजधानी नहीं), हम देखते हैं कि आठवें मास के मध्य (=जलविषुव) में सूर्य-घड़ी की छाया न लम्बी होती है और न छोटी (अर्थात् 'अपरिवर्तित रहती है' या 'कोई छाया नहीं होती'), और उस दिन दोपहर के समय खड़े मनुष्य की कोई परछाईं नहीं पड़ती। इस समय हम देख सकते हैं कि श्रीभोज देश में विषुवरेखा पर स्थित स्थानों का अन्तर्भाव था। इसलिए मलका के दक्षिणी समुद्र-तट से पेलम्बङ्ग के नगर तक, सुमात्रा का उत्तर-पूर्वी पार्श्व इस सारे देश के अन्तर्गत था। इसका विस्तार कम से कम पाँच अंशों (डिग्रियों) तक था और विषुवरेखा राज्य के लगभग मध्य में थी।

सन् १३७६ की अन्तिम विजय के साथ, सन-बो-त्साई नाम, श्रीभोज, जो कभी एक बड़ा राजतन्त्र था, नवीन विजेताओं के 'पुराना बन्दर' में बसने के कारण, इतिहास से प्रायः अन्तर्धान हो गया। इस समय तक कदाचित् सुमात्रा पूर्णरूप से मुसलमान हो चुका था, यद्यपि हमें तेरहवीं शताब्दी के अन्त मे मार्को पोलो के भ्रमण-वृत्तान्त मे इसका कोई चिह्न नहीं मिलता*। भोज और मलयू मे से इ-त्सिङ्ग की यात्रा को अधिक उत्तम रीति से समझने के लिए उसकी पुस्तक का निम्नलिखित अवतरण उपयोगी होगा। वह कहता है—

'वू-हिङ्ग एक मास की पोत-यात्रा के बाद श्रीभोज में पहुँचा: सम्राट् ने उसका दयापूर्वक स्वागत किया, और 'महा त'अंग के देवता के पुत्र की भूमि' से आनेवाले अतिथि के रूप मे उसे।

* एचिन (Atchin) में पहला मुसलमान राजा सन् १२०५ में शासन करने लगा। यह सम्भवतः इसलाम के प्रवेश का समय था (Marco Polo, vol. ii, p. 269); पोलो के समय में सुमात्रा के राज्यों पर इसलाम को ग्रहण करानेवाले अंकुश का प्रभाव नहीं हुआ था, और उसके बाद शीघ्र ही हो गया। यद्यपि वे इस समय ऐसी पतित अवस्था में हैं, परन्तु इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि एक समय वे एक शक्ति थे (loc. cit., p. 270)।

सम्मान दान किया। वह राजा के पोत पर मलयू के देश को गया और पन्द्रह दिन की समुद्रयात्रा के पश्चात् वहाँ पहुँचा। वहाँ से वह पन्द्रह दिन के बाद फिर क-च में लौट आया। हेमन्त के अन्त में उसने पोत बदल लिया। अब वह पश्चिम को प्रस्थान कर गया। तीस दिन के अनन्तर वह नागपतन (अब नेगपतम्, १०° ८′ उत्तर, ७९° ९′ पूर्व) में पहुँचा। वहाँ बुद्ध के दाँत की पूजा करने के अनन्तर वह फिर उत्तर-पूर्व को चल दिया। वह हरिकेल में आया, जो पूर्वी भारत की पूर्वी सीमा और जम्बुद्वीप का एक भाग है। वहाँ एक वर्ष ठहरने के अनन्तर वह महाबोधि, नालन्द और तिलढ को गया। तिलढ के निकट हेतुविद्या का एक अध्यापक रहता था। वू-हिङ्ग ने उससे जिन, धर्मकीर्ति, इत्यादि के हेतु-शास्त्र पढे। वह उत्तरीय मार्ग से लौटना चाहता था। जब मैं, इ-त्सिङ्ग, भारत में था तब उसे नालन्द के पूर्व में छः योजन की दूरी तक पहुँचाने गया था, और हमने इस लोक में एक बार फिर मिलने की आशा करते हुए एक दूसरे से बिदाई ली थी*।'

३—मो-हो-ह्सिन (महासिन)

केवल एक ही नाम जो इसके निकट पहुँचता है वह शामियों (Syrians) का मासीन है। कुलपति एलियास ने सन् १५०३ ई० में तामस, तबल्लाहा, याकूब, और देहा नाम के लाट-पादरियों को भारतीयों की भूमि और समुद्रों के द्वीपों को जाने की आज्ञा दी थी जो कि दाबाग (जावा), सीन (चीन) और मासीन† के बीच हैं। महासिन और मासीन बोर्नियो के दक्षिणी समुद्रतट पर वर्तमान बञ्जरमासीन (Bandjermasin) हो सकता है।

---

* तुलना कीजिए Chvannes, Memoirs p. 144.

† Assemanni, part i, p. 592; Yule, Cathy, p. ciii.

४—हो-लिङ्ग (पो-लिङ्ग, कलिङ्ग)

निस्सन्देह यह नाम भारतीय है, और सम्भवतः कोरोमण्डल-तट पर अवस्थित कलिङ्ग से लिया गया है।* चीनी इतिहास† के अनुसार यह जावा या उसके एक भाग का दूसरा नाम है। जावा का सिंहल के साथ और कदाचित् भारत के दक्षिणी सागर-तट के साथ भी सबसे पहले सम्पर्क था। परन्तु चीनी ऐतिहासिकों का निम्नलिखित वृत्तान्त, यदि ठीक हो तो यह, मलय प्राय-द्वीप (६° ८' उत्तर) मे किसी स्थान की ओर संकेत करता है:—

'हो-लिङ्ग में, जब कर्कसंक्रान्ति पर एक ८ फ़ुट ऊँचा शंकु खड़ा किया जाता है, तब (दोपहर को) छाया दक्षिण दिशा में और २ फ़ुट ४ इंच ($= २\frac{१}{६}$ फ़ुट) लम्बी पड़ती है।

इस प्रकार—पर्यवेक्षण के स्थान का उत्तरीय अक्ष		= क
सूर्य की खस्वस्तिक दूरी	,, ,,	= ख
सूर्य का उत्तरीय झुकाव	,, ,,	= ग
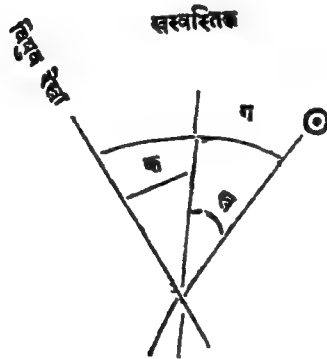
* See Lassen, Indische Alterthumskunde, ii. p. 1076; iv, p. 711.

† त'अङ्ग का नया इतिहास, (६१८–९०६) खण्ड २२२, भाग २: 'कलिङ्ग जावा भी कहलाता है;' खण्ड ११७—'कलिङ्ग सुमात्रा के पूर्व में है।'

स्पर्श ज्या ख = $\frac{२\frac{६}{६}}{८} = \frac{२\cdot४}{.८}$

घातप्रमापक स्पर्श ज्या ख (Log Tan) = ६. ४७७

ख = १६° ७′

ग = २३° ५′

क = ग–ख = २३° ५′–१६° ७′ = ६° ८′ उत्तर।

अब रही जावा के नामों की बात। टोलमी का प्राचीनतम इयाबदिऊ (Iabadiu) (circa सन् १५०), फ़ा-हिएन (सन् ४१४) का जावादी, और प्रथम सुङ्ग (सन् ४२०—४७८) के इतिहास का यावादा, सम्भवतः यवद्वीप, 'जौ का देश', को दिखलाते हैं। यही नाम ज़ावेज (अरब) और दावाग (शामी) के रूप में पीछे के कुछ वृत्तान्तों में प्रकट होता है। यद्यपि 'जावा' नाम पीछे से सुङ्ग के इतिहास (सन् ६६०—१२७६) मे और तेरहवीं शताब्दी की समाप्ति पर मार्को पोलो के भ्रमण-वृत्तान्त में मिलता है, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि इ-त्सिङ्ग के समय में उपर्युक्त नामों मे से किसी का भी प्रयोग न होता था। अब जावा की सभ्यता के विषय में दो-चार शब्द लिख देना अनुचित न होगा। फ़ा-हिएन* (सन् ४१४) के समय में जावा मे हिन्दू पहले से बसे हुए थे। वह कहता है—'पाषण्ड ब्राह्मणों का यहाँ ख़ूब ज़ोर है, और बुद्ध-धर्म्म की अवस्था इस योग्य नहीं कि उसका उल्लेख किया जाय।' सुमात्रा के पगरोयङ्ग (Pagaroyang) के सन् ६५६ के एक पुराने शिला-लेख में राजा आदित्यधर्म को 'पहले जावा' (या यव) का शासक

---

* Prof. Kern. Over den invlow der Indische, Arab. en Europ. beschaving op de Volken van den Ind. Archipel., p. 7; Yule, Marco Polo, vol. ii, chap. 9. p. 267.

कहा है। इसके अतिरिक्त जावा में मिलनेवाले कुछ संस्कृत शिला-लेख पाँचवीं शताब्दी के जान पड़ते हैं और वे वैष्णव हैं। इ-त्सिङ्ग के अनुसार, बुद्ध-धर्म मुख्यतः हीनयान था, परन्तु यह एक विचित्र बात है कि कालासन (कालस) के मन्दिर और चण्डी सरी (Chandi Sari सन् ७७९) के विहार के पुराने खण्डहरों से प्रकट होता है कि जिस बौद्ध-धर्म्म का यहाँ प्रचार था वह महा-यान का एक पिछला रूप था, जैसा कि ध्यानी बुद्धों, अक्षोभ्य, रत्न-सम्भव, अमिताभ, या अमोघसिद्ध की प्रतिमाओं के आविष्कार से सिद्ध हुआ है। बुद्ध-धर्म्म—चाहे हीनयान हो या महायान—सुमात्रा के सदृश, यहाँ सम्भवतः तब तक ही रहा जब तक कि इस-लाम का प्रचार नहीं हुआ था।

५—तान-तान (नतूना), ६—पेन-पेन (P'en p'en पेम्पेन), ७—पो-लि (बाली),

श्रीयुत ब्रशनीडर (Mr. Bretschneider) के अनुसार नतूना के द्वीप तान-तान कहलाते थे, जो कि सम्भवतः इ-त्सिङ्ग का तान-तान है। सुई के इतिहास (सन् ५१८-६१७) का तान-तान (डोन-डिन), जो दक्षिणी श्याम या उत्तरीय मलक्का में माना जाता है, यदि ठीक हो तो, वह द्वीप नहीं जिसका यहाँ उल्लेख है, क्योंकि हमारे ग्रन्थकर्त्ता को पता है कि श्याम (द्वारवती) समुद्र का टापू नहीं, और वह उन द्वीपों में महादेश के किसी स्थान का उल्लेख नहीं करता। इसके अतिरिक्त, डोन-डिन की पहचान किसी प्रकार भी निर्णायक नहीं। कर्नल यूल अण्डेमान द्वीपों को 'डोन-डिन' लिखता है।

मैं समझता हूँ, पेन-पेन बोर्नियो के दक्षिणी समुद्रतट पर वर्त्त-मान पेम्बुअन को दिखलाता है। यह ठीक जान पड़ता है, क्योंकि

इ-त्सिङ्ग कहता है कि पू-पेन (=पेन-पेन) कलिङ्ग (जावा के उत्तर-पूर्व) के उत्तर मे अवस्थित था। परन्तु श्याम के दक्षिणी भाग में पन-पन नाम का एक स्थान है, जो वर्तमान पुन-पिन या बन्दन हो सकता है। परन्तु यह पहचान बहुत सन्दिग्ध है।

पो-ली को, जो जावा के पूर्व मे सम्भवतः वर्तमान बालि द्वीप है, चीनी लोग पङ्ग-ली कहते थे, परन्तु इस द्वीप के दिये हुए वृत्तान्त बहुत थोड़े हैं। वहाँ कवी (Kavi) साहित्य के मनोरञ्जक अनुसन्धान के कारण, यह नाम अब हमें भली भाँति अवगत है। मैं अपने पाठकों को श्री० आर० फ़्रेडरिक (Mr. Friedrich) के 'बालि द्वीप का वृत्तान्त' (Essays on Indo-China, second series, vol. ii) का पता देता हूँ।

८—कू-लुन (कुन-लुन, Pulo Condore)

कू-लुन पूलो कोण्डोर के चीनी नाम कुन-लुन से अभिन्न है। देसी नाम कोन-नोन है, और कोण्डोर उसका अपभ्रंश है। नवीं शताब्दी के अरब पर्यटक द्वीपों के इस समूह को सुन्दर फ़ूलात नाम से पुकारते हैं, परन्तु मार्को पोलो उसी को सुन्दुर और कोण्डुर कहता है। इ-त्सिङ्ग के अनुसार, केवल इन्ही द्वीपों के लोग काले रङ्ग के और ऊनी बालो वाले हैं।

हम चीनी लेखकों से 'कुन-लुन के ग़ुलामो' के विषय में बहुधा सुनते हैं। पीछे से इसका अर्थ सामान्यतः ग़ुलाम समझा जाने लगा और इसके साथ जिस देश से वे ग़ुलाम आते थे उसका कुछ सम्बन्ध न रहा। इ-त्सिङ्ग के समय में यहाँ के अधिवासी हबशी जान पड़ते हैं। टीकाकार काश्यप भी, एक पूर्वकाल का प्रमाण देते हुए, उनका वर्णन इस प्रकार करता है मानों वे एक भिन्न जाति के हों:—'क'उ-लुन, कू-लुन, क'उन-लुन एक ही देश है। इस देश में

किसी शिष्टाचार या दाक्षिण्य का पालन नहीं किया जाता। लोगों का निर्वाह लूट-खसोट और चोरी-चकारी पर है। वे राक्षसों या कुछ दुष्ट पिशाचों के सदृश नर-मांस के बड़े प्रेमी हैं।

'उनकी भाषा शुद्ध नहीं है। दूसरे बर्बरों से उनका भेद है। वे पानी में डुबकी लगाने में बड़े निपुण हैं, और यदि चाहें तो बिना किसी कष्ट के दिन भर जल मे रह सकते हैं।' परन्तु इस असाधारण जाति ने किसी अंश तक बुद्ध-धर्म्म को ग्रहण कर लिया जान पड़ता है, क्योंकि इ-त्सिङ्ग एक ऐसे विहार का उल्लेख करता है जिसमें उस द्वीप के राजा की दी हुई एक अनोखी जल-घड़ी थी। इसके अतिरिक्त वह नैमित्तिक रूप से यह भी कहता है कि वे संस्कृत सूत्रों की प्रशंसा करते हैं। वहाँ दो प्रकार की लौंग उपजती है।

मनुष्य को आश्चर्य होता है कि सुमात्रा या श्रीभोज में इ-त्सिङ्ग के समय में कुन-लुन भाषा क्यों प्रचलित थी। परन्तु कुन-लुन शब्द से, जब इसका प्रयोग एक भाषा के नाम के रूप में हुआ हो, धोखा नहीं खाना चाहिए, क्योंकि कुछ समय तक यह सारे दक्षिणी सागर के लिए एक व्यापक नाम रहा है। इसलिये 'कुन-लुन-यू' का अर्थ अवश्य मलय-भाषा है। पूलो कोण्डोर के द्वीपों का इसके साथ कोई सम्बन्ध न था, चाहे इनके अधिवासियों ने कुन-लुन भाषा की किसी एक बोली के बोलने मे भाग लिया होगा।

८—फ़ो-शिह-पू-लो (भोजपुर)

इसमें सन्देह नहीं कि फ़ो-शिह-पु-लो अपने मूल रूप में भोजपुर है, परन्तु यह श्रीभोज, आधुनिक पेलम्बङ्ग, की राजधानी भोज नहीं। श्रीयुत सी० बौमगार्टन अध्यापक मेक्समूलर को लिखते हुए (२० फ़र्वरी, सन् १८८३) कहता है कि सुरबज (Surabaja) जावा में दूसरा नगर है, और वहाँ अभी तक एक ऐसा स्थान

है जो बोज-नगर, और सारा प्रान्त बोज कहलाता है। वह यह भी कहता है कि सातवीं शताब्दी जावा मे बौद्ध धर्म्म का स्वर्णीय काल जान पड़ती है। सम्भवतः यह इ-त्सिङ्ग का भोजपुर है। इसके अतिरिक्त हमे शायद यहाॅ श्रीभोज नाम का मूल मिल सकता है, क्योंकि पेलम्बङ्ग अवश्य ही जावा का एक उपनिवेश था।

१०—अ-शन या अेा-शन। ११—मो-चिया-मन
(मघमन Maghaman)

हो सकता है कि अ-शन पहले-पहल सुमात्रा के एचिन को दिखलाता प्रतीत हो। परन्तु यह सम्भाव्य नहीं, क्योंकि एचिन (Atchin) का वास्तविक और शुद्ध रूप एजेह (Atjeh) या एची (Ach'i) जान पड़ता है, जिसको योरुपीय लोगों ने पीछे से बिगाड़कर एचिन या एचीन कर दिया।

क्योंकि यह भोजपुर के पश्चात् आता है, इसलिए यह बाली के निकट जावा के पूर्वी भाग मे कही जान पड़ता है। सम्भव है, यह वर्तमान एजङ्ग (Ajang) हो।

मो-चिया-मन के विषय मे मुझे सिवा इसके और कुछ नही कहना कि ध्वनि-शास्त्र की रीति से यह मघमन या मघवन (Maghavan) को दिखला सकता है। मा-शे-वेङ्ग या मा-येह-वेङ्ग, जिसकी स्थिति निश्चित नहीं, वही द्वीप हो सकता है। कदाचित् इससे मदुरा (Madura) अभीष्ट हो।

३—दूरतर भारत या इण्डो-चाइना

१. श्री-चत्र या श्रीक्षेत्र (थरे खेत्तर)।
२. लङ्कसु (कामलङ्का)।

३. द्वारवती (= अयुथ्य) } श्याम से।
४. पोह-नन (= फू-नन) }
५. चम्प (मूलतः चम्पा)।
६. अनाम में पी-किङ्ग।
७. कन-चोऊ (सम्भवतः तोङ्ग किङ्ग के निकट)।

श्रीक्षत्र के स्थान का निश्चय सन्तोषजनक रीति से किया जा सकता है। ब्राह्मी लोगों के अनुसार, राजा महासम्भव ने बुद्ध के साठवें वर्ष* मे थरे खेत्तर नाम का एक नगर बसाया, और प्रोम वंश की प्रतिष्ठा की थी। यह वंश ५७८ वर्ष तक फलता-फूलता रहा। नगर के कुछ-अवशिष्ट अंश अभी तक प्रोम के वर्त्तमान नगर के कुछ मील पूर्व में दिखाई देते हैं। अकेला यही वृत्तान्त इसकी स्थिति का निश्चय करने के लिए पर्याप्त है, और इसे उत्तर ब्रह्मा में नहीं रखना चाहिए जैसा कि विवीन डी सेण्ट मार्टिन के जूलियन के 'सी-यू-की' के साथ दिये मान-चित्र में दिखलाया गया है। इसलिए इसे सिलहट के साथ मिलाना सर्वथा अग्राह्य है। इ-त्सिङ्ग का वर्णन थरे खेत्तर की स्थिति के साथ स्थूल रूप से मिलता है। इसके अतिरिक्त ह्यू-न-थ्साङ्ग का वर्णन भी है जिस पर हम अभी विचार करेंगे। इ-त्सिङ्ग के अनुसार, लङ्कसु श्रीक्षत्र के दक्षिण-पूर्व मे, और द्वारवती लङ्कसु के पूर्व में है। इस प्रकार हमें इस अनुमान को छोड़ना पड़ता है कि इ-त्सिङ्ग की द्वारवती ब्रह्मियों की द्वारवती होगी; यदि कप्तान सेण्ट जान का कथन ठीक हो तो ब्रह्मियों की द्वारवती पुराना टांगू और साण्डोवे हैं, क्योंकि ये दोनों सर्वथा विपरीत दिशा में हैं और प्रोम के दक्षिण-पूर्व में नहीं हो सकते। ह्यू न-थ्साङ्ग की दारपति या द्वारपति और हमारी द्वारवती निस्सन्देह श्याम की प्राचीन राजधानी अयुथ्य (या अयुध्य) को दिखलाती हैं; यह इस बात से स्पष्ट

* ब्रह्मी पञ्चाङ्ग बुद्ध की मृत्यु ईसा के ५४४ वर्ष पूर्व रखता है।

हो जाता है कि इ-त्सिङ्ग का देशों की स्थितियों का वर्णन चीन की ओर से गिनकर वस्तुतः पोह्‌-नन (पूर्वी श्याम) के साथ समाप्त होता है। ह्यू न-त्सांग कर्ण-सुवर्ण, समतट, और श्रीक्षत्र का उल्लेख करता है, और कहता है:—'श्रीक्षत्र से दक्षिण-पूर्व को जाकर समुद्र की खाड़ी मे कामलङ्का है; इसके पूर्व मे, द्वारपति (या दारपति)। फिर आगे पूर्व को, ईशानपुर* है; इसके पूर्व में, महाचम्पा, और महाचम्पा के दक्षिण-पश्चिम को येन-मो-लो (सम्भवतः यवनद्वीप अर्थात् सुमात्रा)। पाठक देखेंगे कि इ-त्सिङ्ग का लङ्कसु यहाँ काम-लङ्का, पोहनन, ईशानपुर, और चम्पा महाचम्पा है; और अपने इतिहास से हमे अवगत है कि पी-किङ्ग (तूरन या हुए Hue) चम्पा के उत्तर मे है, और और भी आगे उत्तर मे मनुष्य एक मास की यात्रा के अनन्तर, या पोत पर पाँच छः ज्वार-भाटों में, कङ्ग-चोऊ (टोङ्ग-किङ्ग के समीप) पहुँच जाता है। इस प्रकार ये कथन अच्छे स्पष्ट और एक दूसरे से एकतान हैं।

४—भारत और लङ्का

इ-त्सिङ्ग भारत को सामान्यतः पश्चिम (सी-फ़ङ्ग), भारत के पाँच देश (वू-तिएन Wuat' ien), 'आर्य देश (आ-ली-या' त-इ-शा), मध्यदेश (मो-त-'इ-त-इ-शा), ब्रह्मराष्ट्र (पो-लो-मेन-कुओ), या

---

* अध्यापक चवेनस ने ईशानपुर को कम्बोज पहचाना है; श्री० ऐमो-नियर (M. Aymonier) के अनुसार सन् ६२६ में कम्बोज का राजा ईशान वर्मन् था, और इसके पूर्ण रूप से सदृश, त 'अङ्ग का इतिहास कहता है कि कम्बोज के राजा, ईशान ने, जो कि क्षत्रिय था, चेङ्ग-कुअन काल (सन् ६२७—६४६) के आरम्भ मे, फू-नन (पूर्वी श्याम) को जीता और प्रदेश पर अधिकार कर लिया। इ-त्सिङ्ग के इस कथन में कि एक दुष्ट राजा ने फू-नन में बौद्ध धर्म को नष्ट कर दिया, शायद उसी राजा की ओर संकेत हो। परन्तु देखिए, Crawfurd. Journal of the Embassy to the Court of Siam p. 615, श्याम मे पहले पहल सं० ६३८ में बौद्ध धर्म गया।

जम्बुद्वीप (चन-पू-चोऊ) कहता है। वह कहता है कि 'हिन्दू (हिसन-तू) नाम का प्रयोग केवल उत्तरी जातियाँ ही करती हैं, और भारत के लोग आप इस नाम को नही जानते। कुछ लोग इन्दु (पिन-तु) को चन्द्रमा के नाम 'इन्दु' से निकालते हैं (ह्यू न-श्साङ्ग Memoirs ii 56.), पर यह ठीक नाम नहीं है।' फ़ारसी मे हिन्दू और यूनानी में इण्डो कदाचित् सिंधु के अपभ्रंश थे, परन्तु यह विचित्र बात है कि चीनियों को इस नाम के दोनों रूप मालूम हैं। भारत के नाम के रूप में इन्दु (पिन-तु) का उपयोग चीन मे ह्यू न-श्साङ्ग के समय से होने लगा, परन्तु तिएन-चू (Tien Chu) और चूअन-तू (दोनों सिंधु से निकले हुए) सम्भवतः चीन में बुद्ध-धर्म के प्रवेश के समय (सन् ६७) से हैं। इस इतिहास मे लङ्का के लिए सिंहल (सेङ्ग- हो- लो) द्वीप (या शिह-र्-जू-चोऊ, सिंह टापू), या कभी-कभी रत्नद्वीप (पाओ-चू) नाम आया है।

इ-तिसंग के जीवन-चरित्र के अनुसार, अपनी भारत-यात्रा में उसने अनेक स्थान, सब मिलाकर तीस से अधिक देश, देखे होंगे, परन्तु उसके अपने लेखों से कोई भी निश्चित बात नहीं मिल सकती। जिन स्थानों को देखने की बात वह निश्चित रूप से कहता है वे बहुत थोड़े हैं, अर्थात् कपिलवस्तु , बुद्ध गया, वराणसी, श्रावस्ती (उत्तर कौशल), कान्यकुब्ज, और ताम्र लिप्ति (तमलुक)। मुझे उसके लङ्का जाने में सन्देह है; यद्यपि वह उसका बहुधा उल्लेख करता है, परन्तु उसका वर्णन किसी प्रत्यक्षदर्शी का नहीं जान पड़ता। यही अवस्था लाट, सिंधु, वलभी, उद्यान, खरचर, कुस्तन, (खुतन), कश्मीर, और नेपाल की है। उपर्युक्त के अतिरिक्त, वह तिब्बत (तू-फ़न), फ़ारस (पो-ला-स्सू), तजिक* (ता-शिह और

* चीनी में यह मुसलमान अरबों का नाम है। इ-त्सिङ्ग कहता है कि कपिश का मार्ग तजिकों के अधिकार में है।

तो-शिह), तुखार (तू-हो-लो), सू-लि (सु-लि) , तुर्क (तू-चूएह) का, और नैमित्तिक रूप से कोरिया (कौ-लि, कुक्कुटेश्वर) का उल्लेख करता है।

इ-त्सिङ्ग के ग्रन्थ की तिथि

यदि इ-त्सिङ्ग ने स्पष्ट रूप से बता दिया होता कि वह श्रीभोज मे कब वापस आया था, तो हमे इस ग्रन्थ के रचना-काल का निश्चय करने मे कुछ भी कठिनाई न होती। परन्तु इस बात को वह बिलकुल कोरा छोड़ गया है। हम उसके जीवन तथा पर्यटन की ऊपर दी हुई बातों के आधार पर उसके ग्रन्थ के निर्माण-काल का निश्चय करने का यत्न करेंगे। हमारी निश्चित तिथि, चाहे बिलकुल ठीक न हो, परन्तु ठीक के बहुत कुछ निकट अवश्य होगी।

सब से पहले वह स्थान जहाँ उसने इस पुस्तक का सङ्कलन किया, जैसा कि वह चौंतीसवें परिच्छेद की समाप्ति के निकट कहता है, अवश्य श्रीभोज (सुमात्रा मे पेलम्बङ्ग) में होगा। वह इस स्थान मे अवश्य सन् ६८५ के पीछे लौटकर आया होगा, क्योंकि उस समय वह अभी नालन्द के निकट था, और वह कहता भी है कि चौंतीसवाँ परिच्छेद लिखने के पहले वह चार वर्ष श्रीभोज में व्यतीत कर चुका था। इसलिए उसका इतिहास सन् ६८६ (६८५ + ४ = ६८६) के पहले का नहो हो सकता। चाहे हम यह भी मान ले कि वह नालन्द के पास वू-हिङ्ग से बिदा होने के शीघ्र ही पश्चात् वहाँ वापस लौट आया। फिर वह सर्वत्र राज्यापहारी महारानी (शासनकाल सन् ६८४–७०४) के सन् ६९० मे ग्रहण किये हुए नवीन वंश-नामो का उपयोग करता है; इससे स्पष्ट प्रकट है कि हमारा यह इतिहास सन् ६९० के पहले का नहीं हो सकता। यह स्मरण रह सकता है कि उसने यह इतिहास सन्

६९२ ई० के पाँचवें मास के पन्द्रहवें दिन भेजा था, इसलिए हमें उसकी सारी रचना की तिथि सन् ६९०–६९२ के बीच ढूँढ़नी चाहिए। अब हम उन परिच्छेदों की परीक्षा करते हैं जिनका उपयोग हमारे प्रयोजन के लिये हो सकता है।

१. इ-त्सिङ्ग की प्रस्तावना, जैसा कि हमारा सामान्य नियम है, अवश्य सबसे बाद की होगी, अर्थात् जब सारे परिच्छेद तैयार हो चुके थे, क्योंकि वह उसमें कहता है कि मैं चालीस परिच्छेदों में यह इतिहास स्वदेश भेज रहा हूँ।

२. परिच्छेद १८। वह नैमित्तिक रूप से कहता है कि मैंने बीस वर्ष तक परिश्रम किया। इसलिए यह परिच्छेद अवश्य ही लगभग ६९१ में लिखा गया होगा (६७१–६९१ = २०, सन् ६७१, केवल एक ही मास छोड़कर)।

३. परिच्छेद २८—'वह बीस से अधिक वर्ष तक विदेश में रहा।' इससे हम फिर सन् ६९१ पर पहुँचते हैं। सब प्रकार से सुरक्षित होने के लिए, हम सन् ६९१–६९२ लिख देते हैं, क्योंकि यह बीस वर्ष से 'अधिक' है।

४. उसका 'वृत्तान्त' हमारे इतिहास के विषयों से (प्रस्तावना के सिवा) अवश्य पीछे का होगा, क्योंकि उसमें इतिहास का नाम देकर दो बार प्रमाण दिया गया है। परन्तु 'वृत्तान्त' की समाप्ति और इस इतिहास की प्रस्तावना अवश्य लगभग एक ही समय में लिखी गई होंगी, क्योंकि दोनों 'वृत्तान्त' को दो ग्रन्थ-खण्डों में और इतिहास को चार ग्रन्थ-खण्डों (चालीस परिच्छेदों) में बताते हैं। दूसरे शब्दों में, दोनों ग्रन्थ लगभग एक ही समय में समाप्त हुए होंगे।

अब यह मालूम करना बहुत कठिन न होगा कि 'वृत्तान्त' के परिशिष्ट के कोई सात पत्रांक लगभग उसी समय लिखे गये हैं,

परन्तु यह सम्भव नहीं कि उसने मूल पाठ के पहले परिशिष्ट लिखा हो। क्या यह पीछे से जोड़ा हुआ हो सकता है ? मेरी सम्मति में यह सन् ६९२ के पीछे का नहीं हो सकता, क्योंकि उसने इसे अवश्य मूल पुस्तकों के साथ ही भेजा होगा। 'परिशिष्ट' से हमे मालूम होता है कि ताओ-हुङ्ग नाम का एक भिक्षु, जो बीस वर्ष की आयु मे दीक्षित हुआ था, शीघ्र ही पश्चात् क्वङ्ग-तुङ्ग मे इ-त्सिङ्ग से मिला और, सन् ६८९ मे, दल के पीछे श्रीभोज को गया। जिस समय हमारे ग्रन्थकार ने परिशिष्ट भाग लिखा उस समय उस भिक्षु की आयु तेईस वर्ष की (सन् ६८६-६८९ = ३) थी।

इससे यह स्पष्ट है कि उसने इसे दूसरे पाठों के साथ एक ही समय मे लिखा, या कम से कम भेजा था। इस प्रकार इतिहास की प्रस्तावना, वृत्तान्त (memoirs) और उसका परिशिष्ट लगभग एक ही समय के ठहराने पड़ेंगे। इनमें से परिशिष्ट सबसे पीछे की रचना है। ध्यान रखिए कि इ-त्सिङ्ग सन् ६८९ के उत्तरार्ध से सन् ६९२ के पाँचवें मास तक तीन वर्ष गिनता है।

५. अब चौंतीसवे परिच्छेद के अन्त के निकट—जो सबसे अधिक महत्त्व का परिच्छेद है—वह कहता है कि भारत से वापस आकर वह चार से अधिक वर्ष तक श्रीभोज मे रहा, पर भारत से उसके लौटने की तिथि हमें अवगत नहीं। जिस अवधि को इ-त्सिङ्ग तीन वर्ष (सन् ६८९-६९२) गिनता है उसमे केवल एक वर्ष जोड़ देने से श्रीभोज मे उसके दूसरी बार आने का वर्ष, अर्थात् सन् ६८८, निकल आता है। (हम देख चुके हैं कि सन् ६८९ मे वह भोज मे था।) इस प्रकार चौतीसवे परिच्छेद की तिथि अवश्य सन् ६९१ या ६९२ मे होनी चाहिए; सबसे अलंघ्य सीमा सन् ६९१-६९२ होगी। परिणाम वही हुआ जो परिच्छेद २८, इत्यादि, का।

मूल पाठ से जितनी साक्षी मिल सकती है वह इस प्रकार सन्

६६१–६६२ को, ठीक-ठीक कहे तो सन् ६६१ से सन् ६६२ के पाँचवें मास तक को, इ-त्सिङ्ग के इस इतिहास को लिखने का शुद्ध समय बताती है। इस परिणाम के आधार पर हम जयादित्य की मृत्यु, जिसने वामन के साथ मिलकर काशिका-वृत्ति लिखी, सन् ६६१–६६२ में, और धर्म्मपाल के समकालीन भर्तृहरि की सन् ६५१–६५२ में निश्चय-पूर्वक ठहरा सकते हैं।

इ-त्सिङ्ग के बौद्ध-अनुष्ठानों के इतिहास (सन् ६७१-६९५ बाहर; सन् ६७३-६८७ भारत में) से तैयार की हुई, भारत के अनेक साहित्य-सेवियों और बौद्ध उपाध्यायों की, उनकी तिथि तथा परम्परा सहित, सूचियाँ।

(जो पतले अक्षरों में हैं वे इ-त्सिङ्ग के पाठ में नहीं)

१—(परिच्छेद ३२)

सार्धशतक बुद्ध-स्तोत्र (१५० श्लोक, नञ्जियो की सूची, सं० १४५६)।

१. मातृचेट रचित। तारनाथ के Geschichte des Buddhismus, p. 89, में कहा गया है कि मातृचेट चन्द्रगुप्त के पुत्र, बिन्दुसार, के समय के लगभग था।

२. असङ्ग द्वारा तथा
३. वसुबन्धु द्वारा प्रशंसित। } भाई और समकालीन।

४. कुछ श्लोक 'जिन' ने जोड़ दिये थे। इसके दो ग्रन्थों का अनुवाद परमार्थ ने किया था। परमार्थ चीन में सन्

५५७–५६८ में काम करता था (नञ्जियो की नामावली सं० ११७२, १२५५)।

५. मृगदाव के शाक्यदेव द्वारा और भी परिवर्धन।

६. इ-त्सिङ्ग द्वारा अनुवादित जब वह नालन्द विद्यापीठ में था, लगभग सन् ६७५–६८५, घर भेजा सन् ६९२.

२—(इ-त्सिङ्ग की प्रस्तावना)

निम्नलिखित नामों को स्वतन्त्र रूप से ग्रहण करना चाहिए, एक दूसरे के पीछे नहीं।

क. (इ-त्सिङ्ग की प्रस्तावना का परिच्छेद।)

क. अशोक, बुद्ध के निर्वाण के १०० या अधिक वर्ष पश्चात्।
(इस भूल का कारण या तो धर्मासोक को कालासोक के साथ मिला देना है या दूसरी बौद्ध-सभा और अशोक के बीच के काल को (११८) निर्वाण और अशोक के बीच का काल समझ लेना है।)

ख. (परिच्छेद ३२)।

ख. अश्वघोष।

१. उसके काव्यमय गीत।

२. सुत्रालङ्कारशास्त्र (चीनी में अनुवाद सन् ४०५, नञ्जियो की सूची सं० ११८२)।

३. बुद्धचरित काव्य (अनुवादित सन् ४१४-४२१, नञ्जियो की सूची, सं० १३५१)।

४. उसके जीवन-चरित का अनुवाद कुमारजीव ने सन् ४०१-४०९ में किया।

ग. नागार्जुन। उसका सुहृल्लेख।

१. यह दक्षिण भारत (कोशल) के एक राजा, शातवाहन (या सद्वाहन) के नाम लिखा गया था। इस राजा का निज नाम जेतक था।

२. इसका चीनी मे अनुवाद हुआ सन् ४३१ और सन् ४३४ (नञ्जियो की सूची सं० १४६४ और १४४०)। इ-त्सिङ्ग ने अपने प्रवास में इसका अनुवाद किया। सन् ६९२ में स्वदेश भेजा।

३. उसके जीवन-चरित का अनुवाद कुमारजीव ने सन् ४०१-४०९ में किया, (नञ्जियो की सूची, सं० १४६१)।

घ. शीलादित्य।

१. जातकमाला, उसके नीचे रहनेवाले विद्वानों की रची हुई। (आर्यसूर कदाचित् उनमें से एक हो),

२. जीमूतवाहन-नाटक (=नागानन्द), जिसे उसने आप ही रचकर लोक प्रिय बनाया था।

३. ह्यू न-थ्साङ्ग के प्रतिपालक (सन् ६२९-६४५) शीलादित्य की मृत्यु कोई सन् ६५५ मे।

च. (परिच्छेद २७)

ङ आयुर्वेद की आठ पुस्तकों का संक्षेपकर्त्ता, लगभग इ-त्सिङ्ग के समय मे।

३—(परिच्छेद २४)

व्याकरण की पुस्तके।

१. सी-तन-चङ्ग (या सिद्ध-रचना), नवच्छात्रों के लिए।

२. पाणिनि-सूत्र।

३. धातु पर पुस्तक (एक धातुपाठ)।

४. तीन खिलों पर पुस्तक (अष्टधातु, वेन-चा, उणादि-सूत्र)।

५. वृत्ति-सूत्र (काशिका-वृत्ति)।

रचयिता जयादित्य, जिसकी मृत्यु इ-त्सिङ्ग के इस इतिहास

की तिथि से कोई तीस वर्ष पूर्व हुई थी (सन् ६९१–६९२)

= सन् ६६१-६६२.

काशिका के संयुक्त रचयिता वामन का समकालीन ।

६. चूर्णि (महाभाष्य), (उपर्युक्त वृत्ति पर टीका) ।

७. भर्तृहरि शास्त्र, जो चूर्णि पर टीका है ।

रचयिता भर्तृहरि, जिसकी मृत्यु इ-त्सिङ्ग के इतिहास की तिथि से चालीस वर्ष पहले हुई = सन् ६५१–६५२.

धर्मपाल का समकालीन ।

८. वाक्यपदीय ।

भर्तृहरि कृत ।

९. पेइ-ना (एक बेड़ा-वृत्ति) ।

भर्तृहरि-लिखित गद्य-टीका, धर्मपालकृत श्लोकभाग, } समकालीन ।

धर्म्मपाल शीलभद्र का गुरु था। शीलभद्र इतना बूढ़ा था कि वह ह्यून-थ्साङ्ग को न पढ़ा सकता था। (लगभग सन् ६३५), और इसलिए उसने उसे पढ़ाने के लिए जयसेन को नियुक्त किया था।

जो चार ग्रन्थ धर्म्मपाल के माने जाते हैं उनके अनुवाद सारे सन् ६५०—७१० के हैं।

परिणाम

क. उपर्युक्त से चारों ग्रन्थकर्त्ता समकालीन ठहरते हैं। वे सब अवश्य लगभग सन् ६००—६६० में होंगे—(१) जयादित्य, (२) वामन, (३) भर्तृहरि, (४) धर्मपाल ।

ख. नालन्द विद्यापीठ का प्रधान, धर्मपाल, अवश्य जयादित्य और भर्तृहरि के पहले मर चुका होगा, क्योंकि जिस समय ह्यून-थ्साङ्ग नालन्द, सन् ६३५, में गया, उस समय वह जीवित जान नहीं पड़ता। शीलभद्र उसका स्थान ले चुका था।

४—(परिच्छेद ३४)

भारत तथा श्रीभोज के प्रसिद्ध बौद्ध नाम

क. बहुत पहले (सन् ४०० के पहले) के।

१. नागार्जुन।

२. देव, आर्यदेव, या काणदेव।

३. अश्वघोष।

इन तीनों को प्रायः कनिष्क का समकालीन बताया जाता है, और कनिष्क पहली शताब्दी का कहा जाता है।

ख. मध्यकाल में (कोई सन् ४५०—५५०)।

१. वसुबंधु २. असङ्ग	भाई।	समकालीन (ह्यून-थ्साङ्ग 'वृत्तान्त', N, २२३)।
३. सङ्घभद्र		

४. भवविवेक। धर्मपाल का समकालीन। (ह्यून-थ्साङ्ग, 'वृत्तान्त' X, १११—११३)।

ग. पिछले वर्षों के (लगभग ५५०—६७०)।

१. जिन (हेतुविद्या में)। अन्ध्र में हेतुविद्या का एक ग्रन्थ रचा (ह्यून-थ्सांग, 'वृत्तान्त', X, १०६)।

(इसका जीवन-काल सन् ५५० के पूर्व जान पड़ता है।)

२. धर्मपाल। भर्तृहरि का समकालीन जिसकी मृत्यु सन् ६५१-६५२ में हुई। अवश्य सन् ६३५ के पहले मर चुका होगा।

३. धर्मकीर्ति (हेतुविद्या मे)। वासवदत्ता और सर्वदर्शनसंग्रह में इसका प्रमाण दिया गया है। यह राजा स्रोङ्-त्सन-गम-पो (सन् ६२९-६९८) का समकालीन था, वेसीलीफ़ (Wassilief), पृष्ठ ५४.

४. शीलभद्र । धर्मपाल का शिष्य (ह्यू न-थ्साङ्ग, 'वृत्तान्त', viii (452) ।

५. सिह्चन्द्र । ह्यू न-थ्साङ्ग का सतीर्थ ।

६. स्थिरमति । एक वलभी जागीर मे इसकी ओर संकेत है ।

७. गुणमति (ध्यान मे) । स्थिरमति के साथ वलभी में, और नालन्द में (Memoirs, ix.46) ।

८. प्रज्ञागुप्त (खण्डन मे) । सम्मितीय का उपाध्याय और ह्यू न-थ्साङ्ग का समकालीन ।

९ गुणप्रभ (विनय में) । उसका शिष्य, मित्रसेन, नव्वे वर्ष का था, और उसने ह्यू न थ्साङ्ग को सूत्र पढ़ाये थे । वह श्रीहर्ष का गुरु, और वसुबंधु का शिष्य था (वेसीलीफ़) ।

१०. जिनप्रभ । ह्यू न चाऊ का उपाध्याय । यह चाऊ लगभग सन् ६४९ मे नालन्द में था ।

ब. वे लोग जिनका उल्लेख इ-त्सिङ्ग के समकालीनों या व्यक्तिगत परिचितों के रूप मे हुआ है (सन् ६७०—७०० में सब जीवित थे) ।

इ-त्सिङ्ग के उपाध्याय:

१. ज्ञानचन्द्र (राजगृह के निकट, तिलढ विहार में)। इसे नालन्द का एक श्रमण लिखा है ।

२. रत्नसिह (राजगृह के निकट, नालन्द में) । ह्यू न चाऊ का उपाध्याय, जो नालन्द में लगभग सन् ६४९ मे था ।

३. दिवाकर मित्र (पूर्वी भारत मे) ।

४. तथागतगर्भ (दक्षिणी भारत मे) ।

५. शाक्यकीर्ति (सुमात्रान्तर्गत, श्रीभोज में) ।

६. राहुलमित्र (पूर्वी भारत के भिक्षुओं मे मुखिया; इ-त्सिङ्ग के समय में तीस वर्ष की आयु)। इसका उल्लेख तारनाथकृत 'बुद्धि.ज्म' पृष्ठ ६३ में है; इसका प्रिय रत्नचूत-सूत्र भी उसी काल का है।

७. चन्द्र (पूर्वी भारत में; वेस्सन्तर [विश्वन्तर = सुदान] पर एक नाट्य कविता का रचयिता; जिन दिनों इ-त्सिङ्ग भारत में था (सन् ६७३–६८७), तो वह अभी जीता था)।

पुस्तक का मूल पाठ

जैसा कि श्रीयुत कसावरा ने सन् १८८२ मे बताया था, हमारे इस इतिहास का मूल पाठ बहुत भ्रष्ट है, परन्तु हमे स्मरण रहना चाहिए कि तब से चीनियों की बौद्ध पुस्तकों का नवीन संस्करण पूरा किया जा चुका है, और इसकी एक प्रति योरुपीय विद्वानों के उपयोग के लिए बोडलियन पुस्तकालय में भेजी गई थी। यह जापानी संस्करण अत्युत्तम है क्योंकि यह चीन, कोरिया और जापान से लाये गये पाँच भिन्न-भिन्न संस्करणों को भली भाँति मिला कर तैयार किया गया है। इसका क्रम पुराने संस्करण की अपेक्षा पाठकों के लिए अधिक सुखदायक है। इसकी छपाई भी साफ़ है।

सब से बड़ी बात यह है कि इसके वाक्यों में विराम-चिह्न ठीक ठीक दिये गये हैं, और पाद-टीका के रूप में विविध पाठ भी दे दिये हैं। यह चीनी पिटक का आदर्श-संस्करण माना जा सकता है, और चीनी साहित्य के क्षेत्र में जापानी बौद्धों ने जो यह सेवा की है उसके लिए वे गर्व कर सकते हैं। हमारा इतिहास, विशेष रूप से, सावधानतापूर्वक अध्ययन तथा संशोधन की साक्षी देता,

और अनेक ऐसे प्रकरणों पर प्रकाश डालता है जो अब तक अस्पष्ट थे। इ-त्सिङ्ग के ग्रन्थ तथा सारा धर्म्मशास्त्र हस्तलेख में ही सुरक्षित पड़ा था। ये सन् ६७२ ई० तक मुद्रित नहीं हुए। इसलिए हम सुरक्षित रूप से कह सकते हैं कि हमारा इतिहास, जो अब पिटक के साथ पाया जाता है, हम तक मुद्रित पुस्तक के रूप में पहुँचने के पूर्व कोई २८० वर्ष तक हस्तलेख के रूप में रहा। यह बात वर्तमान संस्करणों मे भेद की अनेक छोटी-छोटी बातों का कारण हो सकती है। परन्तु इसमें कुछ ऐसे वचनों का लोप पाया जाता है जिनका कारण हम लिपिकार की भूलें नहीं ठहरा सकते। इ-त्सिङ्ग ने स्वदेश लौटने पर स्वयं उन्हें काट डाला है; परन्तु यह निश्चित है कि मूल प्रति मे, जो उसने विदेश से स्वदेश भेजी थी, ये सब मौजूद थे।

अन्य वचनों के अतिरिक्त, संस्कृत अक्षरों के सम्बन्ध में एक वचन है, जिसका अवतरण कुछ पहली पुस्तकों में पाया जाता है। ची-कङ्ग (सन् ८००) नामक चीनी भिक्षु-द्वारा सङ्कलित 'सिद्ध-त्जू-ची' 'सिद्ध-अक्षरों का उल्लेख,' मे ग्रन्थकर्त्ता कहता है:—'इ-त्सिङ्ग ने कहा कि बारह अन्तिमों (अ आ, इ ई, उ ऊ, ए ऐ, ओ औ, अं अः) में पहले तीन जोड़ों मे से पहले तीन (अ, इ, उ) ह्रस्व और उन्हीं के दूसरे तीन (आ, ई, ऊ) दीर्घ हैं, और पिछले तीन जोड़ों (ए ऐ, ओ औ, अं अः) में से पहले तीन (ए, ओ, अं) ह्रस्व और दूसरे तीन (ऐ, औ, अः) दीर्घ हैं।'

'सित्तन-ज़ो' या 'सिद्ध-कोश' (सन् ८८०) नाम की एक जापानी पुस्तक मेँ यह अवतरण पूरा दिया गया है। उससे प्रकट होता है कि कभी यह वचन इ-त्सिङ्ग के इतिहास मे मौजूद था। (देखिए, Bodl. Jap 15. vol. V, fol. 6)।

[सामने के पृष्ठ में चित्र देखिए।]

義淨寄歸傳云 अ 惡, आ 痾, इ 益, ई 伊, उ 屋, ऊ 烏, ऋ 頡里, (是一字), ॠ 蹊梨, (是一字), ऌ 里, ॡ 離, ए 醫, ऐ 藹, ओ 汙, औ 奧, अं 菴, अः 阿 क 脚, ख 佉, ग 伽, घ 噓, ङ 我, च 者, छ 捙, ज 社, झ 縒, ञ 喏, ट 吒, ठ 詫, ड 荼, ढ 䘺, ण 拏; त 哆, थ 他, द 拕, ध 但, न 娜; प 跛, फ 叵, ब 婆, भ 梵, म 麽 य 野, र 囉, ल 攞, व 婆, श 捨, ष 灑, स 娑, ह 訶; ळं 藍, क्ष 乞叉 (末後二字不入其數) 惡等十六皆是聲韵, 向餘字之上配之 凡一一之字便有十六之別, 猶若四聲於一字上有平上去入四番之異 脚等之二十五字, 並下八字, 總有三十三字, 名初章 皆須上聲讀之, 不可看其字而爲平去入也 又云十二聲者謂是 क 脚, का 迦 (上短下長); कि 枳, की 鷄 (姜移反, 上短下長); कु 矩, कू 俱 (上短下長); के 雞, कै 計 (上長下短); को 孤, कौ 告 (上長下短); कं 甘, कः 箇 (兩聲俱短, 箇字用力出聲) 呼佉等十二聲並效此

此十二字皆可兩兩相隨呼之, 仍須二字之中看字註而取短長也 (抄)

सन् १७५८ में काश्यप जी-उन ने इ-त्सिङ्ग के इसी इतिहास पर एक वृत्ति लिखी। काश्यप के पास भी यही पाठ था जो अब हमारे पास है। वह कहता है:—'ऐसा जान पड़ता है कि इस इतिहास के अनेक पाठ हैं। इसके अनेक अवतरण जो सुङ्ग वंश के त्सङ्ग-निङ्ग (सन् ६८८), मिङ्ग वंश (सन् १३६८–१६२८) के शोऊ क्वङ्ग, और जापान के अन्नन (सन् ८८०) के ग्रन्थों में हैं वे वर्तमान पुस्तक में नहीं मिलते। मैं अगले पुरातत्त्व-विदों से प्रार्थना करता हूँ कि वे चीन और जापान के कुछ प्रसिद्ध मन्दिरों के पत्थर के भण्डारों में मूल पुस्तक को ढूँढ़ें। मेरी टीका केवल प्रचलित संस्करण पर ही लिखी गई है, और किसी अगले मनुष्य द्वारा संशोधन या परिवर्धन की प्रतीक्षा में है।'

मैंने अपने इस वर्तमान अनुवाद में इण्डिया आफ़िस की प्रति (सन् १६८१), प्रोफ़ेसर लग्गी (Legge's) की प्रति (सन् १७१४), श्रीयुत नञ्जियो की प्रति (मूल पाठ वृत्ति सहित, सन् १७५८) और बोडलियन पुस्तकालय में नवीन जापानी संस्करण (सन् १८८३) का उपयोग किया है। इन सबका आधार एक ही पुरानी पुस्तक है जिसमें उपर्युक्त अवतरण नहीं। इनके अतिरिक्त, हमारे इतिहास पर एक जापानी की रची हुई एक और लम्बी चौड़ी टीका है। परन्तु मुझे खेद से कहना पड़ता है कि मैं अपने अनुवाद में इससे सहायता लेने के लिए समय पर इसकी नक़ल न करा सका।

बर्लिन,
जनवरी ६, सन् १८९६.

जा० तककुसु।

इ-त्सिंग

का

दक्षिण समुद्र से स्वदेश भेजा हुआ बौद्ध अनुष्ठानों का इतिहास

प्रस्तावना

आरम्भ में, जब तीन सहस्र लोक उत्पन्न किये जा रहे थे, उनके अस्तित्व में आने का चिह्न प्रकट हुआ। सब पदार्थ उत्पन्न हो गये, परन्तु अभी जड़ और चेतन वस्तुओं में कोई भेद न था। यह ब्रह्माण्ड एक शून्य उजाड़ था जिसमे न सूर्य घूमता था और न चन्द्र। दुःख और सुख मे कोई पहचान न थी; और सत् और असत् के बीच कोई भेद न था। जब ब्राह्मणीय देवता (मूल शब्द, विशुद्ध आकाश) पृथ्वी पर उतरे, तब उनका शारीरिक प्रकाश स्वभावतः उनके साथ आया। वे अपना भोजन पृथ्वी की मोटाई से लेते थे, इसलिए लोभ और पेटूपन का स्वभाव प्रादुर्भूत हुआ, और वे वन की लताओं और सुवासित चावलों को एक दूसरे के बाद खाने लगे। जब उनका प्रकाश क्रमशः लोप हो गया, तब सूर्य और चन्द्र प्रकट हो गये। विवाह और कृषि की अवस्था पैदा हुई, और राजा-प्रजा, तथा पिता-पुत्र सम्बन्धी नियम स्थापित हो गये।

तब अधिवासियों ने ऊपर नीलाकाश की ओर देखा और उन्हें धूमधाम के साथ नक्षत्र घूमते हुए दिखाई दिये। जब उन्होंने नीचे की ओर दृष्टि डाली तब उन्होने देखा कि पीली भूमि पर जल सदा वायु से हिलता रहता है, और पृथ्वी अधिक ठोस होती जा रही है। दो तत्त्वों, अस्ति और नास्ति, ने द्यो-पृथ्वी का रूप धारण कर लिया, और उनके बीच अन्तरिक्ष में मनुष्य उत्पन्न हुए; मैली और साफ़ पवन के प्रभाव से, प्रकृति में अपने आप द्वन्द्व पैदा हो गये; और प्रकृति के इन दो विभागों के गढ़ने की शक्ति को इसकी बड़ी भट्टी में ढालने की कला के साथ उपमा दी जा सकती है, और सब पदार्थों की उत्पत्ति मिट्टी की मूर्तियों के बनाने के समान बताई जा सकती है,—ये सब ऊट-पटाँग बातें सङ्कीर्ण ज्ञान के फल हैं। इस पर पर्वत दृढ़ खड़े थे, नक्षत्र ऊपर बिखरे हुए थे, और जड़ पदार्थ फैल और बढ़ रहे थे। अन्त को उनमें मत-भेद हो गया, और वे छयानवे श्रेणियों मे विभक्त हो गये; तत्त्व पच्चीस श्रेणियों मे बाँटे गये। सांख्य दर्शन कहता है कि सब पदार्थ एक से उत्पन्न हुए हैं। परन्तु वैशेषिक के मतानुसार पाँच प्रकार के भूत छः पदार्थों से उत्पन्न हुए हैं। पुनर्भव से छूटने के लिए कई लोग दिगम्बर रहना और बालों को उखड़वा देना आवश्यक समझते हैं; कई स्वर्ग-लाभ के लिए शरीर पर भस्म रमाने और केशों को बाँधने पर ज़ोर देते हैं। कई कहते हैं, आत्मा अमर है और कई कहते हैं कि मृत्यु पर वह नष्ट हो जाती है। अनेक लोग ऐसे हैं जो समझते हैं कि जीवन एक घोर दुर्बोध रहस्य है, इसके तत्त्व को खोजने की आवश्यकता नहीं, और हम कहाँ से अस्तित्व में आये हैं यह इतनी सूक्ष्म और जटिल बात है कि हम इसे जान नहीं सकते।

दूसरे कहते हैं कि बार-बार जन्म लेकर मनुष्य सदा मानव-योनि मे ही जाता है, अथवा मृत्यु के पश्चात् प्रेत बन जाता है। एक कहता है कि मुझे मालूम नहीं कि 'एक तितली ने मेरा

रूप धारण कर लिया अथवा मैं तितली बन गया।' एक बार एक स्थान पर मनुष्य एकत्र हो रहे थे। उन्होंने विचारा कि हमने यहाँ बरें देखी हैं। परन्तु जब वे दुबारा इकट्ठे हुए तब उन्हें वहाँ कोशकृमि* देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। एक भूतप्रलय को पक्षी के अण्डे के साथ, अथवा अन्धकार को भ्रूणावस्था के साथ उपमा देता है।

ये लोग अभी तक यह नहीं समझते कि जन्म तो तृष्णा का फल है, और हमारा वर्तमान जीवन हमारे पूर्व कर्मों का परिणाम है। क्या वे इस प्रकार दुःख के सागर में डूब और तैर नहीं रहे हैं, और भ्रम की धारा उन्हें आगे और पीछे नहीं ले जा रही है?

केवल हमारे परमगुरु, लोक-ज्येष्ठ शाक्य ने ही आप सुगम मार्ग बताया है। उसने अद्भुत तत्त्व का उपदेश दिया है। उसने बारह निदान समझाये हैं और अठारह अनुपम धर्म्म† उपार्जन किये हैं। उसने अपने आप को देवों और मनुष्यों का गुरु (शास्ता देवमनुष्यानाम्), अथवा सर्वज्ञ कहा है। केवल उसी ने चार प्रकार की सृष्टि‡ को अग्नि-कुण्ड (संसार) से निकाला, और जीवन की तीन अवस्थाओं§ को अन्धकार के निवास से मुक्त किया

---

* यह चीन की एक प्रसिद्ध उपमा है। जब कोशकृमियों के बच्चे होते है तब बरें आकर उन्हें उठा ले जाती हैं। इसी से यह विश्वास उत्पन्न हुआ है कि कोशकृमियों की बरें बन गई हैं।

† ये धर्म्म हैं—सम्यक् कर्म्म, सम्यक् वचन और सम्यक् सङ्कल्प; भूत, भविष्य और वर्तमान का ज्ञान; प्रज्ञा, मोक्ष, शान्त मन, इत्यादि।

‡ अर्थात् गर्भ से (१), अण्डों से (२), आर्द्रता से (३), अथवा अलौकिक रीति से उत्पन्न हुई सृष्टि।

§ जीवन की तीन अवस्थाएँ.—(१) काम-जगत्, (२) रूप-जगत्, (३) अरूप-जगत्।

है। वह क्लेश-रूपी नदी को पार करके निर्वाण-रूपी तट पर जा पहुँचा है।

जब हमारे मुनि ने नाग नदी अर्थात् (निरञ्जना नदी) पर बोधिज्ञान प्राप्त किया, तब प्राणियों की नौ श्रेणियाँ* मोक्ष की आशा करने लगीं। तब इस ज्योति के मृगदाव (काशी) में जाने से जीवन के छः† मार्गों की धर्म्म-पिपासा शान्त हुई।

ज्योंही उन्होंने धर्म्म-चक्र को फिराना आरम्भ किया, सबसे पहले पाँच मनुष्यों‡ ने उनके उपदेश का लाभ उठाया। फिर उन्होंने शील-सोपान का उपदेश दिया, और सहस्रों लोगों ने उनके सामने सिर निवाया। इस पर उनका ब्रह्मनाद राजगृह में सुनाई दिया, जिससे असंख्य आत्माओं का उद्धार हुआ।

माता-पिता के प्रेम का बदला चुकाने के लिए जब वे कपिलवस्तु के राजभवन में घर वापस आये तब उन्हें बहुत से ऐसे शिष्य मिले जिनकी उनके उपदेशों पर श्रद्धा थी। उन्होंने सबसे पहले आज्ञात कौण्डिन्य को उपदेश देकर भिक्षु बनाया। सत्य का प्रकाश करने के उद्देश से उन्होंने उसकी पहली प्रार्थना को स्वीकार किया।

उन्होंने अपने जीवन में अन्तिम दीक्षा सुभद्र§ को दी, जिससे उसके जीवन का अन्तिम काल उसकी मूल-अभिलाषा के अनुरूप हो।

वे संघ की स्थापना और रक्षा करते हुए अस्सी वर्ष तक जीते

---

* नौ श्रेणियाँ पूर्वोक्त तीन अवस्थाओं के उप-विभाग हैं; इनमें से प्रत्येक तीन-तीन उपविभागों में बाँटी गई है।

† जीवन के छः मार्ग ये है—मानव, देव, प्रेत, तिर्यग्योनि, असुर और नरक।

‡ पंचवर्गीय भिक्षुओं अर्थात् कौडिन्य, वप, भद्रिय, महानाम और अश्व-जित् को ही बुद्ध ने पहले-पहल ऋषिपत्तन मे धर्म्मचक्र का उपदेश दिया था।

§ बुद्ध का अन्तिम शिष्य सुभद्र था।

रहे। उन्होंने नौ सभाओं* में अपने निर्वाण के सिद्धान्त का प्रचार किया। उन्होंने अपने उपदेश मे गूढ़ से गूढ़ तत्त्व की व्याख्या की। थोड़ी से थोड़ी योग्यता के मनुष्य को भी वे निःसङ्कोच भाव से ले लेते थे।

साधारण अनुयायियों को उपदेश देते समय वे संक्षेप से काम लेते और केवल पञ्चशील की ही शिक्षा देते थे। परन्तु भिक्षुओं को उपदेश देते समय वे अपराधों के सात स्कंधों का आशय ख़ूब खोलकर समझाया करते थे। वे समझते थे कि इस लोक के अधिवासियों के बड़े से बड़े पाप भी शील की वृद्धि से दूर हो जाते हैं, और मेरी विनय की सम्यक् शिक्षा से छोटे से छोटे दोष भी नष्ट हो जाते हैं। वृक्ष की छोटी से छोटी टहनी पर क्रोध करने से, दण्ड-स्वरूप, मनुष्य को सर्प-योनि† में जाना पड़ता है, और छोटे से कृमि के प्रति दया दिखाने से मनुष्य को स्वर्गधाम मिलता है, इसलिए पुण्य और पाप कर्म्मों की समर्थ शक्ति वास्तव में स्पष्ट और निर्विवाद है। इसलिए बुद्ध ने हमें सूत्र और शास्त्र दोनो दिये और ध्यान तथा प्रज्ञा की प्रतिष्ठा की। क्या लोगों को पकड़ने के लिए त्रिपिटक एक सर्वोत्तम जाल नहीं? इस प्रकार जब कोई मनुष्य आप गुरुदेव के पास आता तब उनका उपदेश एक प्रकार का होता; और जब गुरुदेव लोगों को उनकी योग्यताओं के अनुसार

---

* टीकाकार काश्यप कहता है कि इनसे तात्पर्य पूर्वोल्लिखित प्राणियों की नौ श्रेणियों से है।

† यह कथा सम्युक्त वस्तु मे मिलती है। एलपत्र नाम का एक भिक्षु एक पूर्व बुद्ध, काश्यप, के अधीन ध्यान में मग्न था। वह एल नाम वृक्ष के नीचे बैठा था। जब वह ध्यान से उठा तब वृक्ष की एक टहनी से उसके सिर में चोट लग गई। उसने क्रोध मे आकर उस टहनी को तोड़ डाला और फेंक दिया। इस कर्म के फल से उसे सर्प का जन्म मिला।

उपदेश तथा परित्राण देने की इच्छा करते, तब वे उन सब युक्तियों को छोड़ देते जो दूसरे मनुष्य के लिए अतीव उपयुक्त थीं। जब हम देखते हैं कि जिस समय आनन्द* ने वैशाली में भगवान् बुद्ध के पहले शब्द सुने तो मार ने उसके मन को मोह लिया, और हिरण्यवती नदी पर अन्तिम प्रतिज्ञा से अनिरुद्ध† ने बुद्ध की प्रकट की हुई निर्विवाद सच्चाई को प्रमाणित किया, तब हम कह सकते हैं कि इस धराधाम पर भगवान् का धर्मोपदेश-काल समाप्ति को पहुँच चुका था, और वे अपने कार्य मे कृतकार्य हो चुके थे। उनके चरण-चिह्न अब दो नदियों (हिरण्यवती और निरञ्जना) के किनारों पर न थे। इसलिए मनुष्य और देवता नैराश्य-सागर में विलीन थे। उनका प्रतिबिम्ब शाल वृक्षों की दो श्रेणियों के बीच लोप हो गया। उस समय साँप और प्रेत भी शोकार्त थे।

---

* 'वैशाली में भगवान् बुद्ध के पहले शब्द;' यह कथा इस प्रकार है—वैशाली में बुद्ध ने आनन्द को अपनी आयु की लम्बाई बताई, और फिर उससे कहा, "जिन्होंने चार अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त कर ली हैं वे अपने इच्छानुसार एक कल्प वरन् इससे भी अधिक समय तक जी सकते हैं।" उन्होंने यही शब्द तीन बार कहे, परन्तु आनन्द उन्हें समझ न सका, क्योंकि उसका मन मार के प्रभाव से घबराया हुआ था। यह कथा सन्युक्त वस्तु में आई है। तुलना कीजिए महापरिनिब्बान सुत्त ३, ४,१ तथा ४६.

† इसका सकेत निम्नलिखित घटना की ओर है। बुद्धदेव मरणासन्न थे। उन्होंने अपने शिष्यों को बुला कर कहा—'यदि तुम्हें चार आर्य-सत्यों के विषय में कुछ सन्देह है तो तत्काल मुझसे पूछो। इसे अनिश्चित मत रहने दो।' बुद्ध भगवान् ने इन शब्दों को तीन बार दुहराया, परन्तु कोई नहीं बोला। अनिरुद्ध को दिव्य दृष्टि प्राप्त थी और वह सब भिक्षुओं के मन को देख रहा था। इसलिए वह बोला—'चाहे सूर्य शीतल हो जाय, चाहे चन्द्र उष्ण हो जाय, परन्तु बुद्ध के प्रकट किये हुए चार आर्य-सत्य कभी झूठ नहीं हो सकते।' इसका वर्णन बुद्ध के अन्तिम उपदेश के सूत्र में मिलता है।

उन सब ने इतना विलाप और रुदन किया कि उनके आँसुओं से शाल-तरुओं के नीचे की भूमि भीगकर कीचड़ हो गई। और जिनको सबसे अधिक शोक हुआ उन्होंने अपने सारे शरीरों पर रक्त के आँसू बहाये, जिससे उनके शरीर कुसुमित पेड़ों के समान दिखाई देते थे।

हमारे गुरुदेव के निर्वाण प्राप्त करने के अनन्तर सारा जगत् सूना और ऊजड़ जान पड़ता था। तत्पश्चात् धर्म्म के योग्य उपदेशक प्रकट हुए। उन्होंने एक बार (विहार की गुहा मे) ५०० की संख्या मे और दूसरी बार (वैशाली में) ७०० की संख्या मे इकट्ठे होकर बुद्ध के पवित्र ग्रन्थों का संग्रह किया। विनय के बड़े-बड़े संरक्षकों में अठारह भिन्न-भिन्न विभाग उत्पन्न हो गये। अनेक मतों और ऐतिह्यों के अनुसार भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के त्रिपिटक एक दूसरे से भिन्न हैं। इनकी भिन्नता छोटी-छोटी बातों पर है, जैसा कि एक मे लिखा है कि निम्न परिधान का अञ्चल सीधा काटा जाता है, और दूसरे में लिखा है कि बेडौल; एक कहता है कि ऊपर के परिधान की तहें, परिमाण मे, तङ्ग हों, और दूसरा कहता है कि खुली हों।

जब भिक्षुगण इकट्ठे टिकते हैं तब प्रश्न होता है कि वे अलग-अलग कमरों में टिकें अथवा रस्सियों की आड़ बनाकर उन्हें अलग-अलग कर दिया जाय, यद्यपि धर्म्म में दोनों की आज्ञा है। और भी बातें हैं—भिक्षा लेते समय एक तो उसे अपने हाथ मे पकड़ लेता है, और दूसरा एक स्थान पर चिह्न कर देता है जहाँ दाता भोजन रख देता है, और दोनों ही ठीक हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय के अपने ऐतिह्य हैं जो गुरु से शिष्य को मिले हैं। ये ऐतिह्य एक दूसरे से भिन्न हैं और प्रत्येक की पूरी-पूरी व्याख्या है, जिससे वे आपस में मिश्रित नहीं हो सकते।

(इ-त्सिङ्ग की लिखी पाद-टीका)*—१. आर्यमूलसर्वास्तिवाद-निकाय निम्न परिधान के अञ्चल को सीधा, और दूसरे तीन निकाय इसे बेडौल काटना बताते हैं। २. वही निकाय निवास के लिए अलग-अलग कमरों की आज्ञा देता है, परन्तु आर्यसम्मति-निकाय रस्सियों के बनाये हुए घेरे मे जुदा-जुदा बिछौने नियुक्त करता है। ३. आर्यमूलसर्वास्तिवाद-निकाय भिक्षा सीधी हाथ मे पकड़ लेता है किन्तु आर्यमहासंघिक-निकाय भिक्षा रख देने के लिए स्थान पर चिह्न कर देता है।

पश्चिम (भारत) मे इन निकायों के अनेक उप-सम्प्रदाय हैं। इनके मूल भिन्न-भिन्न हैं। परन्तु निरन्तर ऐतिह्य के मुख्य निकाय केवल चार हैं। वे आगे दिये जाते हैं—

१

आर्यमहासंघिक-निकाय, जिसका चीनी मैं अनुवाद शेङ्ग-ता-चुङ्ग-पु अर्थात् 'महासंघ का श्रेष्ठ समाज' है। यह निकाय आगे सात भागों मे बँटा हुआ है। इसके तीन पिटकों में से प्रत्येक में १००,००० श्लोक, अथवा सारे ३००,००० श्लोक हैं। इनका अनुवाद यदि चीनी मे किया जाय तो (तीन तीन सौ श्लोकों के) १००० ग्रन्थ-खण्ड बन जायँगे।

---

* इ-त्सिङ्ग की पुस्तक में लिखी हुई पाद-टीकाएँ प्रायः किसी दूसरे मनुष्य की समझी जाती हैं। परन्तु जब हम इ-त्सिङ्ग की रचनाओं और अनुवादों में सारी टीकाओं को देखते है तब हम इन्हे ग्रन्थकार के सिवा और किसी की नहीं ठहरा सकते। टीका में 'चौ-युन' से अभिप्राय चौ-वंश (६९१–६६०) से नहीं. वरन् राज्यापहारिणी महिषी के शासन-काल से है जो कि 'चौ' (६६०–७०४) भी कहलाती थी। अतएव यह किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होता कि इ-त्सिङ्ग की पुस्तक मे टीका पीछे से किसी ने लिखी है—

२

आर्यस्थविर-निकाय, जिसका चीनी में अनुवाद 'शेङ्ग-शङ्ग-त्सोपु' अर्थात् 'बड़ों का श्रेष्ठ समाज' है। इसके तीन उपविभाग हैं। इसके तीन पिटकों में श्लोकों की संख्या पूर्वोल्लिखित निकाय के श्लोकों के ही बराबर है।

३

आर्यमूलसर्वास्तिवाद-निकाय, जिसका चीनी मे अनुवाद 'शेङ्ग-केन-पेन-शुश्रो-यि-चीह-यु-पु' अर्थात् श्रेष्ठ मूल धर्म्म-समाज है। यह सब पदार्थों के अस्तित्व को मानता है। यह निकाय चार उप-विभागों में विभक्त है। इसके तीन पिटकों मे श्लोकों की संख्या उतनी ही है जितनी कि ऊपर के निकाय मे।

४

आर्यसम्मिति-निकाय का चीनी मे अनुवाद 'शेङ्ग-चेङ्ग-लिश्रङ्ग-पु' अर्थात् श्रेष्ठ अनुमति का धर्म-समाज है। इस निकाय के चार उपविभाग हैं। इसके त्रिपिटकों में २००,००० श्लोक हैं, केवल विनयपिटक के ही श्लोकों की संख्या ३०,००० है। परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस विभाग के विषय में इन निकायों के कुछ ऐतिह्यों का भारी मतभेद है। मैंने इन अठारह निकायों की वर्तमान अवस्था का वर्णन किया है। मैंने पाँच मुख्य निकायों मे बाँटे जाने की बात, जिसका अनेक चीनी प्रयोग करते हैं, पश्चिम (भारत) मे कभी नहीं सुनी।

उनकी एक दूसरे से भिन्नता, उनकी उन्नति और ह्रास, और उनके साम्प्रदायिक नामों के विषय मे बहुत कुछ मतभेद है। इस

विषय का उल्लेख अन्यत्र किया गया है, इसलिए मैं यहाँ उनका वर्णन देने का कष्ट न उठाऊँगा।

भारत के पाँचों खण्डों और दक्षिण सागर के द्वीपों में लोग चार ही निकाय कहते हैं। परन्तु भिन्न-भिन्न स्थानों में प्रत्येक निकाय के भक्तों की संख्या भिन्न-भिन्न है।

मगध (मध्य भारत) मे प्रायः चारों निकायों का प्रचार है, फिर भी सर्वास्तिवादनिकाय का ज़ोर सबसे ज़ियादा है। लाट* और सिन्धु में—जो कि पश्चिमी भारत के प्रान्तों के नाम हैं—अधिक अनुयायी सम्मितिनिकाय के हैं, और दूसरे तीन निकायों के भक्त कुछ थोड़े से हैं। उत्तर-खण्ड (उत्तर भारत) में सब लोग सर्वास्तिवाद-निकाय के माननेवाले हैं, यद्यपि कभी-कभी कोई महासङ्घिक-निकाय का अनुयायी भी मिल जाता है। दक्षिण (दक्षिण भारत) की ओर सब स्थविरनिकाय के अनुयायी हैं, यद्यपि दूसरे निकायों के भक्त भी मौजूद हैं। पूर्वी सीमान्त प्रदेशों में चारों निकायों के अनुयायी मिले-जुले हैं।

(इ-त्सिङ्ग की टीका)—नालन्द विहार से ५०० योजन तक पूर्व की ओर जाने पर, सारा देश पूर्वी सीमान्त कहलाता है।

(पूर्वी) सीमा पर 'महा काला'† नाम का पर्वत है। मैं समझता हूँ, यह त'ऊ-फ़न‡ (तिब्बत) की दक्षिण सीमा पर है। कहते

---

* लाट किस प्रदेश का नाम है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, शायद यह राजपूताना या देहली में कोई स्थान हो। लेसन (Lassen) के मतानुसार 'लाट' राष्ट्र का सूचक है।

† यह शायद महाकाल, अथवा ऐसे ही अर्थोंवाला कोई और शब्द हो।

‡ तिब्बत को तिब्बती भाषा में 'बोद' कहते हैं: बोद के लिए चीनी में 'फ़न' और संस्कृत में 'भोट' है। ऊपरी तिब्बत तो-पो (Teu peu) है, इसलिए चीनी में तिब्बत के लिए दूसरा नाम त'ऊ-फ़न (T'o. Fan)

हैं, यह पर्वत शूचुअन (स्सु-चुअन) के दक्षिण पश्चिम में है, जहाँ से हम कोई एक मास के सफ़र के बाद इस पहाड़ पर पहुँच सकते हैं। इससे दक्षिण की ओर और समुद्र-तट के समीप श्रीक्षत्र* (प्रोम) नाम का देश है। इसके दक्षिण-पूर्व मे लङ्कसू (सम्भवत: कामलङ्का)† है। इसके पूर्व में द्वा (र) पति (द्वारवती, अयोध्या)‡ और अन्तिम पूर्व में लिन-इ (चम्पा)§ है। इन सब देशों के अधि

है। इस्तखरी (circa A. D. ६५०) 'तोब्बत' का उल्लेख करता है। See glossary of Anglo-Indian Words, S. V. India p.332.

* श्रीक्षत्र के लिए देखिए, Hiuen Thsang (Julien), tom iii, pp. 42—43 and Beal Si-yu-ki, vol. ii, p. 200.

† बहुत सम्भव है कि लङ्कसू वही स्थान है जिसे ह्यू न-थ्साङ्ग ने कामलङ्का लिखा है, अर्थात् पेगू और ईरावदी नदी के जल से घिरी हुई त्रिभुज भूमि। देखिए–Beal Si-yu-ki, vol. ii, p. 200 चीनियों के इतिहास मे–देखो लिअङ्ग वंश का इतिहास (५०२—५५७) भाग ५४—लङ्कसू नाम का एक देश है, जिसको मिस्टर ग्रोइनवेल्ट (Mr. Groeneveldt) ने सन्देहपूर्वक जावा का एक भाग समझ लिया है (देखो Essays on Indo-China, 2nd series, vol. ii, p 135)

‡ केप्टन सेंट जान ने द्वा (र) पति को ब्रह्मा देश का पुराना टाङ्गू और सेण्डोवे बताया था (See Phœnix, May, 1872), अक्ष १८° २०′ उत्तर, द्राघिमा ६४° २०′ पूर्व। Cf. History of Burma (Trubner's Oriental Series) see Index Dwarwati परन्तु यह स्थिति इ-त्सिङ्ग के वर्णन से बिलकुल नहीं मिलती। Professor Chavannes अपने Memoirs of I-tsing(p. 203) मे लिखता है कि द्वारवती स्याम की प्राचीन राजधानी अयुथ्य या अयुध्य का संस्कृत नाम था। यह इ-त्सिङ्ग के वर्णन के साथ भली भांति मिलता है। परन्तु मालूम नहीं, चेवनीस महाशय के नोट का आधार क्या है।

§ चम्पा एक बौद्ध देश था। बौद्ध धर्म्म यहाँ सिंहल से आया था, और डाक्टर बेस्चियन के मतानुसार प्रायः इसका सम्बन्ध बुद्धघोष के नाम के साथ था। परन्तु पीछे से इस देश को मुसलमान बना दिया गया। देखो Colonel Yule, Marco Polo, chap. V. book ii. p.250

वासी तीन रत्नों (रत्नत्रय)* के प्रति बड़ा भारी पूजा-भाव रखते हैं। अनेक लोग सूत्रों के पक्के अनुयायी हैं। और याच्चा-धूत† करते हैं, जो कि इन देशों में एक रिवाज है। ऐसे लोग मैंने पश्चिम (भारत) में देखे हैं। ये वास्तव में साधारण चरित्र के लोगों से भिन्न हैं।

सिंहल द्वीप (लङ्का) में सब आर्यस्थविर-निकाय के अनुयायी हैं और आर्यमहासंघिक निकाय को अस्वीकार करते हैं।

दक्षिण सागर के द्वीपों में—जिनमें दस से अधिक देश हैं—प्रायः एकमात्र मूलसर्वास्तिवाद-निकाय का ही सर्वत्र प्रचार है। यद्यपि कभी-कभी कुछ लोग सम्मति-निकाय के भी उपासक रहे हैं, और हाल ही मे दूसरे दो निकायों के भी थोड़े से अनुयायी मिले हैं। पश्चिम से गिनने पर सबसे पहले पो-लू-शी (पुलुशिह) द्वीप है और फिर मो-लो-यू (मलायू) देश जो कि अब श्रीभोज का (सुमात्रा में) देश है, मो-हो-सिन (महासिन) द्वीप, होलिङ्ग (कलिङ्ग) द्वीप (जावा में), तन-तन द्वीप (नतूना द्वीप), पेन-पेन द्वीप, पो-ली (वाली) द्वीप, कू-लुन द्वीप (पूलो कानडोर), फ़ो-शिह-पू-लो (भोज-पुर) द्वीप, ओ-शन द्वीप, और मो-चिया-मैन द्वीप है।

कुछ और भी छोटे-छोटे द्वीप हैं। उन सबका उल्लेख यहाँ नहीं हो सकता। इन सब देशों ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया है, और एक मलायू (श्रीभोज) को छोड़ कर जहाँ कि थोड़े से लोग महायान के अनुयायी हैं, बहुधा लोग हीनयान सम्प्रदाय के मानने वाले हैं।

इन देशों (द्वीपों) मे से कुछ का घेरा कोई एक सौ चीनी मीलों का और कुछ का कई सौ मीलों का है, अथवा कई एक की सीमा कोई एक सौ योजन की है। यद्यपि महासागर में दूरी का नापना कठिन है, फिर

* बुद्ध, धर्म और सङ्घ।

† तेरह अथवा बारह धूतों में से याच्चाधूत भी एक है।

भी जिन लोगों को व्यापारी जहाज़ों द्वारा यात्रा करने का अभ्यास है वे इन द्वीपों का लगभग परिमाण मालूम कर लेंगे। जब कू-लुन (के लोग) पहले-पहल कोचीन और कङ्ग-तुङ्ग* में आये थे तब से चीनी लोग इन टापुओं को प्रायः 'कुन-लुन का देश' के व्यापक नाम से जानते हैं। कुन-लुन (पूलो-कोण्डोर) के सिवा जहाँ के लोगों के बाल घुँघराले और चमड़ा काला होता है, (चार) द्वीपों के अधिवासियों का रूप चीनियों के ही समान होता है। उनमें टाँगों को नङ्गा रखने और कन-मन† (एक कपड़ा) पहरने की

* यह वाक्य बहुत स्पष्ट नहीं। शब्दों पर अधिक ध्यान दिया जाय तो इसका अर्थ यह निकलता है, "क्योंकि, वास्तव में, पहले कू लुन ही चिआओ-कङ्ग (कोचीन और कङ्ग-तुङ्ग) में आये थे, इसलिए पीछे से सब "कुन-लुन का देश" कहलाने लगे।" चीनी वाक्यों की अस्पष्टता बहुत हैरान करती है। प्रोफ़ेसर चेवेनीस (Prof. Chavannes) कहता है—"यदि हम त'अङ्ग के इतिहास के पाठ का (Chap. ccxxiic) मिलान इस वचन के साथ करें तो हमें पता लगता है कि फ़ोऊ-नन (स्याम) के लोगों का रंग श्याम है और वे नंगे रहते हैं। और वहाँ के राजा का कुल नाम कोऊ-लोङ्ग है, (मलक्का प्रायद्वीप में) पन-पन (P'an P'an) राज्य के राजा की उपाधि सम्राट् कोइन-लोइन अथवा कोऊ-लोङ्ग है। इसलिए जिस देश को इ-त्सिङ्ग किऊ-लोइन (Kiue-lœn) नाम से पुकारता है वह अवश्य स्याम और मलक्का प्रायद्वीप के राज्य ही होंगे, जहाँ का राजा अपने आप को एक ऐसे नाम से पुकारता है जिसे कोइन-लोइन, कोऊ-लोङ्ग अथवा किऊ-लोइन लिखा जा सकता है। इस देश के लोग भी काले हैं। जब चीनियों ने उनके नाम का प्रयोग दक्षिण समुद्रों की सभी जातियों के लिए किया था, तब इन लोगों का एक बड़ा भाग मलायी जाति का था। ये काले नहीं थे, और स्याम के अधिवासियों से बहुत ही भिन्न थे। यहीं किऊ-लोइन की उपजातियों का नाम अनुचित रूप से मलायी जाति के लिये पड़ गया है।" See Chavannes' Memoirs of I-tsing, p.63 note.

† कन-मन (Kan-man) एक संस्कृत शब्द बताया जाता है। चीनी में कभी-कभी हो-मन (Ho-man) लिखा है। मैं समझता हूँ, कन-

रीति है। इन चीज़ों का सविस्तर वर्णन अन्यत्र दक्षिण सागर के वृत्तान्त में किया जायगा। कन-चोऊ (-अन्नाम* का एक प्रान्त) से, ठीक दक्षिण की ओर, चलकर मनुष्य एक पक्ष से कुछ अधिक काल में पैदल, अथवा केवल पाँच या छः ज्वार-भाटों मे जहाज़ द्वारा, पी-किङ्ग† पहुँच जायगा। और अब और भी दक्षिण को जाकर मनुष्य चम्पा अर्थात् लिन-इ मे पहुँच जाता है।

इस देश के बैाद्ध प्रायः आर्यसम्मिति-निकाय के माननेवाले हैं, और थोड़े से सर्वास्तिवाद-निकाय के भी अनुयायी हैं।

दक्षिण-पश्चिम दिशा में चलने से मनुष्य (पैदल) एक मास मे पोह-नन (कूओ)‡ में, जो पहले फू-ननं कहलाता था, पहुँच जाता है। प्राचीन काल मे इस देश के अधिवासी नग्न रहा करते थे। ये लोग वहुधा आकाश (देवताओं) के उपासक थे। फिर बाद को, यहाँ वैाद्ध धर्म्म फैला, परन्तु अब एक दुष्ट राजा ने इस धर्म्म को

मन यहां संस्कृत शब्द कम्बल को दिखलाता है। विस्सन्देह इसका संकेत मलाई भाषा के शब्द 'सरोङ्गस' की ओर है। यह एक सूती या रेशमी वस्त्र का नाम है जो कमर से बाँधकर पांवों तक लटकता रहता है। लिअन वंश (५०२—५५७) के इतिहास मे लिखा है—"(स्याम में) स्त्री और पुरुष सब एक चैाड़ा और लम्बा सूती कपड़ा रखते हैं। इसे वे कमर के नीचे अपने शरीर पर लपेट लेते हैं। यह कन-मन अथवा तू-मन कहलाता है।" See Essays on Indo-China, 2nd series, vol. i. p 260.

* तोङ्गकिङ्ग के कहीं आसपास।

† 'शङ्ग-किङ्ग' निस्सन्देह छापे की भूल है। पी-किङ्ग चम्पा के उत्तर में और जिह-नन प्रान्त के अन्तर्गत है। यह प्रान्त, चीनी लेखकों के मतानुसार, ह्यू (Hue) के स्थान पर अथवा उसके आसपास एक प्रकार का उपनिवेश है। (देखो Essays on Indo-China, 2nd series, vol. i, p. 128 note, and Chavannes' Memoirs, p. 108 note) इस प्रकार पी-किङ्ग शायद तूरन (Turan) या इसके कहीं आस पास होगा।

‡ पोह नन स्याम है, किन्तु इसके अन्तर्गत कम्बोज का भी एक भाग है।

जड़ से उखाड़कर देश से बाहर निकाल दिया है। अब बौद्ध संघ का यहाँ कोई भी मनुष्य नहीं है परन्तु दूसरे धर्म्मों के अनुयायी (विधर्म्मी) मिले-जुले रहते हैं। यह प्रदेश जम्बुद्वीप का दक्षिणी कोना है, और समुद्र के द्वीपों में से एक द्वीप नहीं। पूर्वी हिसया (अर्थात् चीन) मे बौद्ध जनता बहुधा धर्म्मगुप्त-निकाय की अनुयायी है, किन्तु कन चुङ्ग (शेन-सी) मे कुछ स्थानों के लोग, प्राचीन काल से, महासङ्घिक-निकाय और धर्म्मगुप्त-निकाय दोनों को मानते हैं। प्राचीन काल में किअङ्ग-नन (यङ्ग-ट्ज़ी-किअङ्ग नदी के दक्षिण) और लिङ्ग-पियाओ (ओणी अर्थात् कङ्ग-तुङ्ग और कङ्ग-सी के दक्षिण) मे सर्वास्तिवाद-निकाय फैल चुका है। जब हम कहते हैं कि विनय दशाध्याय अथवा चतुर्वर्ग में विभक्त हैं तो ये नाम विशेषतः (उन) निकायों के ग्रहण किये हुए मूलग्रन्थों के भागों अथवा गट्ठों से लिये गये हैं। इन निकायों की विशिष्टताओं और इनकी शिक्षा के प्रभेदों की ध्यानपूर्वक परीक्षा करने से पता लगता है कि उनमे बहुत सी बातों पर मत-भेद है। जिस बात को एक महत्त्व देता है उसे दूसरा वैसी नहीं समझता, और जिसकी एक मे आज्ञा है उसका दूसरे में निषेध है। परन्तु भिक्षुओं को चाहिए कि अपने-अपने निकायों की रीतियों का अनुसरण करें, और अपने मत के कड़े नियमो को छोड़कर दूसरे की कोमल शिक्षा का अवलम्ब न करें। साथ ही उन्हें, इस विचार से कि क्योंकि हमारे अपने निकायों मे हम पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं, दूसरे निकायों के निषेधों से घिन न करनी चाहिए; नहीं तो निकायों के बीच के प्रभेद स्पष्ट न रहेंगे, और निषेध तथा आज्ञा-सम्बन्धी नियम छिप जायँगे। एक व्यक्ति चारों निकायों की आज्ञाओं का पालन कैसे कर सकता है?

फटे कपड़े और सोने की छड़ी का दृष्टान्त यह दिखलाता है कि हम (जो भिन्न-भिन्न निकायों के अनुगामी हैं) समान रूप से कैसे

निर्वाण* प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए जो धर्म्म के अनुसार आचरण करते हैं उन्हें अपने अपने निकायों की रीतियों का अनुसरण करना चाहिए।

(इ-त्सिङ्ग की टीका)—महाराज विम्बिसार ने एक बार देखा कि एक कपड़े और एक सोने की छड़ी दोनों के अठारह-अठारह टुकड़े हुए पड़े हैं।

उसने भयभीत होकर बुद्ध से इसका कारण पूछा। उत्तर में बुद्ध ने कहा—"मेरी निर्वाण-प्राप्ति के बाद एक सौ से अधिक वर्ष गुज़र जाने पर अशोक† नाम का एक राजा होगा, जो सारे जम्बु-

---

* ह्वेन-त्साङ्ग ने इस भाव को भली भांति प्रकट किया है। देखिए Julien, Memoires, i, 77: और प्रोफेसर हाईस डेविड्स कृत Manual of Buddhism, p.218.

"दार्शनिक सम्प्रदायों का आपस में सदैव झगड़ा रहता है, और उनके प्रचण्ड वाद-विवादों का कोलाहल सागर की तरङ्गों के सदृश उठता है। भिन्न-भिन्न मतों के अनुयायी विशेष गुरुओं के शिष्य बन जाते हैं और भिन्न-भिन्न मार्गों से एक ही लक्ष्य पर आ पहुँचते हैं।"

† चीनी त्रिपिटक में अशोक की निम्नलिखित चार तिथियाँ मिलती हैं—

१. बुद्ध के निर्वाण के ११६ वर्ष बाद।
२. " " ११८ " "।
३. " " १३० " "।
४. " " २१८ " "।

यह अन्तिम तिथि अधिक मनभावनी है क्योंकि यह पाली या सिंहाली मूलों से प्राप्त तिथि से मिलती है। यह सुदर्शन-विभाषा विनय नामक पुस्तक में, जिसका सन् ४८९ ई० में चीनी में अनुवाद हुआ था, मिलती है। इस पुस्तक में ऐसी अनेक तिथियाँ हैं जो सबकी सब सिंहाली पुरावृत्त से मिलती हैं। बौद्ध संघों, भारत और सिंहल के राजाओं के नामों, अशोक के प्रेरितगण, और लङ्का में महेन्द्र के काम के वर्णन सब लङ्का के ऐतिहासिक वृत्तान्तों से बहुत सादृश्य रखते हैं। इससे फिर यह प्रकट होता है कि हमें विनय-पुस्तकों पर, जो कि चीन के बौद्ध ग्रन्थों में सबसे ज़ियादह विश्वास्य हैं, अधिक ध्यान देना

द्वीप पर राज्य करेगा। उस समय अनेक भिक्षुओं द्वारा दी हुई मेरी शिक्षा अठारह सम्प्रदायों मे अलग-अलग हो जायगी, परन्तु अन्त मे सब मिल जायँगे, अर्थात् सभी मोक्ष रूपी लक्ष्य पर पहुँच जायँगे। हे राजन्, स्वप्न यही भविष्यद्वाणी करता है, तुम्हें डरने का कोई प्रयोजन नहीं !"

चार निकायों मे से कौन से महायान के साथ अथवा हीनयान के साथ लगाने चाहिएँ, इसका निश्चय नहीं है।

उत्तर भारत मे और दक्षिणस्थ सागर के द्वीपों मे लोग प्रायः हीनयान के अनुयायी हैं परन्तु चीन* में महायान के भक्त हैं। दूसरे स्थानों में कोई एक के अनुसार चलता है और कोई दूसरे के अनुसार। आओ अब हम परीक्षा करे कि वे किसके अनुगामी हैं। वे दोनों एक ही विनय को मानते हैं। पञ्च स्कन्धों के निषेध और चार आर्य सत्यों का अनुष्ठान दोनों में सामान्य है।

जो लोग बोधिसत्त्वों की उपासना करते और महायान सूत्रों को पढ़ते हैं वे महायानी, और जो ये बातें नहीं करते वे हीनयानी कहलाते हैं। जिसे महायान कहा जाता है उसके केवल दो प्रकार हैं। पहला माध्यमिक, और दूसरा योग। इनमें से पहले का मत है कि जिसे सामान्यतः अस्ति कहते हैं वह वास्तव में नास्ति है, और प्रत्येक वस्तु, माया के सदृश, एक ख़ाली आभास मात्र है। दूसरा कहता है कि वस्तुतः अन्तःविचारों के सिवा बाह्य वस्तु कोई नहीं, और सब वस्तुओं का अस्तित्व केवल हमारे मन मे ही है। (शब्दशः—सब वस्तुएँ केवल हमारा मन ही हैं)।

चाहिए। इस पुस्तक के विनय-ग्रन्थो में सुरक्षित होने के कारण किसी भी विद्वान् का ध्यान इस बात पर नहीं गया कि यह तिथि "बुद्ध-निर्वाण" के २१८ वर्ष बाद इस विशेष पुस्तक में पाई जाती है।

* चीनी पाठ में 'दिव्य भूमि' और 'कषाय प्रदेश' है, जिनसे अभिप्राय चीन से है।

ये दोनों दर्शन पूर्णतः आर्य मत के अनुसार हैं। तो क्या हम कह सकते हैं कि इन दो* में से कौनसा सत्य है? दोनों समान रूप से सत्य के सदृश हैं और हमे निर्वाण तक ले जाते हैं। न तो हम यह मालूम कर सकते हैं कि कौन सा सच्चा है, न यह कि कौन झूठा है। दोनों का लक्ष्य क्लेश का विनाश और प्राणि-मात्र का उद्धार है। इन दोनों के सापेक्ष गुणों का निश्चय करने के यत्न मे हमें ध्यान रखना चाहिए कि हम कहीं अधिक गड़बड़ उत्पन्न करके और भी ज़ियादह घबराहट मे न पड़ जायँ।

यदि हम इनमें से किसी एक के अनुसार आचरण करेंगे तो दूसरे किनारे (निर्वाण) पर जा पहुँचेंगे, और यदि हम उनसे मुख मोड़ लेंगे तो पुनर्जन्मरूपी महासागर मे डूबे रहेंगे। दोनों पद्धतियाँ समान रूप से भारत मे सिखाई जाती हैं क्योंकि आवश्यक बातों में उनका आपस में भेद नहीं।

हमारे अभी 'ज्ञान-चक्षु' नही। हम उनमे सच और झूठ को कैसे पहचान सकते हैं?

हमे ठीक वैसे ही करना चाहिए जैसे कि हमारे पूर्वाधिकारियों ने किया है, और उनके विषय में अपना निर्णय करने का कष्ट नही उठाना चाहिए। चीन में, सभी विनयधरों के सम्प्रदाय भी पक्षपात से भरे हुए हैं, और व्याख्याताओं और टीकाकारों ने इस विषय पर बहुत ज़ियादह टिप्पणियाँ लिखी हैं। इन्होंने पाँच स्कन्धों (दुरित-समूह) और सात स्कन्धों के बहुत से ऐसे वचनों को, जो अब तक सुगम थे, कठिन बना दिया है। उन्होंने अपराधों का पहचानना, जो पहले स्पष्ट था, मुश्किल और नियमों के आचरण और उपायों को दुर्बोध, कर दिया है।

फलतः (विनय के ज्ञान के पश्चात्) मनुष्य की आकांक्षा

* इ-त्सिङ्ग का तात्पर्य यहाँ महायान और हीनयान से जान पड़ता है।

आरम्भ में ही (शब्दशः—'पर्वत बनाने मे मिट्टी की एक टोकरी पर ही') निराश हो जाती है, और मनुष्य का अनुराग केवल एक उपदेश सुनने पर ही घटने लगता है। यहाँ तक कि उच्चतम बुद्धि के लोग भी बालों के पक जाने के बाद ही इनके अध्ययन मे सफलता लाभ कर सकते हैं, और मध्यम अथवा अल्प योग्यता के मनुष्य तो बालों के बिलकुल सफ़ेद हो जाने पर भी इस काम को पूर्ण नहीं कर सकते।

विनय की पुस्तकें क्रमशः परिवर्धित की गई थीं, परन्तु वे दुर्बोध हो गईं, यहाँ तक कि उनका पारायण एक पूरे जीवन का काम हो गया है।

गुरुओं और शिष्यों ने एक निराली रीति ग्रहण की है। वे प्रकरण को छोटे-छोटे खण्डों मे अलग कर के उन पर संवाद करते हैं। वे अपराधों से सम्बन्ध रखनेवाले लेखों का वर्णन, उन्हे वाक्यों में विभक्त करके, करते हैं।

इस रीति में जितना परिश्रम होता है उसके लिए उतने बड़े उद्यम का प्रयोजन है जितना कि एक पर्वत बनाने के लिए चाहिए; और लाभ उतना ही कठिन है जितना कि विस्तीर्ण महासागर से मोतियों की प्राप्ति।

ग्रन्थकर्त्ताओं को यत्न करना चाहिए कि उनके वर्णित विषय को पाठक सुगमता से समझ जायँ। उन्हें ऐसी गूढ़ भाषा का व्यवहार न करना चाहिए जिसके लिए बाद को, दूसरों के उपहास करने पर, समाधान की आवश्यकता हो।

जब नदी में बाढ़ आने से उसका जल गहरे कूँए मे भर गया हो उस समय कूँए का शुद्ध जल पान करने की इच्छा रखनेवाला प्यासा मनुष्य अपने जीवन को जोखिम में डालकर ही जिस प्रकार उसे प्राप्त कर सकता है, उसी प्रकार बहुत से लोगों के हाथों मे से

गुज़रने के बाद विनय का ज्ञान प्राप्त करना कठिन है। परन्तु विनय के केवल मूल पाठ को देखें तो वहाँ यह बात नहीं।

छोटे अथवा बड़े अपराधों का निर्णय करने के लिए केवल थोड़ी सी पंक्तियाँ ही पर्याप्त होती हैं। अभियोगो का निर्णय करने के निमित्त उपायों की व्याख्या मे मनुष्य को आधा दिन भी नहीं लगता। भारत और दक्षिण सागर के द्वीपों में भिक्षुओं मे अध्ययन का व्यापक उद्देश ऐसा ही है। दिव्य भूमि (चीन) में दूसरों के प्रति कर्तव्य (औचित्य) की शिक्षा का प्रचार सर्वत्र है; लोग अपने राजा तथा अपने माता-पिता का पूजन और सेवन करते हैं; वे अपने बड़ों का आदर करते और उनके अधीन रहते हैं। उनका जीवन सरल और उनका चरित्र शान्त और प्रिय है। वे वही लेते हैं जिसे ईमानदारी से ले सकते हैं।

पितृभक्त सन्तान और राजभक्त प्रजा बड़ी सावधानी से कार्य करती और मितव्ययी है। सम्राट् अपनी करोड़ों प्रजाओं पर हित-भाव से शासन करता और उषाकाल से अभागे लोगों* पर बड़े यत्न से (शब्दशः 'अपनी चिन्ता पर ज़ोर डालकर') दया करता है। उसके मन्त्री, जिनके मन सारी-सारी रात राज्य-कार्यों पर विचार करते रहते हैं, अपने कर्तव्य को आदर (शब्दशः—हाथ बाँधे) और ध्यान (शब्दशः—'मानो बर्फ़ पर चल रहे हों') से पूरा करते हैं।

कभी-कभी एक सम्राट् त्रियान† के लिए बड़ा मार्ग खोल देता और सैकड़ों पीठें तैयार करके अध्यापकों को निमन्त्रित करता है। कभी-कभी वह अपने सारे राज्य मे चैत्य बनवाता है ताकि सर्व बुद्धिमान् लोग अपने मन को बुद्ध-धर्म्म की ओर प्रवृत्त करें। अथवा वह अपने राज्य मे यत्र-तत्र सङ्घाराम बनवाता है ताकि सभी अज्ञानी

---

* शब्दार्थ—'जैसे वे खाइयों में गिरे हों।'

† धर्मसंग्रह के अनुसार, श्रावकयान, प्रत्येक बुद्धयान, और महायान।

अपने पुण्य को परिपक्व करने के लिए वहाँ जाकर उपासना करें। किसान अपने खेतों में हर्ष से गाते और व्यापारी अपने पोतों पर अथवा अपने छकड़ों पर आनन्द से राग अलापते हैं। वास्तव मे कुक्कुटों की पूजा करनेवाले लोग (अर्थात् कोरिया), हाथियों का अभिवन्दन करनेवाले लोग (भारत), और चिन-लिन (शब्दार्थ, स्वर्ण-प्रतिवासी) तथा यू-लिन (शब्दार्थ, रत्न-पर्वत*) के प्रदेशों के अधिवासी सम्राट् की सभा में आकर पादवन्दन करते हैं। हमारे लोग शान्त अवस्था मे शान्ति-पूर्वक अपना कारबार करते हैं (अथवा 'शान्ति और सुख हमारे उद्देश हैं'), और प्रत्येक बात ऐसी पूर्ण है कि उसमें और वृद्धि की गुञ्जायश नहीं।

(इ-त्सिङ्ग की टीका)—कुक्कुट की पूजा करनेवाले कौली (कोरिया) के लोग हैं। इसे भारत मे कुक्कुटेश्वर कहते हैं, जिसका अर्थ है, कुक्कुट = मुर्ग़ा, और ईश्वर = पूज्य। भारत के लोग कहते हैं कि उस देश के अधिवासी कुक्कुटों को देवता समझ कर पूजते हैं, और इसलिए उनके पङ्खों को सजावट के चिह्न† के रूप में सिर पर पहनते हैं। हाथियों की पूजा करनेवाले भारतीय लोग हैं, जिनके

* काश्यप के मतानुसार, चिन-लिन (शब्दार्थ, स्वर्ण-प्रतिवासी) और 'चिन-चोऊ' (शब्दार्थ, सोने का टापू) जो कि संस्कृत शब्द स्वर्ण-द्वीप के अनुरूप है, दोनों एक ही हैं। 'स्वर्ण-द्वीप' नाम का व्यवहार इ-त्सिङ्ग ने एक बार सुमात्रा अथवा श्रीभोज के लिए अवश्य किया है। कहते हैं, यहाँ सोना बहुतायत से होता है।

यू-लिन (शब्दार्थ, रत्न-पर्वत), काश्यप के लेखानुसार, यू-मेन-कन (शब्दार्थ, रत्न-द्वारपथ) है जो कि को-को नदी (सम्भवत: को-को-नोर) के समीप बनाया गया था।

† इस कथा का मूल ज्ञात नहीं; किन्तु कोरिया को कभी-कभी की-लिन, अर्थात् 'कुक्कुट-वन' भी कहते हैं।

राजा हाथी को बहुत ही पवित्र समझते हैं। भारत के पाँचों खण्डों में यह बात सब कहीं पाई जाती है।

जिन चीनी भिक्षुओं ने घर-बार छोड़ दिया है वे नियमों का पालन करते और व्याख्यान देते हैं। शिष्यगण गम्भीरता-पूर्वक अध्ययन करते और अपने-अपने गुरुओं के पढ़ाये हुए अतीव गहरे सिद्धान्तों को समझते हैं। ऐसे भी लोग हैं, जो सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर किसी गहरी दरी में एकान्तवास कर रहे हैं। वहाँ वे अपने विचारों को शान्त करने मे लगे हुए, पथरीली नदी के जल से मुँह को धोते और वृक्षाकीर्ण वनों मे बैठते हैं।

दिन मे छः बार घूमने और अर्चन करने से वे पवित्र श्रद्धावानों के किये हुए उपकारों का बदला चुकाने का यत्न करते हैं; रात मे दो बार गम्भीर ध्यान मे मग्न होने से वे देवों और मनुष्यों के पूज्य बन जाते हैं। इन क्रियाओं की आज्ञा सूत्र और विनय देते हैं। यहाँ कोई अपराध कैसे हो सकता है? परन्तु ऊपर से चले आने-वाले कुछ अशुद्ध उलथाओं के कारण विनय के नियम की हानि हुई है, और नित्य दुहराई हुई भूले रीतियाँ बन गई हैं जोकि मूल सिद्धान्तों के विपरीत हैं। इसलिए, आर्य-शिक्षा और भारत मे वस्तुतः प्रचलित बड़ो-बड़ी रीतियों के अनुसार, हमने बड़ी सावधानी से आगे दिये लेख लिखे हैं। इनकी संख्या चालीस है, और मैंने इन्हें चार ग्रन्थ-खण्डों मे विभक्त किया है। इसका नाम है 'नन-है-ची-कुएई-नै-फ़ा-चू'अन', अर्थात् 'दक्षिण समुद्र से स्वदेश भेजा हुआ पवित्र धर्म्म का इतिहास।' इसके साथ मैं आपके पास अपनी एक दूसरी रचना, 'ता-त 'अङ्ग-सी-यू-कू-फ़ा-कओ-सेङ्ग-चू 'अन' अर्थात् 'उन विश्रुत भिक्षुओं के वृत्तान्त जिन्होने महा 'त-अङ्ग कुल (६१८ ई०—६०७ ई०) के अधीन धर्म्म-जिज्ञासा के लिए भारत और उसके समीपवर्ती देशों की यात्रा की थी,' और

कई सूत्र और शास्त्र, सब मिलाकर, दस पुस्तकें* भेज रहा हूँ। मुझे आशा है कि पूज्यपाद भिक्षुगण, जो अपने धर्म्म-प्रचार में तत्पर हैं और जिनमे किसी प्रकार का पक्षपात नही, बुद्ध भगवान् की शिक्षा तथा आचरण के अनुसार विवेक-पूर्वक आचरण करेंगे, और ग्रन्थकर्त्ता को तुच्छ समझने के कारण इस ग्रन्थ मे वर्णित महत्त्वपूर्ण नियमों की उपेक्षा न करेंगे।

फिर, प्राचीनों से मिले हुए सूत्रों और शास्त्रों के सिद्धान्त तथा आशय छोटी से छोटी बातों मे (भारत के) ध्यान-सिद्धान्त से मिलते हैं, किन्तु मेरे सन्देश में स्थिर ध्यान के रहस्यों का वर्णन करना कठिन है। इसलिए मैंने उन्हीं धर्म्मानुष्ठानों का मोटा-मोटा वर्णन किया है जो कि विनय-वाद से मिलते हैं, और आपके सम्मुख उन्हीं शब्दों को रखा है जिनका आधार मेरे आचार्यों के प्रमाण हैं। चाहे आज सूर्यास्त के साथ मेरा जीवन-प्रदीप बुझ जाय, फिर भी मैं कोई ऐसा काम करने के लिए परिश्रम कर रहा हूँ जिससे धर्म्म की उन्नति हो सके। यह प्रज्वलित प्रदीप चाहे प्रातःकाल ही बुझ जाय, फिर भी मुझे आशा है कि भविष्य में सैकड़ों दीपक बराबर जलते रहेंगे। यदि आप मेरे इस लेख को पढ़ेंगे तो एक भी पग चलने के बिना, आप भारत के समस्त पञ्च-प्रदेशों की यात्रा कर लेंगे, और एक ही मिनट देने पर आप भावी सहस्रों युगों के लिए तमोमय मार्ग का दर्पण बन जायँगे। मेरी प्रार्थना है कि आप कृपा करके त्रिपिटक का ध्यान से पाठ और अनुशीलन कीजिए, और चार तरङ्गें† उत्पन्न करने के लिए धर्म्म-रूपी महासागर को पीटिए; और पाँच स्कन्धों के प्रमाण के सहारे छः कामनाओं मे डूबे हुए

---

* इनमें नागार्जुन का सुहल्लेख, मातृचेट की १५० श्लोकों में गाथा, अनित्य-सूत्र और दूसरे ग्रन्थ थे।

† अर्थात् 'सभी लोगों'।

प्राणियों को पार लगाने के लिए दया का जहाज़ बनाइए। यद्यपि मुझे अपने आचार्यों से व्यक्तिगत आदेश मिला है, और मैंने अपने मत के गम्भीर आशय की पूर्ण रीति से परीक्षा की है, फिर भी मुझे अपने ज्ञान को अधिक विस्तृत और गम्भीर बनाने का प्रयोजन है; क्योंकि यदि मैं ऐसा न करूँगा तो बुद्धिमानों की दृष्टि में एक उपहास का विषय बन जाऊँगा।

इस ग्रन्थ की विषय-सूची नीचे दी जाती है—

१. वर्ष के न मनाने से मनुष्य पतित नहीं हो जाता।
२. पूज्यों के प्रति व्यवहार।
३. भोजन के समय एक छोटी कुर्सी पर बैठना।
४. पवित्र और अपवित्र भोजन की पहचान।
५. खा चुकने के पश्चात् सफ़ाई।
६. जल रखने के लिए दो लोटे।
७. कीड़ों के सम्बन्ध में जल की प्रातःकालीन परीक्षा।
८. प्रातःकाल दातुन का उपयोग।
९. उपवसथ संस्कार के नियम।
१०. भोजन और वस्त्र के सम्बन्ध में विशेष आवश्यकताएँ।
११. आच्छादन की रीति।
१२. भिक्षुणी के वस्त्र—अन्त्येष्टि-संस्कार के नियम।
१३. पवित्र प्राचीरों के विषय में नियम।
१४. परिषदों का वर्ष।
१५. प्रवारणा की अवधि।
१६. चम्चों और रोटी काटने की लकड़ियों का प्रयोग।
१७. धार्म्मिक अर्चना के लिए उचित समय।
१८. शौच पर।
१९. दीक्षा के नियम।

२०. स्नान के लिए ठीक अवसर।
२१. बैठने की चटाई के विषय में।
२२. निद्रा और विश्राम के नियम।
२३. स्वास्थ्य के लिए उचित व्यायाम के लाभ पर।
२४. वन्दना एक दूसरे के अधीन नहीं।
२५. गुरु और शिष्य का परस्पर बर्ताव।
२६. अपरिचितों अथवा मित्रों के प्रति व्यवहार।
२७. शारीरिक रोग के लक्षणों पर।
२८. औषधि देने के नियम।
२९. दुःखदायक वैद्यक चिकित्सा नहीं करनी चाहिए।
३०. पूजा में दाईं ओर को फिरना।
३१. पूजा की पवित्र चीज़ो को साफ़ करने मे औचित्य के नियम।
३२. स्तोत्र-गान प्रक्रिया।
३३. पवित्र चीज़ों की शास्त्र-विरुद्ध पूजा।
३४. भारत मे पठन-पाठन के नियम।
३५. लम्बे केशों की समीचीनता पर।
३६. मृत भिक्षु की सम्पत्ति का विनियोग।
३७. सङ्घ की सम्पत्ति का उपभोग।
३८. शरीर का जलाना अधर्म्मसङ्गत है।
३९. पास खड़े होनेवाले अपराधी हो जाते हैं।
४०. प्राचीन काल के धर्म्मात्मा लोग ऐसे अपकारक कामों का अनुष्ठान नहीं किया करते थे।

इस पुस्तक मे वर्णित सभी बाते आर्यमूलसर्वास्तिवाद-निकाय के अनुसार हैं, इसलिये दूसरे निकायों की शिक्षा के साथ इन्हें गड़-बड़ न कर देना चाहिए। इस ग्रन्थ के विषय प्रायः दशाध्याय के विनय से मिलते हैं।

आर्यमूलसर्वास्तिवाद-निकाय के तीन उप-विभाग* हैं—१-धर्म्म-गुप्त, २. महीशासक, ३. काश्यपीय।

निम्नलिखित स्थानों के सिवा ये तीन भारत में प्रचलित नहीं—

उद्यान, खरचर, और कुस्तन, जहाँ कुछ लोग इन निकायों मे दिये हुए नियमों पर चलते हैं।

जिसे दशाध्याय कहा जाता है उसकी विनय (यद्यपि असदृश नहीं) आर्यमूलसर्वास्तिवाद-निकाय से सम्बन्ध नही रखती।

---

* देखिए पृष्ठ ६. वहां चार उपविभाग कहे है और यहां तीन। इसका कारण यह है कि एक निकाय का नाम मूलसर्वास्तिवाद है, और यह नाम वही है जो कि मूल निकाय का है, इसलिए इ-त्सिङ्ग यहां इसे अलग नहीं गिनता।

पहला परिच्छेद

वर्ष (अथवा वस्स अर्थात् ग्रीष्म का एकान्त वास) न करने के विषय में

जो भिक्षु वर्ष* नहीं करते वे निस्सन्देह उससे होनेवाले दस† लाभों से वञ्चित रहते हैं, परन्तु इस बात के लिए कोई कारण नहीं कि उनको सम्प्रदाय मे उनके वास्तविक पद से नीचे के पद पर क्यों गिरा दिया जाय। न यही बात उपयुक्त है कि भिक्षु को सहसा अपनी क्रिया मे परिवर्तन करने और अपने से छोटे भिक्षु को, जो अभी कल ही उसे प्रणाम किया करता था, वन्दना करने पर विवश किया जाय। परन्तु पद से गिरा देने की यह रीति (चीन मे) प्रचलित थी, यद्यपि इसकी पुष्टि में कोई आप्तवचन या प्रमाण न था। क्योंकि यदि, वर्ष करते हुए, कोई बाहर का निमन्त्रण स्वीकार कर ले तो यह अपराध उतना ही बड़ा है जितना कि चोरी। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि रीति के आधारभूत

---

* वर्ष वास्तव मे वर्षा ऋतु के चार मास—आषाढ़ सुदी द्वादशी से कार्तिक द्वादशी तक—हैं। यह चातुर्मास्य बौद्ध भिक्षुओं के लिए एकान्त-वास का समय है। इस काल मे उन्हे यात्रा करने का निषेध है। उनके लिए मठ से बाहर किसी दूसरी जगह रहने की आज्ञा है। यह चातुर्मास्य वर्ष (पाली में वस्स) कहलाता है और बौद्ध जीवन मे एक बहुत महत्वपूर्ण काल समझा जाता है।

† दस लाभ वस्त्रों का अधिकार, प्रवास की स्वतन्त्रता, इत्यादि हैं। पाँच सत्व महावग्ग और विनय-संग्रह में दिये हैं।

नियमों की ध्यानपूर्वक परीक्षा करे और उनकी कभी उपेक्षा न करे। भिक्षु के पद का निर्णय उसकी दीक्षा की तिथि से होना चाहिए।

भिक्षु ने चाहे वर्ष न भी मनाया हो, उसे पद से नहीं गिराना चाहिए। यदि हम बुद्ध की शिक्षा का पाठ और मनन करें तो (इस रीति के लिए) उसमे कोई प्रमाण नही। तब पूर्व काल में किसने (चीनियों मे) इस रीति का प्रचार किया?

दूसरा परिच्छेद

पूज्यों के प्रति व्यवहार

बुद्ध की शिक्षा के अनुसार, जब कोई भिक्षु पवित्र प्रतिमा के सामने हो, या पूज्य आचार्यों के पास जाय तो, रोग की अवस्था को छोड़कर, उसे नङ्गे पाँव रहना चाहिए। आचार्यों अथवा प्रतिमाओं के सामने उसे कभी खड़ाऊँ पहरने की आज्ञा नहीं। उसका दायाँ कन्धा सदा नङ्गा और बायाँ उसके कंचुक से ढँका हुआ होना चाहिए। उसके सिर पर टोपी न हो। यदि (अपने से बड़े की) आज्ञा लेकर वह (खड़ाऊँ के साथ) दूसरे स्थानों में घूमे तो उसे कोई दोष नहीं। शीत प्रदेश मे, भिक्षु को छोटी-छोटी खड़ाऊँ अथवा उस देश के अनुरूप किसी प्रकार का जूता पहरने की आज्ञा है। भिन्न-भिन्न अर्चों (मूलार्थतः—दिशाओ) में स्थित देशों के जल-वायु मे बड़ा भारी अन्तर है।

बुद्ध की शिक्षा पर चलने के लिए कुछ नियमों मे थोड़ा-थोड़ा परिवर्तन करना आवश्यक है।

यह बात युक्तिपूर्वक स्वीकार करनी पड़ेगी कि शरीर की रक्षा के लिए हमे कड़ी सरदी के महीनों में अस्थायी रूप से अधिक कपड़े पहरने चाहिएँ, परन्तु वसन्त और ग्रीष्म मे मनुष्य को विनय के नियमों* का पूर्ण रूप से पालन करना चाहिए। खड़ाऊँ पहन कर

---

* बुद्ध की बताई हुई नीति को 'विनय' कहते हैं। सारी का नाम 'विनय-पिटकम्' है।

मनुष्य पवित्र स्तूप की प्रदक्षिणा न करे, इस बात की स्पष्ट शिक्षा आरम्भ से ही दी गई थी।

इस बात की घोषणा चिरकाल से की जा चुकी है कि भिक्षु गंधकुटी के पास पादुका* पहन कर न जाय किन्तु कई लोग ऐसे हैं जो सदा ही इन नियमों को भङ्ग करते हैं; और वास्तव मे हमारे बुद्ध के स्वर्गीय नियमों का यह भारी अपमान है।

---

* पाठ मे 'पुर' लिखा है, जो कि काश्यप के मतानुसार, संस्कृत में एक प्रकार का जूता है। मालूम नहीं, शुद्ध संस्कृत शब्द क्या है।

तीसरा परिच्छेद

भोजन के समय एक छोटी कुर्सी पर बैठना

भारत में भिक्षु लोग भोजन के पहले अपने हाथ-पाँव धोते और छोटी-छोटी कुर्सियों पर अलग-अलग बैठते हैं। यह कुर्सी सात इंच ऊँची और एक वर्गफुट चौड़ी होती है। उसका आसन बेत का बना होता है। इसके पाये गोल होते हैं, और समष्टिरूप से, कुर्सी भारी नहीं होती। परन्तु संघ के छोटे भिक्षुओं के लिए लकड़ी की पटरियाँ काम में लाई जा सकती हैं। वे अपने पाँव पृथ्वी पर रखते हैं, और थालियाँ (जिन में भोजन दिया जाता है) उनके सामने रक्खी जाती हैं। गाय के गोबर से भूमि लिपी होती है और उस पर हरे पत्ते बखेरे हुए होते हैं। ये कुर्सियाँ (चौकियाँ) एक एक हाथ के अन्तर पर रक्खी जाती हैं जिससे उन पर बैठने-वाले मनुष्यों का एक दूसरे से स्पर्श न हो। मैंने कभी किसी को एक बड़े पलँग पर पलथी मार कर भोजन करते नहीं देखा। बुद्ध के नियत किये हुए नियमों के अनुसार पलँग का माप बुद्ध की आठ उँगलियों की चौड़ाई होना चाहिए। अब बुद्ध की उँगली साधारण मनुष्य की उँगली से तीन गुना बड़ी बताई जाती है, इसलिए उसकी आठ उँगलियों की चौड़ाई हमारी चौबीस उँगलियों के बराबर हुई। चीनी माप में यह डेढ़ फ़ुट है। चीन (मूलार्थतः पूर्वी हिसया Hsia) के देवालयों मे पलँग की उँचाई दो फ़ुट से अधिक होती है; पर इससे बैठने का काम नही लिया जाता। क्योंकि जो इस पर बैठता है उसे ऊँचे पलँग पर बैठने का दोष (बुद्ध के आठ शीलों में

से एक) लगता है। वर्तमान काल के अनेक भिक्षु इस नियम को तोड़ रहे हैं; परन्तु उनका निस्तार कैसे होगा ? जो लोग इस नियम को भङ्ग करने के दोषी हैं उन्हें नाप-संहिता को देखना चाहिए।

परन्तु जिन पलँगों का उपयोग पवित्र चट्टान और चतुर्ध्यान* के मन्दिरों मे किया जाता है वे एक फ़ुट ऊँचे होते हैं। यह उँचाई प्राचीन काल के धर्म्मशीलों ने ठहराई थी और वास्तव में प्रामाणिक है।

पलथी मार कर साथ-साथ बैठना, और घुटनों को बाहर की ओर फैला कर भोजन करना, उचित रीति नहीं—कृपया इस पर ध्यान दीजिए। मैंने सुना है कि चीन में बुद्ध-धर्म्म के प्रचार के पश्चात् भिक्षुओं को भोजन के लिए चौकियों पर (पलथी मार कर नहीं) बैठने का अभ्यास कराया गया था। त्सिन-वंश (२६५ से ४१९ ई० तक) के शासन-काल में इस भूल का प्रचार हुआ और वे भोजन के समय पलथी मार कर बैठने लगे। कोई ७०० वर्ष (८ ई० पूर्व, ७००—६९२ = ८) हुए जब भगवान् बुद्ध का पवित्र धर्म्म पूर्व (चीन) में पहुँचा; दस वंशों की अवधि गुज़र चुकी है। प्रत्येक वंश का एक-एक योग्य प्रतिनिधि था। भारतीय भिक्षु एक दूसरे के पश्चात् चीन में आये, और तत्कालीन चीनी भिक्षुओं ने, उनके सामने दल के दल इकट्ठे होकर, उनसे उपदेश ग्रहण किया। कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने स्वयं भारत में जाकर यथार्थ अनुष्ठान को देखा। स्वदेश लौटने पर उन्होंने रीतियों में अशुद्धियाँ दिखलाईं, किन्तु उनमें से किसके पीछे लोग चले ?

सूत्रों† में यह बहुधा कहा गया है कि 'भोजन के पश्चात् अपने

---

* ये दो चीनी मन्दिर है—लिङ्ग-पेन और स्सू-शन। चीन में ऐसे नामधारी मन्दिर अनेक थे। काश्यप उदाहरण के लिए दो का उल्लेख करता है।

† देखो वज्रच्छेदिका।

पाँवों को धो डालो'; इससे यह स्पष्ट है कि वे पलग पर पलथी मार कर न बैठते थे (क्योंकि यदि उन्होंने पृथ्वी का स्पर्श नहीं किया तो पैरों को धोने से कुछ लाभ नहीं)।

और यह भी कहा गया है कि 'भोजन पाँवों के पास फेंक दिया जाता है'; इससे हम देख सकते हैं कि भिक्षुगण पृथ्वी पर पैरों को सीधा रख कर बैठा करते थे। बुद्ध के शिष्यों को बुद्ध की रीतियों पर चलना चाहिए। यदि उसके नियमों पर चलना सम्भव न भी हो तो भी उनकी हँसी उड़ाना अनुचित है।

यदि मनुष्य पलथी मार कर बैठता है, और अपने कपड़ों को घुटनों के इर्द-गिर्द लपेट लेता है, तो साफ़ रहना और भोजन को न गिराना (मूलार्थतः, 'अपनी पवित्रता की रक्षा करना') कठिन है, और गिरा हुआ भोजन तथा दाग़ वस्त्रों को सुगमता से लग जाते हैं।

बचे हुए झूठे भोजन को रख छोड़ना, जैसा कि चीन में किया जाता है, भारतीय नियमों के बिलकुल विरुद्ध है। झूठे भोजन को इकट्ठा करने से थालियाँ भ्रष्ट हो जाती हैं, और जो लोग परोसते हैं वे सुच (शुद्ध) बर्तनों को छूते हैं। इस प्रकार पवित्रता की रक्षा व्यर्थ हो जाने से, अभी तक कोई अच्छा परिणाम प्राप्त नहीं हुआ। कृपया इन बातों पर सावधानी से ध्यान दीजिए, और प्रत्येक रीति के सापेक्ष गुण को देखिए।

चौथा परिच्छेद

पवित्र और अपवित्र भोजन की पहचान

भारत के भिक्षुओं और भक्तजनों में यह रीति है कि वे पवित्र और अपवित्र भोजन में भेद करते हैं। यदि केवल एक भी ग्रास भोजन का खा लिया जाय तो यह अपवित्र (मूलार्थतः, 'छूआ हुआ') हो जाता है; और जिन बर्तनों मे भोजन रक्खा गया था उनका फिर उपयोग नहीं किया जाता। भोजन के समाप्त होते ही, जिन बर्तनों मे भोजन परोसा गया था उन्हें उठाकर एक कोने मे ढेर लगा दिया जाता है। बाक़ी बचा हुआ सारा भोजन उनको दे दिया जाता है जो धर्म्मतः ऐसा भोजन खा सकते हैं (अर्थात् प्रेतात्माएँ और पक्षी प्रभृति), क्योंकि इस भोजन को फिर खाने के लिए रख छोड़ना बहुत ही अनुचित है।

यह रीति धनवान् और निर्धन दोनों मे पाई जाती है। यह केवल हमी मे नहीं, प्रत्युत ब्राह्मणों (देवों) में भी प्रचलित है। कई शास्त्रों मे कहा गया है:—'शौच होने के बाद दातुन न करना तथा हाथ न धोना, और पवित्र तथा अपवित्र भोजन मे भेद न करना नीचता समझी जाती है। छूए हुए बर्तनों को दुबारा काम में लाने, पाकशाला में बचे हुए भोजन को रख छोड़ने, खाने से बचे हुए चावलों को एक सकोरे में डाल रखने, अथवा अवशिष्ट जूस को एक हाँड़ी में रख छोड़ने को उचित कैसे समझा जा सकता है? न बचे हुए (बासी) जूस और शाक-भाजी को दूसरे दिन सबेरे खाना ठीक है, और न बची हुई रोटी अथवा फलों को पीछे से खाना

ही। जो लोग 'विनय' के नियमों पर चलते हैं उन्हें इस भेद का कुछ ज्ञान हो सकता है, परन्तु जो लोग आलसी और प्रमादी हैं वे अनुचित मार्ग का अनुसरण करने के लिए इकट्ठे मिल जाते हैं। स्वागत अथवा किसी साधारण भोजन के अवसर पर एक दूसरे से स्पर्श नहीं करना चाहिए अथवा शुद्ध जल से कुल्ला किये बिना नये भोजन को मुँह न लगाना चाहिए। और प्रत्येक परोसन के पश्चात्, जिसका एक ग्रास मनुष्य को अपवित्र कर देता है, उसे दुबारा कुल्ला करना चाहिए। यदि कुल्ली किये बिना ही वह दूसरे को छू देता है तो वह छूआ हुआ मनुष्य अपवित्र हो जाता है और उसे अवश्य कुल्ला करना चाहिए। कुत्ते का स्पर्श हो जाने पर उसे अपनी शुद्धि करनी होती है। जो लोग भोजन खा चुके हैं उन्हें कमरे के एक पार्श्व मे इकट्ठा रहना चाहिए, उन्हें हाथ धोना और कुल्ला करना चाहिए, और भोजन के समय काम मे लाई हुई वस्तुओं और मैले बर्तनों को भी धो डालना चाहिए।

यदि वे इन बातों की उपेक्षा करेंगे तो उनकी की हुई प्रार्थना और मन्त्र-यन्त्र सब निष्फल होंगे, और उनके चढ़ाये हुए नैवेद्य को देवता स्वीकार नहीं करेंगे। इसीलिए मैं कहता हूँ कि यदि आप "तीन रत्नों" को अथवा देवताओं को चढ़ाने के लिए, अथवा स्वयं अपने साधारण आहार के लिए कोई भोज्य या पेय पदार्थ तैयार करें तो प्रत्येक वस्तु शुद्ध और पवित्र होनी चाहिए। भोजन करने अथवा शौच होने के बाद जब तक मनुष्य शुद्ध न हो ले, दुबारा चौके मे बैठने के अयोग्य होता है। यहाँ तक कि शुद्धि के लिए जगत् भी उपवास बताता है। जब लोग कनफ्यूशस के मन्दिर में बलिदान देने लगते हैं तब उनके लिए पहले अपने नाखूनों को काट लेना, और अपने शरीर को संयम मे तथा अशौच से मुक्त रखना आवश्यक होता है। इस प्रकार कन्फ्यूशस, उसके शिष्य येन ह्यू ई

और दूसरों से सम्बन्ध रखनेवाली बातों में भी शुद्धि का प्रयोजन है, और लोग झूठा भोजन नहीं चढ़ाते। भिक्षुओं के साधारण खाने अथवा स्वागत के लिए भोजन तैयार करते समय एक मनुष्य कार्याध्यक्ष होना चाहिए। यदि किसी उत्सव के अवसर पर भोजन की तैयारी मे विलम्ब हो, या अतिथियों को भय हो कि वे प्रतीक्षा मे निर्दिष्ट भोजन-काल से पीछे रह जायँगे, तो निमन्त्रित मनुष्य—चाहे वह भिक्षु हो और चाहे कोई साधारण भक्तजन—उस भोजन में से जो तैयार किया है पर अभी तक परोसा नही गया, अलग लेकर खा सकता है। इसकी बुद्ध ने आज्ञा दी है, और इसमें दोष नहीं है।

मैंने सुना है कि अभी भोजनों को प्रायः तीसरे पहर तक अटकाया जाता है (निर्दिष्ट भोजन-काल दोपहर है) और उसकी तैयारी की देख-भाल भिक्षु अथवा भिक्षुणियाँ करती हैं। यह उचित नहीं, क्योंकि मनुष्य भलाई करने मे एक अपराध कर देता है। अब पाँच प्रदेशों के भारत में और दूसरी जातियों में पहला और मुख्य भेद शुद्धता और अशुद्धता का असाधारण भेद है।

एक बार उत्तर के मङ्गोलों ने भारत में दूत भेजे। ये लोग पाख़ाना जाने के बाद हाथ नहीं धोते थे और अपने भोजन को थाल में रख छोड़ते थे। इसलिए इनसे वहाँ घृणा की गई और इनकी हँसी उड़ाई गई। इतना ही नहीं; इनका वहाँ तिरस्कार और निन्दा भी हुई, क्योंकि वे (फ़र्श पर) टाँगें सीधी पसार कर, एक दूसरे को छूते हुए इकट्ठे खाने बैठ जाते थे, वे सूअरों और कुत्तों के पड़ोस से दूर नहीं रहते थे, और दातुन नहीं करते थे। इसलिए जो लोग बुद्ध-धर्म्म का अनुष्ठान कर रहे हैं उन्हें इन बातों का बहुत ध्यान रखना चाहिए। परन्तु चीन मे प्राचीन काल से पवित्र और अपवित्र भोजन में कभी भेद नहीं किया गया।

यद्यपि वे इस विषय पर मेरे उपदेश को सुनते हैं, परन्तु जब तक मैं उनसे स्वयं मिलकर बातचीत न करूँगा, वे नियमों का पालन न करेंगे और उनमें जागृति न आयेगी।

पाँचवाँ परिच्छेद

खा चुकने के पश्चात् सफ़ाई

जब भोजन खा चुको तब हाथों को अवश्य साफ़ करो। जल लेने के लिए, या तो लोटा आप लाओ या दूसरों को लाने के लिए कहो। सफ़ाई करने के लिए (सोते से) बासन मे जल लिया जाय; अथवा किसी एकान्त स्थान मे (जहाँ जल सदा पास हो), अथवा प्रणाली पर अथवा नीचे उतरने की सीढ़ियों पर सफ़ाई की जाय। मुँह में दातुन को चबाओ; जीभ और दाँतों को ध्यानपूर्वक साफ़ और शुद्ध करो। यदि (अशुद्ध) लार अभी मुँह में बाक़ी हो तो धार्मिक उपवास न किया जाय। होठों को या तो मटरों के आटे के साथ या मिट्टी और पानी को मिला कर कीच के साथ साफ़ किया जाय, यहाँ तक कि चिकनाई का कोई धब्बा न रह जाय।

तत्पश्चात (कुल्ला करने के लिए) किसी साफ़ बर्तन मे से जल एक शङ्ख के प्याले में डालना चाहिए। यह प्याला या तो ताज़ा पत्तों पर रक्खा हो या हाथों में पकड़ा हुआ हो। यदि प्याला हाथ से छू जाय तो इसे साफ़ करने की तीन सामग्रियों, अर्थात् मटर के आटे, सूखी मिट्टी, और गाय के गोबर* से मलना, और धब्बे को दूर करने के लिए पानी से धो डालना चाहिए। एकान्त स्थान मे साफ़ बर्तन से पानी सीधा मुँह मे डाला जा सकता है, परन्तु सार्वजनिक स्थान में ऐसा करने का निषेध है। दो-तीन

---

* काश्यप कहता है, गाय के गोबर को संस्कृत मे 'गोमय' या 'गोमयी' कहते हैं, और चीनी गोमय गन्दा होने से सफ़ाई के लिए ठीक नहीं होता।

बार कुल्ला करने से मुँह प्रायः साफ़ हो जाता है। ऐसा किये बिना मुँह का पानी या थूक निगलने की आज्ञा नहीं। जो इस नियम को तोड़ने से अपने माहात्म्य को घटायेगा वह दोषी समझा जायगा। जब तक शुद्ध जल से कुल्ला न कर लिया हो, मुँह से थूक को बाहर फेंकते रहना चाहिए। यदि मुँह साफ़ किये बिना दुपहर का समय गुज़र जाय तो अपराधी निर्दिष्ट समय का व्यतिक्रम करने का दोषी ठहरेगा। लोगों को इस बात का वहुत कम ज्ञान है। यदि वे जानते भी हों तो इसे यथार्थ रूप से पालन करना सुगम नहीं। इस कड़ी दृष्टि से देखने पर, मटर का आटा या राख का पानी बर्तने से भी दोष से बिलकुल बचे रहना वास्तव मे कठिन है, क्योंकि दाँतो मे भोजन का धब्बा अथवा जीभ पर चिकनाई हो सकती है। बुद्धिमानों को इसे देखना और इस विषय मे सावधान रहना चाहिए। निस्संदेह, साफ़ बासन में जल तैयार किये बिना अथवा दातुन किये बिना, न तो भोजन के बाद हँसी और बकवाद मे समय नष्ट करना उचित है, और न दिन-रात अपवित्र और दोषी बने रहना ही ठीक है। यदि कोई अपने जीवन-काल में ऐसा आलस्य करता है तो दुःखों का कोई अन्त नहीं रहता। हम यह भी कह देते हैं कि अपने शिष्यों से शुद्ध जल मँगाना तथा बर्तन में से गिराना भी धर्म्म-संगत है।

छठवाँ परिच्छेद

जल रखने के लिए दो लोटे

पवित्र जल धोने के जल (मूलार्थतः, 'छुए हुए' जल) से अलग रक्खा जाता है, और प्रत्येक के लिए दो प्रकार के लोटे (अर्थात् कुण्डी और कलश) होते हैं। पवित्र जल के लिए मिट्टी के बर्तन का उपयोग किया जाता है और धोने के जल (मूलार्थतः, 'छुए हुए' जल) के लिए ताँबे अथवा लोहे का बर्तन होता है[*]। पवित्र जल पीने के लिए और छुआ हुआ जल मल-मूत्र त्यागने के पश्चात् शुद्धि के लिए हर वक्त तैयार रहता है। पवित्र लोटे को पवित्र हाथ मे पकड़ना और पवित्र स्थान मे रखना चाहिए, और 'छुए हुए' जल को 'छुए हुए' (अथवा 'अपवित्र') हाथ मे पकड़ना और अपवित्र (अथवा 'छुए हुए') स्थान पर रखना चाहिए। शुद्ध और ताज़ा लोटे का जल किसी भी समय पिया जा सकता है, प्रत्येक दूसरे लोटे का जल 'विशेष जल' (अधिक मूलार्थतः, 'समयोचित जल', अर्थात् विशेष निर्दिष्ट समयों पर उपयोग मे लाने का जल, सम्भवतः कालोदक) कहलाता है।

लोटे को सीधा सामने रख कर जल पीने में कोई दोष नहीं; परन्तु तीसरे पहर जल पीने की आज्ञा नहीं। लोटा मनुष्य के मुख के योग्य बनाना चाहिए, ढकने की चोटी दो अङ्गुल* ऊँची

---

* इसका तात्पर्य दो अंगुल-विस्तार है न कि दो अंगुल-संधि; काश्यप कहता है कि 'यह कोई एक चीनी इंच के बराबर होगा।'

चाहिए; इसमें (चीनियों की) रोटी खाने की ताँबे की लकड़ी के समान एक छोटा सा छिद्र किया जाता है।

पीने का ताज़ा जल ऐसी ही ठिलिया मे रखना चाहिए। ठिलिया के पार्श्व मे, पीने की टोंटी से दो अंगुल ऊपर, एक छोटी मुद्रा के समान गोल एक और छिद्र होता है। इस छिद्र के द्वारा जल डाला जाता है; इसमें दो-तीन गेलन आ सकती हैं। छोटी ठिलिया का उपयोग कभी नहीं किया जाता।

यदि धूल अथवा कीड़ों के अन्दर चले जाने का भय हो तो टोंटी और छिद्र दोनों को बाँस, लकड़ी, टाट, अथवा पत्तों से ढक दिया जाता है। कुछ भारतीय भिक्षु इस ढँग की ठिलियाँ बनाते हैं। पानी लेने के लिए, पहले ठिलिया को भीतर से धो लेना चाहिए जिससे मैल अथवा धूल सब धुल जाय, तब ताज़ा जल भरना चाहिए। क्या पवित्र और अपवित्र का विचार किये बिना जल लेना, या ताँबे की केवल एक ही छोटी सी ठिलिया रखना, अथवा जुड़े हुए ढकन को मुँह मे पकड़े हुए अवशिष्ट जल को बाहर गिराना उचित है? ऐसी ठिलिया काम में लाने के योग्य नहीं, क्योंकि इसमे पवित्र और अपवित्र जल मे भेद नहीं हो सकता। ऐसे बर्तन के भीतर मैल या दाग़ हो सकता है; यह इस योग्य नहीं कि इसमे ताज़ा जल रक्खा जाय, और छोटा होने के कारण, जल की राशि थोड़ी होती है, क्योंकि हर बार कोई एक गेलन या सवा दो सेर की आवश्यकता होती है।

ठिलिया रखने का थैला कोई दो फ़ुट लम्बे और एक फुट चौड़े सूती कपड़े का बनाया जाता है। इस कपड़े के दोनों सिरों को इकट्ठा करके इसे दुहरा कर लिया जाता है, और फिर मिलनेवाले किनारों को सी कर जोड़ दिया जाता है। इसके दोनों कोनों को

कोई साढ़े सात इञ्च* लम्बी दो रस्सियाँ लगाई जाती हैं। यात्रा में ठिलिया को थैले में रख कर कंधे से लटका लिया जाता है। जिस थैली मे भिक्षा माँगने का कटोरा रक्खा जाता है उसकी आकृति भी उपर्युक्त के सदृश ही होती है। इसके भीतर कटोरे का मुँह ऐसी अच्छी तरह से ढँप जाता है कि उसमें धूल नहीं पड़ सकती। इसकी पेंदी नोकदार होती है जिससे कटोरा इधर-उधर नहीं घूमता। परन्तु कटोरे की थैली ठिलिया के थैले से भिन्न होती है, जैसा कि अन्यत्र वर्णन किया गया है।†

यात्रा करते समय भिक्षु अपनी ठिलिया, भिक्षा-पात्र, आवश्यक वस्त्र कंचुक के ऊपर कंधों से लटका लेता है और छतरी हाथ में ले लेता है। बौद्ध भिक्षु के यात्रा करने की यही रीति है।

यदि उसका हाथ बहुत रुका हुआ न हो तो वह अपवित्र जल का लोटा तथा थैले में चमड़े का जूता भी ले लेता है और साथ ही हाथ में धातु का दण्ड तिर्छा पकड़े सुखपूर्वक चलता है...‡

* पाठ में 'वितस्ति' है, अर्थात् अँगूठे और मध्यमा उँगली को तानने पर उनके बीच की लम्बाई। काश्यप के अनुसार यह बारह अङ्गुल या साढ़े सात इंच लम्बी होती है। 'सुगतवितस्ति' के लिए देखो पातिमोक्ख।

† मूलसर्वास्तिवाद-सम्युक्तवस्तु, अध्याय ३३।

‡ यहाँ एक चीनी वाक्य है जिसका अर्थ मेरी समझ में नहीं आया। इसका अर्थ कुछ ऐसा जान पड़ता है—'यह रीति कौए के दृष्टान्त—चाँद पर सूत्र-वाली रीति के ठीक अनुरूप है।' टीकाकार इस पर सिवा इसके और कुछ नहीं कहता कि पक्षी का दृष्टान्त—'चाँद पर सूत्र' एक सूत्र का नाम है, अर्थात् कौए और चाँद के दृष्टान्त का सूत्र, जो कि, उसके कथनानुसार, मिङ्ग वंश में छपी हुई त्रिपिटक-नामावलि के दूसरे खण्ड का २३ वाँ है (नाञ्जियो की नामावलि, नं० ६४८, चन्द्रोपमान-सूत्र)। परन्तु इस सूत्र में कोई भी बात ऐसी नहीं जो हमारे वाक्यों के अनुरूप हो।

राजगृह के चैत्यों, बोधिवृक्ष, गृध्रकूट, मृगदाव, वह पवित्र स्थान जहाँ शालवृक्ष सारस के पङ्खों के समान श्वेत* हो गये थे (कुशि-नगर में), और वह निर्जन कुञ्ज जो कि गिलहरी† को समर्पित किया गया है, इनकी यात्रा के काल मे।

इन कालों में यात्रा करनेवाले भिक्षु उपर्युक्त स्थानों में से प्रत्येक मे प्रति दिन प्रत्येक प्रदेश से सहस्रों की संख्या में इकट्ठे होते हैं, और सभी इसी रीति से यात्रा करते हैं। नालन्द मठ के पूजनीय और विद्वान्

---

* इसका संकेत उस कथा की ओर है कि बुद्ध के निर्वाण के समय, ऋतु न होने पर भी, वृक्षों में फूल आ गये (महापरिनिब्बान सुत्त)।

† 'गिलहरी का कुञ्ज' कलन्तक-निवाप है जिसे वेणु-वन भी कहते हैं। कलन्तक या कलन्दक एक पक्षी होता है। परन्तु यह भूल मालूम होती है।

सङ्घभेदकवस्तु इस कुञ्ज का वर्णन इस प्रकार करता है—

'बाँसों का यह कुञ्ज एक समय एक धनवान् व्यक्ति का था। बिम्बिसार अपने युवराज-काल में इस आराम मे आनन्द लिया करता था और चाहता था कि उसका स्वामी वह उसको दे दे। परन्तु उसने देने से इन्कार कर दिया। जब युवराज गद्दी पर बैठा तब उसने बलात् उस आराम को अपने अधिकार में कर लिया। मालिक को बहुत दुःख हुआ और वह हृत्पीड़ा से मर गया। मृत्यु के बाद वह राजा से बदला लेने के लिए साँप बन गया। वसन्त काल में सुन्दर पुष्प खिल रहे थे; राजा अनेक दासियों सहित बाग मे गया। वाटिका में घूमने के पश्चात् उसे निद्रा ने घेर लिया। पुष्पो से मोहित होकर सब दासियाँ राजा को छोड़कर चली गईं, केवल एक ही दासी खड्ग लिये राजा की रक्षा कर रही थी। उस समय एक विषधर साँप प्रकट हुआ। वह सोये हुए राजा पर आक्रमण करना ही चाहता था कि इतने मे कलन्दक ज़ोर से चिल्लाने लगा। पहरे पर खड़ी दासी ने साँप को देख कर काट डाला। राजा की इस सेवा के बदले मे, महाराज ने इस आराम को पक्षियों के नाम पर समर्पण करके इसका नाम 'कलन्दक-वेणु-वन' रक्खा।'

कलन्दक के लिए देखिए 'महावग्ग।'

भिक्षु पालकियों मे सवार होते हैं परन्तु घोड़े पर कभी नही चढ़ते, और महाराज मठ के भिक्षु भी ऐसा ही करते हैं। इस अवस्था में आवश्यक सामग्री या तो दूसरे व्यक्ति उठाते हैं या लड़के;—पश्चिम (भारत) के भिक्षुओं मे ऐसी ही रीतियाँ हैं।

सातवाँ परिच्छेद

कीड़ों के सम्बन्ध में जल की प्रातःकालीन परीक्षा

प्रति दिन सवेरे पानी की परीक्षा करनी चाहिए। उसके अनुसार जैसा कि वह भिन्न-भिन्न स्थानों, अर्थात् ठिलिया, कुएँ, पुष्करिणी, अथवा नदी में पाया जाता है। इसकी परीक्षा के साधनों मे भी भेद है। प्रातःकाल पहले ठिलिया के जल की परीक्षा करनी चाहिए। ठिलिया को टेढ़ा करके कोई चुल्लू भर पानी काँसे के साफ़ कटोरे मे, पीतल की डोई, शङ्ख, अथवा लाख के बासन मे डालो और उसे धीरे-धीरे एक ईंट पर गिराओ। या, इस काम के लिए बनाये हुए एक काष्ठ-यन्त्र के द्वारा, जल को कुछ पल तक, मुँह को हाथ से बन्द किये हुए ध्यानपूर्वक देखो। इसी प्रकार किसी बासन अथवा बटलोही मे भी इसकी परीक्षा करना अच्छा है। बाल की नोक के समान छोटे कीड़ों को भी बचाना चाहिए। यदि कोई कीड़ा दिखाई दे तो पानी को फिर ठिलिया मे लौटा दो, और दूसरा पानी लेकर बर्तन को दो बार धोओ यहाँ तक कि इसमे कोई कीड़ा न रह जाय। यदि पड़ोस मे कोई नदी अथवा पुष्करिणी हो तो ठिलिया को वहाँ ले जाकर कीड़ों वाला जल बाहर फेंक दो, और ताज़ा छाना हुआ जल उसमें भर लो। यदि कुआँ हो तो इसके जल को सामान्य रीति के अनुसार छान कर काम मे लाओ। कूप-जल की परीक्षा-विधि यह है कि कुछ जल निकाल चुकने के बाद, कोई चुल्लू भर काँसे के कटोरे मे डाल कर, उपर्युक्त रीति से, जल-पात्र मे इसे ध्यानपूर्वक देखो।

यदि कोई कीड़ा न हो तो इस जल का उपयोग रात भर किया जा सकता है, और यदि कोई कीड़ा निकले तो इसे उपर्युक्त रीति के अनुसार छानना आवश्यक है। नदी अथवा पुष्करिणी के पानी की परीक्षा का सविस्तर वर्णन विनय* मे मिलता है।

पानी को छानने के लिए भारतीय लोग बारीक श्वेत वस्त्र का उपयोग करते हैं, और चीन में बारीक रेशमी कपड़े से, हलकी सी मॉड़ देने के बाद, यह काम लिया जा सकता है, क्योंकि कच्चे रेशम के जाल-छिद्रों में से छोटे-छोटे कीड़े सुगमता से चले जाते हैं। हूचिह (एक सामान्य माप का नाम) के कोई चार फ़ुट भर कोमल टसर का टुकड़ा लो और किनारों से पकड़ कर इसे लम्बाई में रक्खो, तब दोनों सिरों को लेकर इसे दुहरा कर दो और उन्हें सीकर एक जाल सा बना दो। फिर इसके दोनों कोनों के साथ रस्सियाँ और दोनों पार्श्वों के साथ तुकमे लगाओ। तब इसे चौड़ा तानने के लिए इस के आर पार एक डेढ़ फ़ुट लम्बी लकड़ी रक्खो। अब इसके दोनों सिरों को बल्लियों से बाँध कर इसके नीचे एक बासन रख दो। जब आप बटलोही मे से इसमें पानी डालें, तब इसकी पेंदी चालनी के अन्दर होनी चाहिए, जिससे जल-बिन्दुओं के साथ कोई कीड़ा न गिर पड़े, और भूमि पर अथवा बासन मे गिर कर नष्ट न हो जाय। ज्योंही चालनी में से पानी निकल आये, इसको उलचो और इसकी परीक्षा करो। यदि इसमें कीड़े हों तो इसे वापस कर दो, और यदि यह यथेष्ट स्वच्छ हो तो इसका उपयोग करो। जब पर्याप्त पानी प्राप्त हो जाय तब चालनी को उलटा दो। इसे दो मनुष्य दोनों सिरों से पकड़ते हैं। इसे 'जीव-रक्षक-पात्र' में रक्खो, इसे तीन बार पानी से खँघाल डालो, और इसके बाहर की ओर से इस पर फिर पानी डालो। इससे एक बार फिर पानी डालो,

* देखिए विनय-संग्रह।

ताकि चालने से मालूम हो जाय कि कहीं अब इसमे कोई कीड़ा तो नहीं। यदि कोई कीड़ा न मिले तो किसी भी प्रकार चालनी को दूर कर दो। इस प्रकार छान लेने पर भी, रात भर के रक्खे हुए पानी को, दुबारा जाँचने की आवश्यकता होती है; क्योंकि जो मनुष्य रात भर के पड़े हुए जल की, चाहे इसमें कीड़े हों चाहे न हों, जाँच नहीं करता, विनय में, उसे दोषी कहा गया है।

पानी निकालते समय प्राणियों की रक्षा करने की अनेक विधियाँ हैं। जिस चालनी का अभी वर्णन हुआ है वह कुएँ से जल निकालने के लिए ठीक है। नदी या जलाशय की अवस्था मे पानी को एक दुहरी* ठिलिया द्वारा, जो कि जल में सुरक्षित रूप से रक्खे हुए बेत के बासन के भीतर होती है, छाना जा सकता है। छठे अथवा सातवें, मास में कीड़े इतने सूक्ष्म हो जाते हैं, और दूसरी ऋतुओं से वे इतने भिन्न होते हैं, कि वे कच्चे रेशम की दस तहों में से भी निकल जाते हैं।

जो लोग जीवों की रक्षा करना चाहते हैं उन्हें किसी न किसी उपाय से कीड़ों को स्वतंत्र करने की चेष्टा करनी चाहिए। इस काम के लिए एक पत्तल जैसे थाल का उपयोग किया जा सकता है, किन्तु रेशम की चालनी भी बड़ी उपयोगी है। भारत में, बुद्ध के बताये हुए नियमों के अनुसार थाल प्रायः ताँबे के बनते हैं; मनुष्य को इन बातों को भूल न जाना चाहिए। जीव-रक्षक बासन एक छोटा सा जल-पात्र होता है जिसका मुँह स्वयं पात्र जितना ही चौड़ा होता है। इसकी पेंदी के पार्श्वों पर दो लट्टू होते हैं जिनके साथ रस्सियाँ बाँधी जाती हैं। जब इसे पानी मे उतारा जाता है तब उलटा दिया जाता है, और दो-तीन बार पानी मे डुबाने के पश्चात्, इसे ऊपर खींच लिया जाता है।

---

* यह "चुल्लवग्ग" का दण्ड-परिस्सावनम् हो सकता है।

उच्च भिक्षुओं को चाहिए कि वे न तो मन्दिर की चालनियों को और न छानने के लिए कोठरी में रक्खे हुए जल को ही स्पर्श करें। छोटे भिक्षु, जिन्हें अभी पूरी दीक्षा नहीं मिली, कोई भी जल लेकर पी सकते हैं; किन्तु यदि वे किसी अनुचित समय पर पीने लगें तो उन्हें एक साफ़ चालनी, स्वच्छ ठिलिया, और पवित्र बर्तनों का, जो कि काम देने योग्य हों, अवश्य उपयोग करना चाहिए। जीवों की हिंसा पाप है, और बुद्ध ने इसका निषेध किया है।

यह निषेध सबसे अधिक महत्त्व रखता है, और हिंसा को दस पापों में सबसे मुख्य ठहराया गया है। मनुष्य को इसे कभी न भूलना चाहिए। भिक्षुओं के लिए जिन छः* चीज़ों का पास रखना आवश्यक है उनमे से एक यह भी है, और इसके बिना भिक्षु का निर्वाह नहीं हो सकता। मनुष्य को तीन या पाँच चीनी मीलों की यात्रा चालनी के बिना नहीं करनी चाहिए। यदि भिक्षु को पता हो कि मैं जिस मन्दिर में ठहरा हूँ उसमे रहनेवाले लोग पानी को नहीं छानते तो उसे वहाँ भोजन न करना चाहिए। चाहे यात्री रास्ते मे प्यास† या भूख से मर भी जाय, ऐसा कर्म एक उज्ज्वल दृष्टान्त समझा जाने के लिए पर्याप्त है। जल का दैनिक उपयोग परीक्षा को आवश्यक बना देता है।

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो चालनी का उपयोग तो करते हैं, परन्तु

---

* देखो परिच्छेद १०।

† यह कथा सम्युक्तवस्तु के छठे भाग मे है। दो भिक्षु दक्षिण से श्रावस्ती में बुद्ध के दर्शनार्थ चल पड़े। उन्हें प्यास लगी परन्तु उनके आस-पास का जल कीड़ों से भरा हुआ था। उनमें से बड़े ने जल न पिया और वह मर गया। उसे स्वर्ग मिला। छोटे ने पी लिया और बुद्ध ने उसे कलङ्की ठहराया। बहुत कुछ यही कथा जातक की टीका और चुल्लवग्ग में भी है।

कीड़ों को इसके अन्दर ही मरने देते हैं। कुछ लोगों मे जीव-रक्षा की अभिलाषा तो है, परन्तु यह ज्ञान बहुत थोड़ों को है कि यह कैसे करनी चाहिए। कुछ लोग चालनी को कुएँ के मुँह पर ही झाड़ देते (अथवा 'उलटा देते') हैं, और जीव-रक्षक पात्र का उपयोग नहीं जानते। निस्सन्देह गहरे कुएँ के जल में पहुँच जाने के बाद कीड़े नहीं मरते। कई लोग एक छोटी सी गोल चालनी बनाते हैं जिसमें केवल एक सेर के लगभग जल आता है। जिस रेशम की यह बनी होती है वह कच्चा, खर्दरा, और पतला होता है; और इसका उपयोग करते समय मनुष्य कीड़ों को बिलकुल नहीं ढूँढ़ता, परन्तु इसे ठिलिया के पार्श्व पर लटकाने के पश्चात् वास्तविक परीक्षा के लिए दूसरों को कहा जाता है।

इस प्रकार मनुष्य जीव-रक्षा पर कुछ ध्यान नहीं देता, और दिन पर दिन पाप करता जाता है। यह भूल गुरु से शिष्य मे चली जाती है, इस पर भी वे समझते हैं कि हम बुद्ध-धर्म्म की शिक्षा दे रहे हैं। निस्सन्देह यह एक शोक और परिताप का विषय है! प्रत्येक व्यक्ति के लिए उचित है कि वह जल की परीक्षा के लिए एक बर्तन रक्खे, और प्रत्येक स्थान में एक जीव-रक्षक पात्र होना चाहिए।

आठवाँ परिच्छेद

दातुन का उपयोग

प्रतिदिन सबेरे मनुष्य को दातुन करनी चाहिए, उसके साथ दाँतों को साफ़ करना चाहिए, और पूरी-पूरी सावधानी से जीभ का मैल उतार डालना चाहिए। हाथों को धोने और मुँह को साफ़ करने के बाद ही मनुष्य प्रणाम करने के योग्य होता है; अन्यथा प्रणाम करनेवाला और जिसको वह प्रणाम करता है, दोनों दोषी ठहरते हैं। दातुन को संस्कृत मे दन्तकाष्ठ—दन्त, दाँत, और काष्ठ-लकड़ी का टुकड़ा—कहते हैं। यह कोई बारह अंगुल* लम्बी बनाई जाती है, और छोटी से छोटी भी आठ अंगुल से कम नहीं होती। इसका आकार कनीनिका का ऐसा होता है। इसके एक सिरे को कोमलता से धीरे-धीरे चबाओ, और इसके साथ दाँतों को साफ़ करो। यदि दातुन करते-करते किसी को लाचार आश्रम-गुरु के पास आना पड़े, तो उसे बायें हाथ से मुँह को ढाँप लेना चाहिये।

तब, दातुन को तोड़ कर और झुका कर, जीभ को रगड़ो। दातुन के अतिरिक्त लोहे अथवा ताँबे की बनी हुई दन्त-खोदनी (खड़का) का भी उपयोग किया जा सकता है, अथवा बाँस या लकड़ी की छोटी सी छड़ी, जो कनीनिका के उपरिभाग के समान चपटी और एक सिरे पर तीक्ष्ण हो, दाँतों और जीभ को साफ़

---

* अंगुल = हस्त का चौबीसवाँ भाग। चुल्लवग्ग में दातुन की लम्बाई आठ अंगुल तक परिमित रक्खी गई है।

करने के उपयोग मे लाई जा सकती है; इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मुँह में कोई घाव न लग जाय। सेवन कर चुकने के बाद उस को धोकर फेक देना चाहिए।

दातुन को नष्ट करने अथवा जल या थूक को मुँह से बाहर फेंकने के पहले कण्ठ मे तीन बार उँगलियाँ फेर लेनी अथवा दो से अधिक बार खाँस लेना चाहिए*। यदि ऐसा न किया जायगा तो दातुन के फेंकने मे दोष होगा। यदि वन मे हों तो लकड़ी के एक बड़े टुकड़े से, अथवा किसी पेड़ की छोटी सी डाली से, अथवा एल्म् (elm) नामक वृक्ष की शाखा से, अथवा लता से ली हुई, और यदि मैदान हो तो, ब्रह्मदारु (paper mulberry), अथवा आडू, 'हुए' (सोफोरा जेपोनीका), बेंत, अथवा जो भी कुछ पास हो उससे ली हुई दातुन को पर्याप्त रूप से पहले से ही तैयार कर रखना चाहिए†। ताज़ा दातुनें दूसरों की भेट करनी, और सूखी हुई अपने उपयोग के लिए रख छोड़नी चाहिए।

छोटे भिक्षु जैसे भी चाहे दातुन को चबा सकते हैं, परन्तु बड़े भिक्षुओं को चाहिए कि उसे कूट कर कोमल कर ले। सबसे अच्छी दातुन वह है जो स्वाद मे कटु, संकोचक अथवा तीक्ष्ण हो, अथवा जो चबाने से रूई की तरह हो जाय। हू-ताई (Northern Burr weed) की खुरखुरी जड़ सबसे उत्तम है। इसका दूसरा नाम त्सङ्ग-उर्ह या त्साए-उर्ह है और इसकी जड़ कोई दो इंच लम्बी

---

* काश्यप, सम्युक्तवस्तु अध्याय १३ के प्रमाण से, कहता है कि बुद्ध भगवान् ने चेतावनी के तौर पर कुछ शोर करने के बिना दातुन अथवा किसी अन्य वस्तु को फेंकने की आज्ञा नही दी।

† दन्तकाष्ठ मधुर सुगन्धयुक्त लकड़ी अथवा जड़, या लता के टुकड़े होते थे (देखो जातक, १, ८०, महावंश पृष्ठ २३)। इनके सिरों को मञ्जन की तरह चाबना होता था। उन्हे दाँतों पर नहीं रगड़ते थे। देखो बृहत्-संहिता ८५, सुश्रुत २, १३५.

पृथ्वी में जाती है। इससे दाँत दृढ़ होते हैं, मुख से सुगंध आने लगती है, भोजन के पचने में सहायता मिलती है और हृदय की जलन दूर हो जाती है। यदि इस प्रकार की दातुन का सेवन किया जाय तो मुँह की महक एक पखवारे तक बनी रहती है। चीरनेवाले दाँतों का रोग अथवा दन्तशूल एक मास में शान्त हो जाता है। दातुन को पूरी तरह से चबाने, दाँतों को साफ़ करके चमकाने, और मुख से निकलनेवाले सारे पानी को बाहर थूकने का ख़ूब ध्यान रक्खो; और फिर बहुत से जल के साथ कुल्ले कर डालो। रीति यह है। एक बार नाक से पानी अन्दर ले जाओ। यह बोधिसत्त्व नागार्जुन का ग्रहण किया हुआ दीर्घायु-प्राप्ति का साधन है। यदि यह क्रिया बहुत कठिन हो तो जल पीना भी अच्छा है। जब मनुष्य को इन क्रियाओं का अभ्यास हो जाता है तब उस पर रोग का आक्रमण कम होता है। दाँतों की जड़ों पर काल के प्रभाव से जमे हुए मैल को पूरी तरह से साफ़ कर देना चाहिए। गरम पानी से धोने से दाँत आयु भर के लिए मैल से मुक्त हो जाते हैं। दातुन करने के कारण भारत में दन्तशूल बहुत कम है।

दातुन को बेंत की लकड़ी समझना भूल है। भारत मे बेंत के पेड़ बहुत दुर्लभ हैं। यद्यपि अनुवादकों ने प्रायः इस नाम का व्यवहार किया है, परन्तु वास्तव मे, (उदाहरणार्थ) बुद्ध की दातुन का पेड़, जिसे मैंने स्वयं नालन्द के विहार मे देखा है, बेंत नहीं है। अब मुझे इससे बढ़कर दूसरों के विश्वास्य प्रमाणों का प्रयोजन नहीं, और मेरे पाठकों को इसमे सन्देह करने की आवश्यकता नहीं। इसके अतिरिक्त निर्वाण-सूत्र के संस्कृत पाठ मे लिखा है—'वह समय जब कि वे दातुन कर रहे थे।'

चीन मे कुछ लोग बेंत की छोटी-छोटी लकड़ियों का व्यवहार करते हैं। इन्हे वे सारी की सारी चबा डालते हैं, पर उन्हे कुल्ला

करने और रस को फेंकने की रीति का कुछ भी ज्ञान नहीं। कभी-कभी यह समझा जाता है कि दातुन के रस को पीने से रोग की शान्ति हो सकती है। परन्तु इसे पीने से मनुष्य, अपनी शुद्धि की अभिलाषा के विपरीत, अपवित्र हो जाता है। यद्यपि उसकी इच्छा रोग से छुटकारा पाने की होती है, परन्तु वह उससे भी बड़े रोग मे फॅस जाता है। क्या ऐसे लोगों को पहले से इस बात का ज्ञान नही ? सब युक्तियाँ व्यर्थ हैं! भारत के पाँच खण्डों के लोगों मे दातुन का करना बिलकुल सामान्य बात है। यहाँ तक कि तीन बरस के बालकों को भी दातुन करना सिखाया जाता है।

बुद्ध की शिक्षा, और लोगों का व्यवहार, इस विषय में एक दूसरे के अनुरूप और सहायक हैं। इस प्रकार मैंने चीन और भारत मे दातुन के सेवन के सापेक्ष गुण की व्याख्या कर दी है। अब प्रत्येक मनुष्य को अपने लिए आप निर्णय करना चाहिए कि मैं इस रीति को ग्रहण करूँ या छोड़ दूँ।

नवाँ परिच्छेद

उपवसथ*-दिवस पर भोज के नियम

मैं भारत तथा दक्षिणी सागर के द्वीपों में, भिक्षुओं को भोजन के लिए निमन्त्रित करने की प्रक्रिया का संक्षेप से वर्णन करूँगा। भारत में अतिथि-सेवक पहले भिक्षुओं के पास आता है, और प्रणाम करके इन्हें पर्व पर निमंत्रण देता है। उपवसथ के दिन वह इन्हें 'यह ठीक समय है' कह कर सूचना देता है।

भिक्षुओं के लिए बरतनों और आसनों का आयोजन अवस्थाओं के अनुसार किया जाता है। आवश्यक वस्तुएँ या तो (विहार से) मठ के नौकर उठा कर ले जायँ या भोजनदाता अपने पास से दे। नियम यह है कि ताँबे के बर्तनों का ही उपयोग किया जाता है। ये बारीक राख के साथ रगड़ कर साफ़ कर दिये जाते हैं। प्रत्येक भिक्षु एक छोटी सी कुरसी पर बैठता है। ये एक दूसरे से इतने अन्तर पर रक्खी हुई होती हैं कि एक मनुष्य दूसरे का स्पर्श नहीं कर सकता। इस कुरसी की आकृति का वर्णन पहले ही, तीसरे परिच्छेद में, हो चुका है। मिट्टी के कोरे बर्तनों का एक बार उपयोग करना अनुचित नहीं। इनका उपयोग हो चुकने पर इन्हें एक खाई में फेंक देना चाहिए, क्योंकि उपयोग में आये हुए (मूलार्थतः 'छुए

---

* अर्थात् उपवास का दिन। यह भिक्षुओं और इनके भक्तजन के लिए धर्म्मानुष्ठान और कीर्तन का दिन है। यह एक त्योहार है। इस दिन भक्तजन भिक्षु के पास जा कर उपवसथ-व्रत, अर्थात् दिन भर आठ शीलों के पालन करने का व्रत लेते हैं।

हुए') बर्तनों को सुरक्षित बिलकुल नहीं रखना चाहिए। फलतः भारत में, जहाँ-जहाँ सड़क के किनारे सदाव्रत हैं वहाँ, फेंके हुए वर्तनों के ढेर लगे रहते हैं, और इनका दुबारा उपयोग नहीं किया जाता। बढ़िया प्रकार के मिट्टी के बर्तन जैसे कि सिअङ्ग-यङ्ग (चीन) में बनते हैं, काम मे लाने के अनन्तर रक्खे जा सकते, और फेंक देने के पश्चात् यथोचित रूप से साफ़ किये जा सकते हैं। भारत मे आदि में चीनी और लाख की चीज़े नही होती थीं। चीनी के बर्तन जिला करने पर निस्सन्देह साफ़ होते हैं। भारत मे व्यापारी लोग कभी-कभी लाख की बनी चीज़ें लाते हैं; दक्षिणी सागर के द्वीपों के लोग उनमे भोजन नहीं करते, क्योंकि उनसे रखने से भोजन से तेल की गन्ध आने लगती है। परन्तु जब वे नई होती हैं, तब शुद्ध राख से तेल की गन्ध को धोकर, कभी-कभी उनका व्यवहार कर लेते हैं। लकड़ी की वस्तुओं से भोजन के बर्तनों का काम बहुत ही कम लिया जाता है, फिर भी यदि वे नई हों तो उनका केवल एक बार उपयोग किया जा सकता है, दूसरी बार कभी नहीं, क्योंकि 'विनय' मे इसका निषेध है।

दानपति के घर मे भोजन करने की कोठरी की भूमि गाय के गोबर से लीप दी जाती है, और नियमित अन्तरों पर छोटी-छोटी कुरसियाँ बिछाई जाती हैं; और एक साफ़ ठिलिया मे बहुत सा जल तैयार किया जाता है। भिक्षुगण आकर पहले अपने कंचुकों के बोताम खोलते हैं। सबके सामने साफ़ लोटे रक्खे होते हैं। वे जल की परीक्षा करते हैं। यदि उसमें कोई कीड़ा न हो तो वे उससे पाँव धोकर उन छोटी कुरसियों पर बैठ जाते हैं। वे कुछ समय तक विश्राम करते हैं। तब दानपति, समय देख कर और यह मालूम करके कि सूर्य अब प्रायः ग्वमध्य पर पहुँच गया है, यह घोषणा करता है—'यह ठीक समय है'। तब

प्रत्येक भिक्षु अपने कंचुक को दोनों कोनों से लपेट कर और अपने अञ्चल के दायें कोने को लेकर, कमर के साथ बाईं ओर पकड़ लेता है। भिक्षुगण मटर के चूर्ण अथवा बारीक मिट्टी से रगड़ कर हाथ साफ़ करते हैं। जल या तो दानपति डालता है या भिक्षुगण स्वयं कुण्डी से ले लेते हैं। इनमे से जिस बात मे सुभीता हो वही की जाती है। तब वे अपने स्थानों पर वापस आ जाते हैं। तत्पश्चात् अतिथियों को भोजन के वर्तन बाँटे जाते हैं। वे इनको थोड़ा सा धो लेते हैं, पूरी तरह पानी में नहीं डुबाते। भोजन के पहले ईश-प्रार्थना करने की रीति नहीं। दानपति (इस समय तक) हाथ-पाँव धोकर आसनों की पंक्ति के ऊपरी सिरे पर महात्माओं (अर्हतों की प्रतिमाओं) को चढ़ावा चढ़ाता है। तत्पश्चात् वह भिक्षुओं को भोजन बाँटता है। पंक्ति के सबसे निचले सिरे पर माता, हारिती, को भोजन चढ़ाया जाता है।

इस माता ने अपने पहले जन्म में, किसी कारण-विशेष से, राजगृह के सभी बच्चों को खा जाने की शपथ ली थी। इस दुष्ट शपथ के फल से उसे जीवन से हाथ धो लेने पड़े और उसे यक्षी का जन्म मिला। यहाँ उसके पाँच सौ बच्चे हुए। वह प्रतिदिन राजगृह के कुछ बच्चे खा लेती थी। और लोगों ने इस बात की सूचना बुद्ध को दी। बुद्ध ने उसी के एक बच्चे को, जिसे वह अपना प्यारा बच्चा कहा करती थी, लेकर छिपा दिया। उसने उसकी जगह-जगह तलाश की। अन्त को वह उसे बुद्ध के पास मिला। जगन्मान्य ने उससे कहा—'क्या तुझे अपने खोये हुए प्यारे बच्चे के लिए इतना दुःख हो रहा है? तू तो अपने पाँच सौ बच्चों में से एक के खो जाने पर शोक कर रही है; भला उन लोगों को तुझसे कितना अधिक दुःख होगा जो तेरी निर्दय शपथ के कारण अपना एकलौता बालक अथवा दो बच्चे खो चुके हैं?' तब शीघ्र ही उसने बुद्ध-धर्म्म मे

प्रवेश करके पाँच उपदेश ग्रहण किये और वह उपासिका* बन गई। फिर बुद्ध की इस नवीन उपासिका ने बुद्ध से पूछा—'मेरे पाँच सौ बच्चे आगे कैसे निर्वाह करेंगे?' बुद्ध ने उत्तर दिया—'प्रत्येक विहार में जहाँ भिक्षुगण निवास करते हैं वहाँ उनके प्रतिदिन के चढ़ावे मे से तेरे परिवार को पर्याप्त भोजन मिल जाया करेगा।' इस कारण से, सभी भारतीय विहारों की भोजन करने की कोठरी के उसारे में या एक कोने मे हारिती की मूर्त्ति पाई जाती है। वह हाथों मे एक बच्चा पकड़े होती है और उसके घुटनों के इर्द-गिर्द तीन या पाँच बालक होते हैं। इस मूर्ति के सामने प्रतिदिन प्रचुर भोजन चढ़ाया जाता है। हारिती चार दिव्य राजाओं† की प्रजाओं मे से एक है। उसमें धन-प्रदान करने की शक्ति है। जो लोग अपनी शारीरिक निर्बलता के कारण सन्तानहीन हैं, वे यदि भोजन का चढ़ावा चढ़ा कर, (सन्तान के लिए उससे प्रार्थना करें) तो उनकी मनःकामना सदा पूर्ण हो जाती है। इसका पूरा वृत्तान्त विनय‡ मे दिया गया है; इसलिए मैंने संक्षेप से दिया है। 'बच्चों की राक्षस माता' (कुएइ-ट्ज़े-मू) का चित्र चीन मे पहले से ही पाया जाता है।

अपरञ्च भारत के बड़े-बड़े विहारों में, पाकशाला मे स्तम्भ के पार्श्व पर, अथवा उसारे के सम्मुख, लकड़ी में खुदी हुई एक देवता की दो तीन फ़ुट ऊँची मूर्ति होती है। इसके हाथ मे सोने की एक थैली होती है। यह एक छोटी-सी कुरसी पर बैठी हुई एक पाँव भूमि की ओर लटकाये रहती है। इस पर सदा तेल पोंछा जाता है जिससे

---

* इस कल्पित राक्षस का बुद्ध-धर्म-प्रवेश बुद्ध के पट्टाधिकार के सोलहवें वर्ष में हुआ बताया जाता है।

† चतुर्महाराजदेवाः (चातुम्महाराजिका देवा), महावग्ग।

‡ सम्युक्तवस्तु, अध्याय ३१; सम्युक्तरत्न-सूत्र ७।

इसका मुखमण्डल काला हो जाता है, और यह देवता महाकाल अर्थात् बड़ा काला देवता कहलाता है। प्राचीन ऐतिह्य कहता है कि यह (स्वर्ग में) महेश्वर के प्राणियों में से था। वह स्वभावतः 'तीन रत्नों' से प्रेम और विपत्ति से पाँच परिषदों* की रक्षा करता है। उसके उपासकों की सभी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। भोजन के समय पाकशाला में काम करनेवाले धूप और दीप चढ़ाते हैं, और सब प्रकार के तैयार किये हुए भोजन देवता के सामने सजाते हैं। मैं एक बार पन्दन† विहार (बन्धन) देखने गया था। यह वह स्थान है जहाँ (बुद्ध ने) महानिर्वाण का प्रचार किया था। वहाँ सामान्यतः एक सौ से अधिक भिक्षु भोजन किया करते हैं। वसन्त और पतझड़ के दिनों में, जो कि यात्रा के लिए सर्वोत्तम ऋतुएँ हैं, विहार में कभी-कभी अचानक (यात्रियों की) भीड़ लग जाती है। एक बार, कोई दुपहर के समय, वहाँ सहसा पाँच सौ भिक्षु आ पहुँचे। उनके लिए दुपहर से ठीक पहले भोजन तैयार करने के लिए समय न था। प्रबन्ध करनेवाले भिक्षु ने पाचकों से कहा—'इस आकस्मिक वृद्धि के लिए हम भोजन का क्या प्रबन्ध करेंगे?' विहार के एक नौकर की माता ने उत्तर दिया—'घबराइए नहीं, यह तो सर्वथा सामान्य घटना है।' उसने तत्काल बहुत सा धूप जलाई और काले देवता के सामने भोजन चढ़ा कर उससे प्रार्थना की—'यद्यपि महामुनि निर्वाण को प्राप्त हो चुका है, परन्तु तेरे जैसे प्राणी अभी तक मौजूद हैं। अब इस पवित्र स्थान

* पाँच परिषद् ये हैं—(१) भिक्षु, (२) भिक्षुणी, (३) शिक्षमाणा, (४) श्रमणेर, (५) श्रमणेरी। किसी-किसी ने चार परिषद् गिनी हैं, जहाँ कि शिक्षमाणा अर्थात् वे स्त्रियाँ, जो श्रमणेरी बनने के विचार से शिक्षा पा रही हैं, श्रमणेरी के अन्तर्गत समझ ली गई हैं।

† नि:सन्देह यह कुशिनगरान्तर्गत मुकुट-बन्धन में एक विहार है। देखिये महापरिनिव्वान-सुत्त ६।

की पूजा के लिए यहाँ प्रत्येक स्थान से भिक्षुगण पधारे हैं। हमारा भोजन उनके लिए कम न निकले; क्योंकि यह तेरी शक्ति में है। कृपा करके इस समय को मनाइए।' तब सब भिक्षुओं को बिठला दिया गया। जो भोजन केवल विहार में रहनेवाले भिक्षुओं के लिए ही तैयार किया गया था वह, परोसने पर, उस भारी भिक्षु-समूह के लिए पर्याप्त निकला, और सामान्य रूप से जितना पहले बचा करता था उतना बच भी रहा। सब बोल उठे 'साधु', और उस देवता के सामर्थ्य की प्रशंसा होने लगी। मैं स्वयं उस स्थान की पूजा के लिए वहाँ गया, इसलिए मैंने उस काले देवता की प्रतिमा देखी जिसके सामने भोजन की प्रचुर भेंट चढ़ाई गई थी। मैंने कारण पूछा तो मुझे उपर्युक्त वृत्तान्त सुनाया गया। चीन मे उस देवता की प्रतिमा बहुधा किअङ्ग-नन के ज़िलों में पाई गई है, यद्यपि हुऐ-पोह में नहीं। जो उससे (वर) माँगते हैं उनकी कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। उस देवता की सामर्थ्य से इन्कार नहीं हो सकता। (गया के समीप) महाबोधि विहार के नाग महा-मुचिलिन्द* में ऐसी ही अलौकिक शक्ति है।

भोजन परोसने की विधि आगे दी जाती है। पहले कोई अँगूठे के परिमाण के अदरक के एक-एक या दो-दो टुकड़े (प्रत्येक अतिथि को) परोसे जाते हैं और साथ ही एक पत्ते पर डेढ़-डेढ़ चमचे भर नमक दे दिया जाता है। जो मनुष्य नमक परोसता है वह, हाथ जोड़े हुए प्रधान भिक्षु के सम्मुख घुटनों के बल झुककर, धीरे से कहता है 'सम्प्रागतम्'! इसका अनुवाद है 'शुभागमन'। इसका पुराना उल्था 'सम्बा' है जो कि अशुद्ध है। अब प्रधान भिक्षु कहता है— 'समान रूप से भोजन परोसो।'

---

* महावग्ग में लिखा है कि मुचिलिन्द बुद्ध की रक्षा करने तथा उपदेश सुनने आता था।

इस शब्द (सम्प्रागतम्) का भाव यह है कि मिष्टान्न भोजन भली भाँति जुटा हुआ है, और खाने का समय ठीक आ पहुँचा है। इस शब्द के आशय के अनुसार यही समझ में आता है। परन्तु बुद्ध को उसके शिष्यों-सहित जब किसी ने विषाक्त भोजन दिया था तब उसने उन्हें 'सम्प्रागतम्' कहने की शिक्षा दी थी; और उन सबने उसे खा लिया था। भोजन में जितना विष था वह सारा का सारा पोषण मे परिणत हो गया था। इस दृष्टि से इस शब्द पर विचार करने से मालूम होता है कि इसका अर्थ न केवल 'शुभागमन' ही है वरन् यह एक मन्त्र भी है। दो मे से किसी एक भाषा मे, चाहे यह पूर्व की हो चाहे पश्चिम की (अर्थात् चीनी मे या संस्कृत मे), मनुष्य अपनी रुचि के अनुसार इस शब्द का उच्चारण कर सकता है। (चीन के अन्तर्गत) पिङ्ग और फ़ैन ज़िलों मे कुछ लोग 'शी-ची' अर्थात् 'समय आ गया है' कहते हैं, जिसमें मूल गुण बहुत सा पाया जाता है।

भोजन परोसनेवाला अतिथियों के सामने खड़े होकर, जिनके पैर एक पंक्ति मे होते हैं, सत्कारपूर्वक प्रणाम करता है, और हाथों में भोजनपात्र, मीठी रोटियाँ, और फल लेकर भिक्षु के हाथों से कोई एक वितस्ति (ऊपर) से उन्हें परोसता है। प्रत्येक दूसरा बर्तन अथवा भोजन अतिथि के हाथों से एक या दो इंच ऊपर से देना चाहिए। यदि कोई वस्तु अन्यथा परोसी जाय तो अतिथियों को चाहिए कि उसे स्वीकार न करें। भोजन के परोसे जाते ही अतिथि खाना आरम्भ कर देते हैं; उन्हें इस बात का कष्ट नहीं उठाना चाहिए कि जब तक सबको समानरूप से भोजन न परोसा जाय तब तक प्रतीक्षा करते रहे।

उन्हें उस समय तक प्रतीक्षा करनी चाहिए जब तक कि सब को समान रूप से भोजन न परोसा जा चुके, यह ठीक अर्थ नहीं

है। न यही बात बुद्ध की शिक्षा के अनुकूल है कि भोजन के अनन्तर मनुष्य जो चाहे कर सकता है।

फिर सुखाये हुए चावल और लोविये के झोर की बनी हुई कुछ लपसी छाछ की गरम चटनी के साथ स्वाद के लिये परोसी जाती है। इसे दूसरे भोजन के साथ उँगलियों से मिलाया जाता है। वे (अतिथि) दायें हाथ से खाते हैं। इसे वे पेट के मध्यभाग से ऊँचा नहीं उठाते। अब रोटियाँ; फल, घी और कुछ खाँड़ परोसी जाती है। यदि किसी अतिथि को प्यास लगे तो वह, गरमी हो या सरदी, ठंडा जल पीता है। दैनिक जीवन तथा विशेष सत्कार के अवसर पर भिक्षुओं के खाने का यह संक्षिप्त वर्णन है।

उपवसथ-दिवस ऐसे समारोह से मनाया जाता है कि सब थालियाँ और रकाबियाँ रोटियों से भर दी जाती हैं और चावल अलग बच रहते हैं; घी और मलाई जितनी चाहो खा सकते हो।

बुद्ध के समय मे राजा प्रसेनजित्* ने सङ्घ को भोजन के लिए निमन्त्रण दिया था। उस समय पेय, आहार, घी, मलाई इत्यादि इतने ज़ियादा परोसे गये थे कि वे बहुतायत से भूमि पर वह रहे थे। विनय-सूत्रों मे इसका कुछ उल्लेख है। जब मैं पहले-पहल पूर्वी भारतान्तर्गत ताम्रलिप्ति मे पहुँचा तब मैंने एक उपवास के दिन छोटे परिमाण पर भिक्षुओं को भोजन के लिए निमन्त्रित करना चाहा। किन्तु लोगों ने मुझे यह कह कर रोक दिया—'अतिथियों के लिए ठीक पर्याप्त भोजन तैयार करना तो असम्भव नहीं, परन्तु प्राचीनकाल की परम्परागत रीति के अनुसार सामग्री का विपुल होना आवश्यक है। यदि भोजन केवल पेट की ज्वाला को शान्त करने के लिए ही पर्याप्त होगा तो लोगों के हँसने का डर

* या कोशल का राजा, पसेनदि।

है। हम सुनते हैं कि आप एक ऐसे महादेश से आये हैं जहाँ प्रत्येक स्थान समृद्धिशाली और उपजाऊ है। यदि आप विपुल भोजन नहीं तैयार कर सकते तो अच्छी बात यही है कि इस विचार को ही छोड़ दें।' इसलिए मैंने उनकी रीति का अनुकरण किया जो कि बिलकुल अयुक्तिसङ्गत नहीं, क्योंकि यदि भोजन-दान का सङ्कल्प उदार है तो इस पुण्य-कर्म का फल उसके अनुरूप ही प्रचुर होगा।

जो मनुष्य निर्धन होता है वह, भोजन के अनन्तर, अपनी सामर्थ्य के अनुसार छोटी-छोटी चीज़ों का दान करता है। भोजन खा चुकने के पश्चात् थोड़े से पानी से कुल्ला किया जाता है, जिसे पी लेना चाहिए। दायें हाथ को तनिक धोने के लिए बासन मे कुछ जल अवश्य डाल रखना चाहिए। हाथ धो चुकने के पश्चात् मनुष्य भोजन करने के स्थान से जा सकता है। वहाँ से बाहर निकलते समय, दूसरों को देने के लियें, उसे दायें हाथ मे मुट्ठी भर भोजन लाना चाहिए। बुद्ध ने इसकी आज्ञा दी है, चाहे यह भोजन बुद्ध का हो चाहे सङ्घ का। परन्तु खाने से पूर्व भोजन के देने का विधान विनय मे नहीं। इसके अतिरिक्त भोजन का एक थाल मृतकों और अन्य आत्माओं को, जो भेंट दिये जाने के योग्य हों, चढ़ाया जाता है। इस रीति का मूल गृध्रकूट बताया जाता है जैसा कि सूत्रों में पूर्ण रूप से वर्णित है।

उस मुट्ठी भर भोजन को स्थविर के सामने लाकर उसे प्रणाम करना चाहिए; वह स्थविर जल की कुछ बूँदें छिड़क कर निम्नलिखित प्रार्थना करे—

'जो धर्म्म-कार्य हम करनेवाले हैं उनके बल से हम प्रेतलोक को उदारता-पूर्वक लाभ पहुँचावे, और वे प्रेत, इस भोजन को खाकर, मृत्यु के अनन्तर सुखद अवस्था में पुनः जन्म ले।

'अपने पुण्य कर्म्मों से उत्पन्न होनेवाला बोधिसत्त्व का आनन्द आकाश के सदृश असीम है।

'दूसरों का उपकार करनेवाला इस (बोधिसत्त्व के आनन्द) जैसे फल प्राप्त कर सकता है; मनुष्य को उत्तरोत्तर ऐसे कर्म करते रहना चाहिए।'

तत्पश्चात्, भोजन को बाहर लाकर, मृतकों को देने के लिये, किसी गुप्त स्थान, वन, कुञ्ज, नदी अथवा सरोवर मे डाल देना चाहियें।

(चीन की) यङ्ग-ट्ज़े और हुए नदियों पर अवस्थित देश के लोग प्रत्येक उपवास के दिन भोजन का एक फालतू थाल तैयार करते हैं; यह रीति उपर्युक्त के ही समान है।

इस प्रक्रिया के समाप्त हो जाने पर दानपति अतिथियों को दातुनें और शुद्ध जल देता है। कुल्ला करने की रीति वही है जो कि पाँचवें परिच्छेद मे लिख आये हैं। बिदा होते समय निमन्त्रित भिक्षु ये शब्द कहते हैं—'जो भी पुण्य कार्य किये गये हैं उन सबको मैं सहर्ष पसन्द करता हूँ।'

प्रत्येक अतिथि एक-एक गाथा पढ़ता है, परन्तु भोजन के पश्चात् कोई धर्म्म-विधि नहीं। उच्छिष्ट भोजन को भिक्षुगण जो कुछ चाहें कर सकते हैं। वे चाहें तो किसी लड़के को इसे उठा ले जाने की आज्ञा दे सकते हैं अथवा उन दरिद्रों को बाँट सकते हैं जिनको ऐसा भोजन खाने का अधिकार है। यदि दुर्भिक्ष का वर्ष हो और भय हो कि दानपति नीच है, तो मनुष्य को दानपति से पूछ लेना चाहिए कि क्या मुझे अवशिष्ट को ले जाने की आज्ञा है? तथापि दानपति के लिए उच्छिष्ट भोजन को आप इकट्ठा कर लेने का कोई नियम नहीं। भारत में उपवसथ-दिन के अवसर पर चढ़ावा लेने का सामान्य नियम ऐसा ही है।

कभी-कभी प्रक्रिया की किसी एक बात मे भेद होता है। दानपति पहले से ही पवित्र मूर्त्तियों को स्थिर कर रखता है। जब मध्याह्न-वेला निकट होती है, सब अतिथियों को बैठकर इन प्रतिमाओं के सामने हाथ जोड़ने होते हैं, और प्रत्येक को पूजा-भाजनों का चिन्तन करना होता है। यह हो जाने पर वे खाना आरम्भ कर देते हैं। कभी कभी अतिथि लोग एक भिक्षु को चुन लेते हैं जो मूर्त्ति के सामने जाकर घुटनों के बल बैठ जाता और जोड़े हुए हाथों को आगे कर के पूजन तथा उच्च स्वर से बुद्ध का स्तुति-गान करता है।

(इ-त्सिङ्ग की टीका)— 'घुटनों के बल बैठने' का अर्थ है दोनों घुटनो को भूमि पर टेक देना जिसमें दोनों जङ्घाएँ शरीर को सँभाले रहें। पुराने अनुवादों में भूल से इसका उल्था 'घुटने टेकने की मुग़ल-रीति' किया गया था। परन्तु यह बात भारत के पाँच खण्डों में से प्रत्येक में पाई जाती है; फिर हम इसे 'घुटने टेकने की मुग़ल-रीति' क्यों कहें ?'

उस निर्वाचित भिक्षु को बुद्ध-गुण-गान के अतिरिक्त और कुछ बोलना नहीं होता। दानपति, दत्तचित्त होकर, भक्ति-भाव से दीप चढ़ाता और पुष्प छिटकाता है। वह भिक्षुओं के पाँव पर पिसी हुई सुगन्ध मलता और बहुत सा धूप जलाता है। प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग धूप नहीं जलाता*।

यदि दानपति पसन्द करे तो संगीत—जैसा कि ढोल और सारङ्गी के साथ गीत गाना—भी किया जाता है। तब जैसे-जैसे प्रत्येक को भोजन परोसा जाता है वह खाना आरम्भ करता जाता है; और जब वह समाप्त हो जाता है तब प्रत्येक अतिथि के सामने एक बासन में लोटे से जल डाला जाता है। अब स्थविर दानपति के लिए एक

* बहुधा ऐसा होता है कि अनेक मनुष्य एक दूसरे के बाद धूप जलाते है। इ-त्सिङ्ग कहता है कि इस अवसर पर धूप अलग-अलग नहीं जलाई जाती।

छोटी सी दान-गाथा सुनाता है। यह शेषोक्त बात भारत में (उपवास के दिन) भोजन का चढ़ावा लेने की वैकल्पिक रीति है।

परन्तु खाना खाने का भारतीय ढँग अनेक बातों में चीनी ढँग से भिन्न है। अब मैं विनय के नियमों के अनुसार भोजन करने की सामान्य विधि का स्थूल वर्णन करना चाहता हूँ।

पञ्चभोजनीयम् और पञ्चखादनीयम् का विनय* में बहुत बार उल्लेख है। भोजनीयम् का अर्थ है वह वस्तु जिसे निगलना और खाना पडता है (अर्थात् गीला और कोमल भोजन), और खादनीयम् का अर्थ है वह वस्तु जिसे चबाना या पीसना पड़ता है (अर्थात् कड़ा और ठोस भोजन)। 'पञ्च' का अर्थ है 'पाँच', इसलिए हम पञ्चभोजनीयम् का उलथा चीनी मे वू-तन-शिह (अर्थात्, पाँच प्रकार का भोजन) कर सकते हैं, जिसका साधारण आशय अर्थ के अनुसार—आज तक विशेष प्रकार का पॉच भोजन समझा जाता रहा है। पञ्चभोजनीयम् ये हैं—१. चावल; २. जौ और मटर की उबली हुई खिचड़ी; ३. भुना हुआ मक्की का आटा; ४. मांस; ५. मीठी रोटियाँ। पञ्चखादनीयम् का उलथा वू-चिओ-शिह (अर्थात् पॉच प्रकार के चबाने के भोजन) होता है—१. मूल; २. डण्ठल, ३. पत्ते; ४. फूल; ५. फल। यदि पॉच का पहला समूह (अर्थात् पञ्चभोजनीयम्) खा लिया जाय तो फिर उन लोगों को जिनके पास और अधिक भोजन करने के लिए कोई कारण नहीं, किसी प्रकार भी पाँचों का दूसरा समूह न खाना चाहिए, परन्तु यदि पिछले पॉच पहले खा लिये हों तो अपनी इच्छा के अनुसार मनुष्य पहले पाँच भी खा सकता है।

हम दूध, मलाई इत्यादि को उपर्युक्त पॉच के दो समूहों के अतिरिक्त गिन सकते हैं; क्योंकि विनय में इनके लिए कोई

---

* सम्युक्तवस्तु, अ० १०, पातिमोक्ख, पाच ३७

विशेष नाम नहीं, और यह स्पष्ट है कि ये विशेष भोजन के अन्तर्गत नहीं।

आटे की बनी हुई जो भी चीज़ (जैसा कि गुलगुले अथवा लपसी) यदि इतनी कड़ी हो कि उसमे डाला हुआ चमचा बिना किसी ओर झुकने के सीधा खड़ा रहे तो उसे रोटियों और भात के अन्तर्गत रखना चाहिए। पानी के साथ मिलाये हुए, भुने हुए, आटे पर यदि उँगली का चिह्न बन सकता है तो उसका भी पाँच मे से एक में समावेश है।

अब भारत के पाँच देशों को लीजिए। उनकी सीमाएँ लम्बी चौड़ी और दूर हैं। स्थूल रूप से कहें तो मध्य भारत से प्रत्येक दिशा में सीमा तक की दूरी (मूलार्थतः, पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर) कोई ४०० योजन है। इस माप में दूरस्थ सीमाप्रान्त नहीं गिना गया। यद्यपि मैंने स्वयं भारत के ये सब भाग नहीं देखे, फिर भी मैं सावधानता-पूर्वक अन्वेषण करने से प्रत्येक बात जाँच सकता था।

सारा भोजन, क्या खाने के लिए और क्या चबाने के लिए, बड़ी उत्तमता से नाना विधियों से तैयार किया जाता है। उत्तर में गेहूँ का आटा बहुत होता है; पश्चिमी प्रदेश में सबसे अधिक सेंका हुआ आटा (चावल या जौ का सत्तू) बर्ता जाता है। मगध में गेहूँ का आटा बहुत कम परन्तु चावल बहुतायत* से होता है।

---

* जान पड़ता है कि मध्यभारत प्राचीन काल से धान की खेती के लिए उपयुक्त चला आ रहा है। राजा शुद्धोदन (शुद्ध चावल), जो कपिलवस्तु में जा बसा था, और उसके चार भाइयों—धौतोदन, अशुक्लोदन, शुक्लोदन और अमितोदन—के नाम शाक्य लोगों के लिए इस खेती का महत्त्व दिखलाते हैं। ह्यू न-त्साङ्ग आठवें प्रबंध के आरम्भ में कहता है कि मगध एक बहुत उपजाऊ देश है, और अनेक प्रकार के चावलों की खेती के लिए उत्तम है।

दक्षिणी सीमान्त प्रदेश और पूर्वी उपान्त्य-भूमि की उपज वही है जो कि मगध की।

घी, तेल, दूध और मलाई सब कहीं मिलती है। मीठी रोटियों और फलों जैसी वस्तुओं की इतनी प्रचुरता है कि उनका यहाँ गिनना कठिन है। सामान्य लोग तक मेद और मांस बहुत कम खाते हैं। बहुत से देशों मे ऐसे चावल विपुलता से पाये जाते हैं जिनमें चिपचिपाहट नहीं होती। बाजरा बहुत कम होता है और लेसदार बाजरा तो बिलकुल मिलता ही नहीं। यहाँ मीठा ख़रबूज़ा और तरबूज़ होता है; गन्नों और आलू-कचालू आदि भूमि के भीतर लगने वाले खाद्य पदार्थों की बहुतायत है, परन्तु खाने के योग्य ख़तमी और रामतुरई बहुत कम होती है। वनचिङ्ग (एक प्रकार का शलजम) पर्याप्त राशियों मे होता है। इसके दो भेद हैं—एक तो सफ़ेद बीज का, और दूसरा काले बीज का। चीन में यह हाल ही मे चिएह-ट्ज़े (सरसों का बीज) नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इससे तेल निकाला जाता है और स्वादु बनाने के लिए बर्ता जाता है; सभी देशों मे ऐसा ही किया जाता है। तरकारी के तौर पर इसके पत्तों को खाते समय उनका स्वाद वन-चिङ्ग (एक प्रकार का शलजम जिसका मूल पृथ्वी के नीचे सफ़ेद होता है) का ऐसा होता है। परन्तु मूल बड़ा होता है, चीनी शलजम की तरह नहीं। बीज कुछ बड़ा होता है और 'सरसों का बीज' नहीं समझा जा सकता। इस पौधे की वृद्धि का परिवर्तन कुछ नारङ्गी के पेड़ के परिवर्तन का ऐसा समझा जाता है जो कि यङ्ग-ट्ज़े नदी के उत्तर में लाने पर कँटीली झाड़ी बन जाता है।*

---

* इसका आशय यहाँ यह है कि भारतीय सरसों (सर्षप) चीनी से बड़ी होती है; इसका स्वाद चीनी शलजम का ऐसा होता है; परन्तु जड़ें, कड़ी होने के कारण, चीनी से भिन्न होती हैं; इस भिन्नता का कारण भूमि की

जब मैं नालन्द-विहार में था तब मैंने इस विषय पर ध्यान-गुरु वू-हिङ्ग* से विचार किया था, परन्तु फिर भी हमारी शङ्का दूर नहीं हुई थी और हम एक का दूसरे से ठीक-ठीक भेद नहीं कर सकते थे। भारत के पाँचों भागों में कोई भी लोग किसी प्रकार का प्याज़, अथवा कच्ची तरकारियाँ नहीं खाते, इसलिए वे अजीर्ण से बचे रहते हैं; आमाशय और अँतड़ियाँ नीरोग रहती हैं और उनके कड़ी हो जाने या दुखने का कोई कष्ट नहीं होता।

दक्षिणी सागर के दस द्वीपों मे उपवास के दिन एक बड़े परिमाण मे आतिथ्य किया जाता है। पहले दिन दानपति पिन-लङ्ग सुपारी, फू-ट्ज़ू (मुस्तक) से बनाया हुआ सुगन्धित तेल, और एक थाली में पत्ते पर पिसे हुए थोड़े से चावल तैयार करता है। इन तीनों चीज़ों को एक बड़ी पटरी पर चुनकर एक सफ़ेद वस्त्र से ढँक दिया जाता है। एक सुनहरे लोटे में जल डालकर रख लिया जाता है, और इस पटरी के सामने की भूमि पर जल छिड़क दिया जाता है। ये सब बातें हो जाने पर भिक्षुओं को भोजन के लिए बुलाया जाता है। अन्तिम दिन दुपहर के पहले भिक्षुओं को शरीर पर तेल मलने और धोने तथा स्नान करने के लिए कहा जाता है। दूसरे दिन के अश्व-समय (मध्याह्न) के पश्चात् (विहार से) गाड़ी अथवा पालकी पर एक पवित्र प्रतिमा ले जाई जाती है। इसके साथ भिक्षुओं और सामान्य लोगों का एक बड़ा समूह ढोल

भिन्नता समझी जा सकती है, जिस प्रकार नारङ्गी के पेड़ को किआङ्ग-नन (यङ्ग-ट्ज़े, नदी के दक्षिण) से लाकर नदी के उत्तर में लगाने से वह कँटीली झाड़ी बन जाता है।

* यह एक चीनी भिक्षु था जो इ-त्सिङ्ग को भारत में अकस्मात् ही मिल गया था। इसका संस्कृत नाम प्रज्ञादेव था। इसका जीवन-चरित इ-त्सिङ्ग की दूसरी रचना, त'अङ्ग-वंश' (के शासन-काल) में भारत को जानेवाले विश्रुत भिक्षुओं का वृत्तान्त, में है।

और बाजे बजाता, धूप और पुष्प चढ़ाता और धूप में चमकते हुए झण्डे हाथों मे लिये चलता है। इस प्रकार इसे घर के आँगन में पहुँचाया जाता है। एक बड़े विस्तीर्ण छत्र के नीचे, चमकीली और सुचारु रूप से अलङ्कृत सोने अथवा काँसे की प्रतिमा पर कोई सुगन्धित लेई (उबटन) मली जाती है। फिर इसे एक साफ़ बासन मे रख दिया जाता है। जितने लोग वहाँ उपस्थित होते हैं वे सब इसे सुगन्धित जल (गन्धोदक) से स्नान कराते हैं। सुगन्धित वस्त्र से पोंछने के पश्चात् इसे घर के मुख्य दालान में पहुँचाया जाता है। वहाँ इसे प्रचुर धूप और दीप चढ़ाया जाता है और स्तुति के भजन गाये जाते हैं। तब भविष्य जीवन के सम्बन्ध मे धार्म्मिक भोज के पुण्य को प्रकट करने के लिए स्थविर दानपति के लिए दानगाथा सुनाता है। फिर भिक्षुओं को हाथ धोने तथा कुल्ला करने के लिए घर से बाहर ले जाया जाता है, और, इसके अनन्तर, उन्हें शर्बत (पान) और पिन-लङ्ग फल (अर्थात् सुपारी) यथेष्ट परिमाण में दिये जाते हैं; तब वे उस घर से वापस चले आते हैं। तीसरे दिन के पूर्वाह्न में, दानपति, विहार को जाते हुए, भिक्षुओं से कहता है—'यह ठीक समय है।' वे, स्नान करने के बाद, भोज वाले घर आते हैं। इस समय भी मूर्त्ति स्थापित की जाती, और इसको स्नान कराने की प्रक्रिया अधिक संक्षेप से पूरी की जाती है। परन्तु धूप तथा पुष्पों का चढ़ावा और संगीत पहले दिन से दुगुना होता है। प्रतिमा के सामने नाना प्रकार के चढ़ावे यथाक्रम सजाये जाते हैं, और उसके दोनों ओर पाँच या दस कन्याएँ पंक्ति मे खड़ी होती हैं। सुभीते के अनुसार कुछ लड़के भी खड़े किये जाते हैं। इनमे से प्रत्येक के पास या तो धूप जलाने का पात्र होता है, या सुनहरा जल-पात्र, या दीपक अथवा कुछ सुन्दर पुष्प, या सफ़ेद चँवर होता है। लोग सब प्रकार की शृङ्गार की वस्तुएँ, दर्पण, दर्पण रखने

की डिबियाँ, और इसी प्रकार की अन्य वस्तुएँ लाकर बुद्ध की मूर्त्ति के सामने चढ़ाते हैं। एक बार मैंने उनसे पूछा—'आप यह किस प्रयोजन से कर रहे हैं?' उन्होंने उत्तर दिया—'यह क्षेत्र है, और हम अपने पुण्य का बीज बो रहे हैं। यदि हम अब चढ़ावा नहीं चढ़ायेंगे, तो भविष्य में पुण्य का फल कैसे प्राप्त कर सकेंगे?' यह युक्तिपूर्वक कहा जा सकता है कि ऐसा काम भी पुण्य-कर्म ही है। फिर अनुरोध करने पर, एक भिक्षु मूर्त्ति के सामने घुटनों के बल बैठकर बुद्ध-गुण-गान करता है। इसके बाद, अनुरोध करने पर, दो और भिक्षु, मूर्त्ति के निकट बैठकर एक पृष्ठ अथवा पत्ते पर से एक छोटा सा सूत्र पढ़ते हैं। ऐसे अवसरों पर, वे कभी-कभी मूर्त्तियों की प्रतिष्ठा करते, और उनकी आँखों की पुत-लियों का चिह्न लगाते हैं, ताकि इसके फल से उन्हे आनन्द की प्राप्ति हो। अब भिक्षुगण स्वेच्छा से कमरे के एक पार्श्व मे चले जाते हैं। वहाँ अपने काषायों को लपेटकर उनके दोनों कोनों को छाती पर बाँध लेते हैं। फिर वे हाथ धोकर खाने के लिए बैठ जाते हैं*।

भूमि को गाय के गोबर से लीपना, जल की परीक्षा करना, अथवा पाँव धोना आदि क्रियाएँ, और भोजन करने तथा परोसने की विधि, ये सब बातें बहुत कुछ भारतवर्ष की ऐसी ही हैं। केवल इस बात की अधिकता है कि दक्षिण सागर के द्वीपों में भिक्षु लोग तीन प्रकार का पवित्र मांस† खाते हैं। वे बहुधा पत्तों को इकट्ठा

---

*(इ-त्सिङ्ग की टीका)—का-चा (काषाय) संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ गेरुआ रङ्ग (कन्द का रङ्ग) है। यह चीनी शब्द नहीं; तब उलथा करने के लिए दो ऐसे चीनी शब्द चुनने से क्या लाभ है जो परिधान को दिखलाते हैं? विनय-पाठ के बौद्ध शब्द के अनुसार, तीनों के तीनों परिधान चीवर कहलाते हैं।

† तीन प्रकार के पवित्र मांस—(१) पशुओं आदि का मांस पवित्र है, जब पशु की हत्या अपने लिए होती न देखी हो, (२) जब यह न सुना हो कि यह मेरे लिए मारा गया है; (३) जब इस बात का सन्देह न हुआ हो

सीकर उनसे थाली का काम लेते हैं। ये पत्तले आधी चटाई (जिस पर वे बैठते हैं) जितनी चौड़ी होती हैं। और ऐसी पत्तल में एक या दो शङ्ग* (एक चीनी बाट) चावलों की, जिनमें चिपचिपाहट न हो, रोटियाँ बनाई जाती हैं। वे ऐसी ही पत्तले बनाकर, जिनमें एक-दो शङ्ग अनाज पड़ सके, भिक्षुओं के सामने चढ़ाते हैं। तब उन्हें बीस या तीस प्रकार के भोजन परोसे जाते हैं। परन्तु यह अपेक्षाकृत निर्धन लोगों के दिये हुए भोज की बात है। यदि भोज देनेवाले राजा अथवा धनाढ्य मनुष्य हों तो काँसे की थालियाँ, काँसे के कटोरे, और चटाई जितनी बड़ी पत्तलें बाँटी जाती हैं; और नाना प्रकार की खाने-पीने की वस्तुओं की संख्या सौ तक पहुँच जाती है। ऐसे अवसर पर राजा लोग अपने उच्च पद की कुछ परवा नहीं करते, और अपने आपको सेवक कहते हैं और सब तरह से सम्मान प्रदर्शित करते हुए भिक्षुओं को भोजन कराते हैं। भोजन जितना दिया जाय उतना भिक्षुओं को स्वीकार करना पड़ता है। वह कितना ही अधिक क्यों न हो, वे उसे रोक नहीं सकते। यदि वे केवल उतना ही भोजन लेंगे जितना कि उनकी क्षुधानिवृत्ति-मात्र के लिए पर्याप्त हो तो दानपति प्रसन्न न होगा; क्योंकि उसे सन्तोष तभी होता है जब वह आवश्यकता से बहुत बढ़कर भोजन परोसा हुआ देखता है। चार-पाँच शङ्ग उबले हुए चावल और रोटियाँ दो-तीन पत्तलों में प्रत्येक को दी जाती हैं। दानपति के सम्बन्धी और पड़ोसी, अनेक प्रकार के भोजन,—जैसे चावल की रोटियाँ, उबले हुए चावल, जूस के लिए

कि यह शायद मेरे लिए मारा गया होगा। देखिए महावग्ग ७,३१,१४,२। काश्यप कहता है कि यह केवल हीनयान का ही नियम है, और नीच तथा अधम है।

* शङ्ग यहाँ संस्कृत प्रस्थ (= ३२ पल) की जगह आया है।

तरकारियाँ, इत्यादि—साथ लाकर भोज में सहायता देते हैं। सामान्यतः एक मनुष्य का उच्छिष्ट भोजन इतना होता है जिससे तीन मनुष्यों की भूख मिट सकती है; परन्तु इससे बड़े भोज की अवस्था मे एक मनुष्य का उच्छिष्ट भोजन दस मनुष्य भी नहीं खा सकते। बाक़ी बचा हुआ भोजन भिक्षुओं के लिए ही रहने दिया जाता है। वे नौकरों को कहकर उसे विहार में उठा ले जाते हैं।

उपवसथ-दिवस का अनुष्ठान चीन में भारत से भिन्न होता है। चीन मे बचे हुए भोजन को दानपति इकट्ठा कर लेता है; उसे ले जाने की आज्ञा अतिथियों को नहीं। आत्मसन्तोष और निर्दोष होने से भिक्षुगण अपने समय की रीति के अनुसार आचरण कर सकते हैं; इसलिए दानपति के दान का सङ्कल्प किसी तरह भी अधूरा नहीं रहता। परन्तु यदि दानपति ने बाक़ी बचे हुए भोजन को इकट्ठा न करने का संकल्प कर लिया है और वह अतिथियों को इसे ले जाने के लिए कह देता है, तो अवस्था के अनुसार जैसा सर्वोत्तम हो वैसा करना चाहिए।

भिक्षुओं के खा चुकने और हाथ-मुँह धो चुकने के अनन्तर उच्छिष्ट भोजन वहाँ से उठा दिया जाता है और भूमि को साफ़ करके उस पर फूल बखेर दिये जाते हैं। दीपोत्सव किया जाता है और वायु के सुगन्धित करने के उद्देश्य से धूप जलाया जाता है, और भिक्षुओं को जो कुछ देना हो वह उनके सामने सजाकर रख दिया जाता है। अब, वू-वृत्त (द्रयन्द्र बीज) के फल के परिमाण के लगभग, सुगंध की लेई प्रत्येक को दी जाती है। वे उसे हाथों मे मल लेते हैं जिससे वे स्वच्छ और सुवासित हो जायँ। फिर कुछ पिन-लङ्ग फल (सुपारी) और जायफल, लौंगों और कपूर के साथ मिलाकर, बाँटे जाते हैं। इनको खाने से उनका मुख सुगन्धित हो जाता है, भोजन पच जाता है, और कफ दूर हो जाता है। ये

आरोग्यजनक वस्तुएँ और अन्य पदार्थ, शुद्ध जल में धोकर और पत्तों में लपेटकर, भिक्षुओं को दिये जाते हैं।

अब दानपति स्थविर के पास आकर, अथवा (सूत्र) पढ़नेवाले के सम्मुख खड़े होकर, कुण्डी के चोंचदार मुख से एक बासन मे जल डालता है जिससे ताँबे की एक पतली छड़ी के सदृश जल लगातार निकलता है। भिक्षु दानगाथाएँ मुँह में पढ़ता है। उसके हाथ में पुष्प होते हैं और उन पर जल गिरता है। पहले, बुद्ध के शब्दों के श्लोक पढ़े जाते हैं, तत्पश्चात् दूसरे लोगों के बनाये हुए। श्लोकों की संख्या, पढ़नेवाले की इच्छा अथवा अवस्थाओं के अनुसार, थोड़ी अथवा अधिक हो सकती है। तब पुरोहित, दानपति का नाम लेकर, उसके सुख के लिए प्रार्थना करता है, और उस समय किये हुए शुभ कर्मों का पुण्य-फल मृतकों, राजाओं, नागों तथा प्रेतों को देने की कामना करता है, और प्रार्थना करता है कि 'देश मे उत्तम फ़सले हों, मनुष्य और अन्य प्राणी सुखी हों; शाक्य की श्रेष्ठ शिक्षा चिरस्थायी हो।' मैंने इन गाथाओं का अनुवाद किया है जैसा कि आप अन्यत्र* देख सकते हैं। ये स्वयं जगत्-पूज्य (बुद्ध) के दिये हुए आशीर्वाद हैं। वे भोजन के अनन्तर सदा दक्षिणागाथाएँ† पढ़ा करते थे। इस (दक्षिणा) का अर्थ है दिया हुआ दान, और दक्षिणीय उसे कहते हैं जो दान देकर सम्मानित किये जाने के योग्य हो। इसलिए पुण्यात्मा (बुद्ध) ने हमे आज्ञा दी है कि दानपति के आतिथ्य का पुरस्कार देने के लिए भोजन के अनन्तर हमें एक दो दानगाथाएँ पढ़नी चाहिएँ; यदि हम इसकी उपेक्षा करते हैं तो पवित्र नियमों के विरुद्ध चलते

---

* देखिए इ-त्सिङ्ग-कृत "पापप्रकाशन के नियम"।

† दक्षिणागाथाओं के उदाहरणों के लिए देखिए महापरिनिब्बान-सुत्त १, ३१ : महावग्ग ६, २९, ८; जातक १, ११९।

हैं, और दिये हुए भोजन को खाने के अधिकारी नहीं। बचे हुए भोजन को माँगने का नियम कभी-कभी भोज के पश्चात् पूरा किया जाता है।

तब दान बाँटे जाते हैं। कभी-कभी दानपति कल्पवृक्ष मुहैया करके भिक्षुओं को देता है अथवा स्वर्ण के कमल-फूल बनाकर बुद्ध की प्रतिमा पर चढ़ाता है। सुन्दर फूल घुटनों तक ऊँचे, और श्वेत वस्त्र, एक पलँग पर रखकर विपुलता से चढ़ाये जाते हैं। तीसरे पहर कभी-कभी किसी छोटे-से सूत्र की व्याख्या की जाती है। कभी-कभी भिक्षु लोग रात बिताने के अनन्तर चले जाते हैं। चलते समय वे "साधु", और "अनुमत" भी, कहते हैं। "साधु" का अर्थ है "अच्छा!" और 'अनुमत'-का अनुवाद सुई-ह्सी (या तू 'पसन्द है')* किया गया है। जब दूसरों को अथवा अपने आपको दान दिया जाय तब मनुष्य को समान रूप से, उस कर्म से, अनुमति प्रकट करनी चाहिए, क्योंकि, दूसरों के दानों की प्रशंसा करने और उनपर हुलसने से, मनुष्य धार्मिक पुण्य प्राप्त कर सकता है। उपर्युक्त वर्णन दक्षिण-सागर के द्वीपों मे उपवसथ-दिवस पर भोज की प्रचलित रीति का है।

एक और रीति है जिसका प्रचार मध्यम स्थिति की जनता मे है। पहले दिन, भिक्षुओं को निमन्त्रित करके उन्हें सुपारी दी जाती है; दूसरे दिन, तीसरे पहर बुद्ध की मूर्त्ति को स्नान कराया जाता है, दोपहर के समय भोजन किया जाता है, और सायंकाल सूत्र पढ़े जाते हैं। इसके अतिरिक्त एक और भी रीति है जिसका प्रचार दरिद्र लोगों में है। पहले दिन, दानपति भिक्षुओं को दातनें भेंट करता और उन्हें भोजन के लिए निमन्त्रण देता है; दूसरे दिन,

---

* इत्सिङ्ग ने यहाँ दानपति के व्यथा पर एक टिप्पणी दी है। उसने, सामान्य रीति से, प्राचीन अनुवादकों का खण्डन किया है।

वह केवल भोज तैयार करता है। या कभी-कभी दानपति जाकर भिक्षुओं को प्रणाम करता और उन्हें दान दिये बिना ही भोजन के लिए बुलाने की इच्छा प्रकट करता है। व्रत के दिनों पर सत्कार की रीति तुखार (अर्थात् तोचरी तातार) और सूली (काशगर के पश्चिम मे, जहाँ मुग़ल या तुर्क बसते हैं; इसे कभी-कभी 'सुधी' भी लिखा जाता है) जैसे तुर्क और मुग़ल देशों में भी भिन्न है।

इन देशों मे दानपति पहले फूलों का छत्र भेंट करता और चैत्य में चढ़ावा चढ़ाता है। भिक्षुओं का एक बड़ा दल चैत्य को घेर लेता है और पूर्ण रूप से प्रार्थना कराने के लिए एक गुरु चुन लेता है। यह हो चुकने पर वे भोजन करना आरम्भ कर देते हैं। पुष्प-छत्र-सम्बन्धी नियमों का उल्लेख "पश्चिम का लेख्य*" में किया गया है।

यद्यपि भिन्न-भिन्न देशों में उपवसथ-दिवस की प्रक्रियाएँ साधारण परिपाटी और भोजन मे इतनी भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी सङ्घ की व्यवस्था, पवित्रता की रक्षा, उँगलियों से भोजन करने की रीति, और अन्य सारे नियम बहुत कुछ वही हैं। सङ्घ के कुछ भिक्षु कई एक धूताङ्गों (अर्थात्, भिक्षुओं के लिए दैनिक जीवन के विशेष नियमों) का अभ्यास करते हैं, जैसा कि भिक्षा पर निर्वाह करना और केवल तीन कपड़े धारण करना (अर्थात् पैण्डपातिकाङ्ग, और त्रैचीवरिकाङ्ग)†। ऐसा भिक्षु कोई निमन्त्रण स्वीकार नहीं करता, और स्वर्ण जैसे बहुमूल्य पदार्थों के दान को थूक के समान समझकर उसकी कुछ परवा नहीं करता, और किसी एकाकी वन मे छिपकर रहता है। यदि हम पूर्व (चीन) की ओर मुड़कर वहाँ उपवास के दिन सत्कार

---

* मालूम नहीं यह कौन-सी पुस्तक है। इसका तात्पर्य ह्यू न-त्सांग की पुस्तकों से नहीं; फ़ा-हिएन के भ्रमणवृत्तान्त से तो बिलकुल ही नहीं। यह कोई उसकी अपनी पुस्तक जान पड़ती है।

† तीन कपड़ों के लिए, देखिए महावग्ग ८, १३, ४.

की रीति को देखें तो दानपति भिक्षुओं को निमन्त्रण-पत्र भेज देता है और दूसरे दिन भी आप आकर नहीं पूछता।

बुद्ध के बनाये हुए नियमों के साथ तुलना करने पर इस अनुष्ठान में उचित सम्मान की कमी पाई जाती है। सामान्य मनुष्यों को ये नियम अवश्य बताये जाने चाहिएँ। भोज में आते हुए अपने साथ एक चालनी लानी चाहिए, और भिक्षुओं के उपयोग के लिए दिये हुए जल की सावधानी से परीक्षा करनी चाहिए। भोजन कर चुकने के बाद, दातन करनी चाहिए; यदि मुँह में कुछ रस रह जायगा तो उपवसथ की जो धार्मिक प्रक्रिया की जा रही है वह पूर्ण न होगी। ऐसी अवस्था में निर्दिष्ट समय के व्यतिक्रम का दोष लग जायगा, चाहे मनुष्य ने सारी रात भूखे ही क्यों न काटी हो। आशा की जाती है कि भारत में भोजन करने की विधि की जाँच और तुलना से चीन की रीति पर विचार किया जायगा। यदि एक में दूसरे की अपेक्षा अधिक उचित बातें होंगी तो प्रत्येक अनुष्ठान का गुण स्वभावतः ही स्पष्ट हो जायगा। मेरे पास पूरा-पूरा विचार करने के लिए समय नहीं, इसलिए बुद्धिमानों को अपने लिए आप ही निर्णय कर लेना चाहिए।

कुछ समय हुआ, मैंने इस प्रकार तर्क करने की चेष्टा की—जगद्वन्द्य, सर्वश्रेष्ठ, महती करुणा के पिता ने पुनर्जन्म के समुद्र में डूबे हुए लोगों पर दया दिखाई। उसका आयास तीन महाकल्पों तक जारी रहा। इस इच्छा से कि लोग उसका अनुसरण करें, वह अपने सिद्धान्त का प्रचार करता हुआ सात दर्जन बरस जीता रहा। वह भोजन और वस्त्र-सम्बन्धी नियमों को सबसे आगे और पहले समझता था क्योंकि वे धर्म्म की रक्षा के मूल हैं; परन्तु वह डरता था कि उनसे कोई सांसारिक कठिनाई न पैदा हो जाय, इसलिए उसने कड़े नियम और निषेध बना दिये।

ये नियम गुरुदेव के आदेश हैं, और मनुष्य को हर तरह से उनका पालन तथा अनुष्ठान करना चाहिए। परन्तु इसके विपरीत कुछ लोग ऐसे हैं जो असावधानी से अपने आपको निष्पाप समझते हैं, और जो यह नहीं जानते कि खाने से अशौच पैदा हो जाता है।

कुछ लोग व्यभिचार-सम्बन्धी एक-आध आज्ञा का पालन करने से ही कहते हैं कि हम पाप से मुक्त हैं; वे विनय के नियमों का अध्ययन करने की कुछ भी परवा नही करते। उन्हें इस बात का कुछ भी विचार नहीं कि वे कैसे निगलते, खाते, वस्त्र पहनते और उतारते हैं। केवल शून्यवाद पर ही ध्यान देने को वे बुद्ध की इच्छा समझते हैं। क्या ऐसे लोग यह समझते हैं कि सब व्यवस्थाएँ बुद्ध के आदेश नहीं? एक का सम्मान और दूसरे की उपेक्षा करना मनुष्य के अपने निर्णय का परिणाम होता है। अनुयायी लोग एक-दूसरे का अनुकरण करते हैं और उन व्यवस्था-पुस्तकों को नहीं देखते; वे 'शून्यवाद' के केवल दो ग्रन्थों की नक़ल कर लेते हैं और कहते हैं कि इसमे वर्णित सिद्धान्त मे तीनों पिटक आ जाते हैं।

परन्तु उन्हें यह विदित नही कि प्रत्येक आहार, अधर्म्य होने पर, नरक मे पसीना बहाने का कष्ट देता है; उन्हें यह मालूम नही है कि भूल से उठाये हुए प्रत्येक पग के परिणाम से मनुष्य को विद्रोही के रूप मे जीने का क्लेश सहना पड़ता है।

बोधिसत्त्व का मूल-सङ्कल्प वायु के थैले को (जो कि भवसागर में पड़े हुए सभी प्राणियों को दिया गया है) कसकर रखना है जिससे वह टपकने न पावे। अपने छोटे से छोटे अपराध पर भी यदि हम आँख खोले रहें तो इस घोषणा को कि यह जन्म अन्तिम है, पूर्ण कर सकते हैं। छोटे-छोटे अपराधों को रोककर और शून्यवाद का

चिन्तन करके, हम दयालु पूज्यदेव की शिक्षा के अनुसार महायान और हीनयान दोनों सम्प्रदायों का अनुष्ठान युक्तिसङ्गत रीति से कर सकते हैं। यदि काम भली भाँति चल रहे हैं और हमारे मन शान्त हो चुके हैं तो (दोनों मतों का अनुसरण करते हुए) हम में दोष ही क्या है ?

कुछ लोगों को अपने आपको तथा दूसरों को मार्ग भुला देने का डर है, और वे शिक्षा के एक ही पक्ष का अनुसरण करते हैं।

निस्सन्देह शून्यवाद कोई झूठा वाद नहीं, परन्तु विनय-सिद्धान्त की उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिए। मनुष्य प्रति पक्ष शील का उपदेश करें, और साथ ही अपने पापों को स्वीकार करके उन्हें धो डालें। अपने अनुयायियों को सदा दिन मे तीन वार बुद्ध की पूजा करने की शिक्षा तथा प्रोत्साह देते रहना चाहिए।

बुद्ध की शिक्षा का प्रचार संसार में दिन पर दिन कम हो रहा है। मैंने अपने वाल्य-काल मे जो कुछ देखा था उसकी तुलना जब मैं उसके साथ करता हूँ जो कुछ कि मैं आज अपनी वृद्धावस्था मे देख रहा हूँ तब अवस्था विलकुल भिन्न मालूम होती है, और हम इसकी साक्षी दे रहे हैं। आशा है कि भविष्य मे हम अधिक सावधान रहेंगे।

खाने और पीने की आवश्यकता चिरस्थायी है, परन्तु जो लोग बुद्ध का पूजन और सेवन करते हैं उन्हें उसकी श्रेष्ठ शिक्षा की किसी भी बात की कभी उपेक्षा न करनी चाहिए।

मैं फिर कहता हूँ—बुद्ध के अस्सी सहस्र वादों में से केवल दो-एक ही सब से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं; मनुष्य को सांसारिक मार्ग के अनुकूल होना, परन्तु भीतर से सच्ची प्रज्ञा प्राप्त करने का यत्न करते रहना चाहिए। अच्छा, अब वह सांसारिक मार्ग क्या है ? यह है निषेधात्मक नियम का पालन करना और प्रत्येक प्रकार के पाप

से बचना। सच्ची प्रज्ञा क्या है ? यह है विषयी और विषय के बीच के भेद-भाव को मिटा देना, उत्कृष्ट सत्य पर चलना, और अपने आपको सांसारिक आसक्ति से मुक्त करना; कारणत्व की लड़ी की वर्तमान बेड़ियों को फेंक देना; बहुत-से शुभ कर्म्मों का संग्रह करके धार्म्मिक पुण्य लाभ करना, और अन्ततः पूर्ण तत्त्व के उत्कृष्ट अर्थ का अनुभव कर लेना।

मनुष्य को न तो कभी त्रिपिटक से अनजान होना चाहिए, और न इसमें वर्णित सिद्धान्तों और शिक्षा से घबराहट में ही पड़ना चाहिए। कुछ लोग ऐसे हैं जिनके पापों की संख्या उतनी ही बड़ी है जितनी कि गङ्गा की रेत के दानों की, फिर भी वे कहते हैं कि हमने बोधि-अवस्था (सच्ची प्रज्ञा) का अनुभव कर लिया है। बोधि का अर्थ है चित्त-प्रबोधन। इसमें मनोविकार के सभी फन्दे नष्ट हो जाते हैं। जिस अवस्था में न जन्म है और न मरण, वही सच्ची नित्यता है। दुःख-सागर में रहते हुए, कुछ लोगों की तरह, हम यह कैसे कह सकते हैं कि हम सुखावती मे रहते हैं ?

जो मनुष्य नित्यता की सचाई का अनुभव करना चाहता है उसे पवित्रता से नैतिक आदेशों का पालन करना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि **छोटे से दोष** से भी बचता रहे क्योंकि, तैरने की मशक से थोड़ी-सी हवा निकल जाने के सदृश, इससे प्राण-हानि की सम्भावना है; और मनुष्य को बड़े अपराध को रोकना चाहिए जो, जिस प्रकार टूटी हुई आँखवाली सूई निरर्थक हो जाती है, मनुष्य के जीवन को निष्फल बना देता है। सारे बड़े-बड़े अपराधों में से मुख्य और प्रधान वे हैं जिनका सम्बन्ध भोजन और वस्त्र से है। बुद्ध की शिक्षा पर चलनेवाले के लिए मोक्ष बहुत दूर नहीं, परन्तु जो उन पवित्र वचनों की उपेक्षा करता है उसके लिए पुनर्जन्म सदा बना रहता है। यहाँ तक मैंने धर्म्मसंगत

अनुष्ठानों का उल्लेख और पूर्व उदाहरणों का संक्षेप से वर्णन किया है। इन सब का आधार श्रेष्ठ प्रमाण हैं, मेरी अपनी निज की सम्मति नहीं। मुझे आशा है कि मेरे इन सरल आवेदनों से आप खीझ नहीं रहे हैं, और मेरा यह वृत्तान्त आपकी शङ्काओं को दूर करने में सहायता देगा। यदि मैं (भारत और चीन के) अच्छे और बुरे अनुष्ठानों का ठीक-ठीक वर्णन न करता तो कौन जान सकता कि दोनों में से कौन-से अच्छे हैं और कौन-से बुरे?

दसवाँ परिच्छेद

आवश्यक भोजन और वस्त्र

यह बात ध्यान देने योग्य है कि पार्थिव शरीर, जिसके लिए पोषण की आवश्यकता है, केवल भोजन और वस्त्र-द्वारा ही रक्खा जाता है, और आध्यात्मिक ज्ञान—जो कि जन्म के बन्धनों से परे है—शून्यता के सिद्धान्त के द्वारा ही बढ़ाया जा सकता है। यदि भोजन और आच्छादन का व्यवहार उचित नियमों के विरुद्ध हो तो पग-पग पर कोई न कोई अपराध होता रहेगा; और नैतिक व्यवस्था के बिना मन को शान्त करने की क्रिया से ज्यों-ज्यों मनुष्य ध्यान करता है, व्याकुलता बढ़ती जाती है।

इसलिए जो लोग मोक्ष की तलाश में हैं उन्हें बुद्ध के श्रेष्ठ वाक्यों के अनुसार भोजन और आच्छादन का व्यवहार करना चाहिए, और जो लोग ध्यान के नियम का अभ्यास करना चाहते हैं उन्हें अपने विचारों को शान्त करने के लिए पूर्व ऋषियों की शिक्षा का अनुकरण करना चाहिए। इहलोक के जीवन की रक्षा करो, जो कि भूले-भटके लोगों के लिए कारागार मात्र है, परन्तु निर्वाण-रूपी तट की ओर उत्सुकता से देखो जोकि बोधि और विश्राम का मुक्त-द्वार है। धर्म्म-रूपी जहाज़ दुःख-रूपी समुद्र के लिए तैयार रखना चाहिए, और प्रज्ञा के दीपक को अन्धकार के दीर्घकाल मे ऊपर उठा रखना चाहिए। पालन करने और छोड़ देने के विषय में विनय-पुस्तकों में स्पष्ट नियम हैं जो कि आच्छादन

की मर्यादा और खान-पान के नियमो के प्रकाश में प्रत्यक्ष हैं, जिस से वे लोग भी—जिन्होंने अध्ययन अभी आरम्भ ही किया है—अपराध के स्वरूप को समझ सकते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने अच्छे और बुरे अनुष्ठानों के फलों के लिए आप उत्तरदाता होना चाहिए। यहाँ युक्ति का कोई प्रयोजन नहीं। परन्तु कुछ लोग, जैसे कि विद्यार्थियों के शिक्षक, ऐसे हैं जो विनय के नियमों के विरुद्ध घोर अपराध करते हैं; फिर कुछ ऐसे भी हैं जो कहते हैं कि लोकाचार मे, चाहे वह बुद्ध की विनय के ही विरुद्ध क्यों न हो, कोई पाप नहीं। कुछ लोगों का विचार है कि बुद्ध भारत मे उत्पन्न हुआ था, और भारतीय भिक्षु भारतीय रीतियों पर चलते हैं, परन्तु हम चीन में रहते हैं, और चीनी भिक्षु होने के कारण हमे चीनी रीतियों पर चलना चाहिए। वे युक्ति देते हैं कि 'हम दिव्य भूमि (चीन) के सुन्दर वेष को छोड़कर भारतीय परिच्छद के विशेष ढँग को कैसे ग्रहण कर सकते हैं?' इस मत के अनुयायियों के लिए मैं विनय के प्रमाण के आधार पर स्थूल रूप से अपनी सम्मति लिखता हूँ।

प्रव्रज्या के जीवन के लिए आच्छादन के नियम सबसे अधिक महत्त्व रखते हैं, इसलिए मैं यहाँ परिच्छद के ढंग का सविस्तर उल्लेख करता हूँ, क्योंकि इनकी उपेक्षा अथवा संक्षेप नहीं किया जा सकता। तीन परिच्छदों (चीवर) को लीजिए तो भारत के पाँचों खण्डों मे थेगलियाँ सटी-सटी सी दी जाती हैं, परन्तु एक चीन मे वे खुली रहती हैं और सी नहीं जातीं। मैंने स्वयं अन्वेषण किया है कि उत्तरीय देशों मे (भारत से परे) कैसी रीति प्रचलित है। मुझे पता लगा है कि जहाँ-जहाँ चतुर्निकाय के विनय पर आचरण होता है वहाँ सभी स्थानों में थेगलियाँ सटी सटी सी दी जाती हैं।

मान लीजिए कि पश्चिम (अर्थात्, भारत) के किसी भिक्षु को चीन का चीवर मिलता है; वह सम्भवतः थेगलियों को सीकर फिर उसे धारण करेगा।

सभी निकायों की विनय-पुस्तकों में थेगलियों को सीने तथा बाँधने की आज्ञा है।

विनय मे छः आवश्यक द्रव्यों (परिष्कारों) और तेरह अपरिहार्य वस्तुओं के सम्बन्ध में कड़े नियमों की पूरी-पूरी व्याख्या है। भिक्षु के छः परिष्कार ये हैं—

१. सङ्घाटी, जिसका अनुवाद "दुहरा कंचुक" किया जाता है।

२. उत्तरासङ्ग, जिसका अनुवाद "ऊपर का परिच्छद" किया जाता है।

३. अन्तर्वास, जिसका अनुवाद "भीतर का परिच्छद" किया जाता है।

ऊपर कहे गये तीनों चीवर कहलाते हैं। उत्तर के देशों मे भिक्षुओं के ये कंचुक अपने गेरुवे रङ्ग के कारण प्रायः काषाय कहलाते हैं। परन्तु इस पारिभाषिक शब्द का विनय में व्यवहार नहीं हुआ।

४. पात्र।

५. निषीदन, अर्थात् बैठने अथवा लेटने के लिए कोई चीज़।

६. परिस्रावण, अर्थात् पानी की चालनी।

दीक्षार्थी के पास ये छः परिष्कार होने चाहिएँ*।

तेरह अपरिहार्य वस्तुएँ† निम्नलिखित हैं—

---

* पाली ग्रन्थों में आठ परिष्कार (आवश्यक द्रव्य) ये हैं—पात्र, चीवर, पेटी, उस्तरा, सूई, और जल-चालनी (अभिधानप्पदीपिका, ४३९; दशजातकम्, १२०)।

† महाव्युत्पत्ति में तेरह गिनाई गई हैं।

१. सङ्घाटी, एक दुहरा कंचुक।

२. उत्तरासङ्ग, ऊपर का परिच्छद।

३. अन्तर्वास, भीतर का परिच्छद।

४. निषीदन, बैठने अथवा लेटने की चटाई।

५. (निवासन), एक अन्तरीय वसन।

६. प्रतिनिवासन (एक दूसरा निवासन)।

७. सङ्कक्षिका, बग़ल को ढकनेवाला कपड़ा।

८. प्रति-सङ्कक्षिका (एक दूसरी सङ्कक्षिका)

९. (काय-प्रोञ्छन), शरीर पोंछने का तौलिया।

१०. (मुख-प्रोञ्छन), मुँह पोछने का तौलिया।

११. (केश-प्रतिग्रह), मूँड़ते समय बाल डालने का कपड़ा।

१२. (कण्डुप्रतिच्छादन), खुजली को ढाँपने का कपड़ा।

१३. (भेषजपरिष्कारचीवर), अर्थात् (आवश्यकता के समय) ओषधियों का मूल्य देने के लिए रक्खा हुआ कपड़ा।

यह एक गाथा-द्वारा इस प्रकार बताया गया है—

तीन चीवर, बैठने की चटाई (१, २, ३, ४)।

निवासनों और सङ्कक्षिकाओं का एक जोड़ा (५, ६, ७, ८)।

शरीर और मुख के लिए तौलिये, क्षौर के लिए कपड़ा (९, १०, ११)।

खुजली के लिए कपड़ा और औषध के लिए वास (१२, १३)।

प्रत्येक भिक्षु को ये तेरह अपरिहार्य वस्तुएँ रखने का अधिकार है।—यह एक प्रतिष्ठित नियम है, और बुद्ध की शिक्षा के अनुसार इनको उपयोग मे लाना चाहिए। इसलिए इन तेरह को विलासिता की दूसरी सामग्री मे नहीं रख देना चाहिए। इन वस्तुओं की नामावली अलग बननी चाहिए। इन पर चिह्न लगाना चाहिए, और इन्हे स्वच्छ और सुरक्षित रखना चाहिए।

इन तेरह में से जो जो मिले उन्हें रक्खो, परन्तु उन सबको लेने का कष्ट न करो। शेष सब विलासिता के कपड़े—जिनका उल्लेख ऊपर नहीं—इन अपरिहार्य वस्तुओं से भिन्न रखने चाहिएँ, परन्तु ऐसी चीज़ें जैसा कि ऊनी सामग्री अथवा गलीचे लिये जा सकते और दानियों की इच्छा को स्वीकार करते हुए उपयोग में लाये जा सकते हैं। कुछ लोग तीन चीवर और दस अपरिहार्य वस्तुएँ कहते हैं, परन्तु यह विभाग भारतीय पुस्तकों में नहीं मिलता। कुछ अनुवादकों ने अपने ही अधिकार से तेरह को दो समूहों में बाँट दिया है। वे तीन चीवरों का उल्लेख विशेष रूप से करते हैं, और फिर दस वस्तुओं के रखने की आज्ञा देते हैं। परन्तु वे दस वस्तुएँ कौन-सी हैं? वे ठीक तौर पर उन्हें नहीं बता सके, और इस प्रकार उन्होंने कुछ चालाक टीकाकारों को इस त्रुटि का लाभ उठाने दिया है। इन टीकाकारों ने 'शिह' अक्षर की व्याख्या, जिसका अर्थ 'दस' है 'फुटकर' की है, परन्तु इस अवस्था में यह अर्थ प्राचीन प्रामाणिक लोगों का लगाया हुआ कभी नहीं हो सकता।

ओषधियों का मूल्य चुकाने के लिए बुद्ध ने भिक्षु को जो कपड़ा रखने की आज्ञा दी है वह कोई २० फुट लम्बा, अथवा रेशम का एक पूरा थान होना चाहिए। (पाठ में जो १ पइ लिखा है वह जापान में कोई २१½ गज़ होता है)। सम्भव है, मनुष्य पर अकस्मात् रोग का आक्रमण हो जाय, और ओषधि की प्राप्ति का उपाय शीघ्र ही ढूँढ़ने पर मिलना कठिन हो।

इस कारण एक फालतू कपड़ा पहले से ही तैयार रखने का विधान था, और चूँकि बीमारी के समय इसकी आवश्यकता होती है, इसलिए और प्रकार से इसे प्रयोग मे न लाना चाहिए। धर्म्मानुष्ठान और दान के मार्ग मे मुख्योद्देश्य सर्वसाधारण का

उद्धार है। योग्यता की दृष्टि से तीन प्रकार के मनुष्य हैं, और वे सब एक ही मार्ग पर नहीं चल सकते। चार शरणों*, चार कर्मों†, और तेरह धूताङ्गों‡ का विधान श्रेष्ठ जनताओं के लिए था।

---

* चार शरण—(१) पांसुकूलिकाङ्ग: (२) पिण्डपातिकाङ्ग: (३) वृक्ष-मूलिकाङ्ग: (४) पूतिमुक्तभैषज्य।

† चार (उचित) कर्म मूलसर्वास्तिवादैकशतकर्मन् में, पहला अध्याय (इत्सिङ्ग का अनुवाद, No. 1131. in Nanjio's Catalogue)—(१) झूठे कलङ्क के बदले में झूठा कलङ्क न लगाना; (२) क्रोध का बदला क्रोध से न देना; (३) तिरस्कार का उत्तर तिरस्कार में न देना; (४) चोट के बदले में चोट न करना।

‡ तेरह धूताङ्ग यतियों के विशेष अनुष्ठान हैं, जिनका करना बौद्ध भिक्षुओं के लिए श्लाघ्य है। कभी-कभी ये 'बारह' धूताङ्ग भी गिने जाते हैं, देखिए कसावरा का धर्मसंग्रह ६३।

पाली	चीनी व्याख्या का शब्दार्थ
(१) पाम्सुकूलिकङ्गम् (संस्कृत-पांसुकूलिक, ११)	धूलि-राशि (पांसु) के चिथड़ों के बने हुए कपड़ों वाला।
(२) तेचीवरिकङ्गम् (संस्कृत-त्रैचीवरिक, २)	केवल (तीन) चीवर पहनने वाले मनुष्य के उपयुक्त।
(३) पिण्डपातिकङ्गम् (संस्कृत-पैण्डपातिक, १)	सदा माँगनेवाला।
(४) सपदानचारिकङ्गम् (दील)	द्वार-द्वार भीख माँगता हुआ।
(५) एकासनिकङ्गम् (संस्कृत-एकासनिक, ३)	एक ही बार बैठकर खाना।
(६) पत्तपिण्डिकङ्गम् (Deest)	कटोरा लेकर भिक्षा माँगना।
(७) खलुपच्छाभत्तिकङ्गम् (संस्कृत-खलुपश्चाद्भक्तिक, ६)	दो बार (या पीछे से) भोजन न लेना।
(८) आरञ्ञकङ्गम् (संस्कृत-आरण्यक, ६)	अरण्य में रहनेवाला।

कमरों के अधिकार, दानों के लेने और तेरह अपरिहार्य वस्तुओं की आज्ञा मध्यम तथा छोटी दोनों श्रेणियों के भिक्षुओं को है। इसलिए जिनके मनोरथ कम हैं वे विलासिता में लिप्त होने के दोष से बच जाते हैं, और जिनको अधिक की आवश्यकता है उन्हें अभाव से दुःख नहीं उठाना पड़ता। दयालु पिता (बुद्ध) महान् है जो निपुणता से हर प्रकार के मनोरथ पूर्ण करता है, जो मानवों और देवों मे उत्तम नेता है। वह 'पुरुषदम्यसारथि' अर्थात् मनुष्य रूपी घोड़े को सधानेवाला सारथी कहलाता है।

एक सौ एक भोगों सम्बन्धी वचन (जिसका उल्लेख चीनी विनय-निकाय, नन-शन, किया करता है) चार निकायों के विनय-ग्रन्थों में नहीं मिलता।

यद्यपि कुछ सूत्रों में 'एक सौ एक भोगों' का कुछ उल्लेख है, पर यह एक विशेष अवसर के लिए है। एक सामान्य मनुष्य के घर में भी, जिसके भोग अनेक हैं, पारिवारिक भोगों की संख्या

---

(९) रुक्खमूलिकङ्गम् (संस्कृत-वृक्षमूलिक, ६) — पेड़ के नीचे बैठा हुआ।

(१०) अब्भोकासिकङ्गम् (संस्कृत-आभ्यवकाशिक, ८) — अरक्षित स्थान में निवास करता हुआ।

(११) सोसानिकङ्गम् (संस्कृत-श्माशानिक, १०) — श्मशान में जानेवाला।

(१२) यथासन्थतिकङ्गम् (संस्कृत-यथासंस्तरिक, ५) — जो भी स्थान मिले वहीं बैठ जाना।

(१३) नेसज्जिकङ्गम् (संस्कृत-नैषद्यिक, ४) — (सोते हुए भी) बैठने की अवस्था में।

मैंने पाली नाम इसलिए दिये है क्योंकि "टीका" में दिये हुए तेरह की संख्या और क्रम पाली के साथ ठीक मिलता है। उपर्युक्त ४ और ६ संस्कृत में नहीं हैं, पर एक 'नामतिक' नाम का एक नया धूतगुण और जोड़ दिया गया है। इसका अर्थ है, 'नमदा पहरे हुए'। देखिए चुल्लवग्ग।

पचास तक नहीं पहुँचती; क्या यह सम्भव है कि वीतराग शाक्य-पुत्र, जिसका सांसारिक अनुराग नष्ट हो चुका है, एक सौ एक से अधिक चीज़े रक्खेगा? इसकी आज्ञा है या नहीं, इसकी जाँच बुद्धि-द्वारा हो सकती है।

बारीक और मोटे रेशम की आज्ञा बुद्ध ने दी है। रेशम के कड़े निषेध के लिए नियम बनाने से क्या लाभ है? किसी ने यह निषेध किया था. यद्यपि इसका उद्देश जटिलता को कम करना था पर ऐसा नियम उसे बढ़ाता है। भारत के पाँचों खण्डों के विनय के चतुर्निकाय (रेशमी वस्त्रों का) व्यवहार करते हैं। रेशम को छोड़कर, जो हमे सुगमता से मिल सकता है हम बारीक सन का कपड़ा क्यों ढूँढ़ते फिरें जिसका मिलना कठिन है? क्या यह धर्म्म के मार्ग में सबसे बड़ी रुकावट नहीं? ऐसे नियम को उन प्रबल निषेधो की श्रेणी मे रक्खा जा सकता है जिनको (बुद्ध ने) कभी नहीं ठहराया।

इसका परिणाम यह है कि विनय के विचक्षण अध्येताओं का अभिमान बढ़ जाता है और वे दूसरों का (जो रेशम का उपयोग कर रहे हैं) अनादर करते हैं। जिनका कोई स्वार्थ नहीं और जो कम लोभी हैं उन्हें इससे बहुत लज्जा होती है। वे कहते हैं—'यह क्या बात है कि वे आत्मत्याग को धर्म्म के लिए सहायक समझते हैं?' परन्तु यदि (रेशम के व्यवहार का निषेध) दया के उच्चभाव की प्रेरणा से हो, क्योकि रेशम जीव-हिंसा से तैयार किया जाता है, तो यह बिलकुल युक्तिसंगत है कि वे जीवों पर दया करने के लिए रेशम का व्यवहार छोड़ दे। एवमस्तु; जो वस्त्र हम पहनते और जो भोजन हम खाते हैं वह प्रायः जीवहिंसा से ही प्राप्त होता है। केंचुओं का (जो चलते समय पाँव तले रोंदे जाते हैं) विचार कभी नहीं किया जाता; फिर केवल रेशम

के कीड़ों पर ही क्यों ध्यान दिया जाय? यदि मनुष्य प्रत्येक जीव की रक्षा का यत्न करता है तो उसके पास अपने पोषण के लिए कोई साधन नहीं रह जाता, और मनुष्य को अकारण ही प्राण देने पड़ते हैं। उचित विचार से हमे पता लगता है कि ऐसा व्यवहार ठीक नहीं।

कुछ लोग ऐसे हैं जो घी और मलाई नहीं खाते, जो चमड़े का जूता नहीं पहनते, और रेशम अथवा सूती कपड़ा नहीं रखते। ये सब उसी श्रेणी के लोग हैं जिनका उल्लेख ऊपर हुआ है।

अब हत्या के विषय में सुनिए। यदि जान-बूझकर जीव-हत्या की जाय तो उस कर्म के फल की आशा रक्खी जायगी; परन्तु यदि जान-बूझकर न हो तो, बुद्ध के वचनानुसार, कोई पाप न लगेगा। तीन प्रकार के शुद्ध मांस* ऐसे मांस ठहराये गये हैं जिनके खाने में कोई पाप नहीं। यदि इस नियम के भाव की अवहेला की जायगी तो कुछ न कुछ अपराध, वह थोड़ा भले ही हो, अवश्य लगेगा।

(तीन प्रकार का मांस खाने में), हमारा हत्या का कोई सङ्कल्प नहीं होता, इसलिए हमारे पास एक ऐसा कारण अथवा हेतु है जो हमारे मांस-भक्षण को निष्पाप बना देता है। ऐसा मांस वैसा ही पवित्र है जैसा कि दान मे ली हुई कोई दूसरी वस्तु, और इसलिए हमारे पास एक उदाहरण (या निदर्शन) है जो हमे तर्क को अति निर्मल बनाने में सहायता देता है। जब (हमारे मांस-भक्षण का) कारण और उदाहरण ऐसे स्वच्छ और निर्दोष हों, तब जिस सिद्धान्त का हम समर्थन करते हैं वह भी स्वच्छ और दृढ़ हो जाता है। अब तर्क की तीन शाखाएँ उपर्युक्त के समान स्पष्ट रूप से बनी हुई हैं। इसके अतिरिक्त, हमारे पास

* देखो परिच्छेद ९।

इसी प्रयोजन के बुद्ध के स्वर्गीय शब्द भी हैं। तब और विवाद करने की क्या आवश्यकता? जिस प्रकार ('पाँच दिन' के स्थान में) "पाँच सौ" का संदिग्ध पाठ एक ग्रन्थकार की लेखनी से उत्पन्न हुआ है, और ('भूमि-सूअर' के स्थान में) 'तीन सूअरों' की भ्रमात्मक कल्पना को भी श्रद्धालुओं ने सत्य मान लिया है, (उसी प्रकार, यदि हम इन बातों पर बहुत ज़ियादह तर्क-वितर्क करते चले जायँगे तो लोगों में गड़बड़ फैल जायगी)।*

ऐसे काम, जैसा कि रेशम के कीड़ों की कुसियारियाँ स्वयं जाकर माँगना, अथवा कीड़ों की हत्या होते देखना, उन लोगों का तो कहना ही क्या जो अन्तिम मोक्ष की आशा रखते हैं, सामान्य लोगों के लिए भी उचित नहीं। ये कर्म, इस दृष्टि से देखने पर, सर्वथा अनुचित सिद्ध होते हैं। परन्तु मान लीजिए कि कोई दान-पति (कोई ऐसी वस्तु जैसे रेशमी कपड़ा) लाकर भेंट करता है और भिक्षु "अनुमत" कहकर उस दान को स्वीकार कर लेता है ताकि तपस्या में उसका शरीर बना रहे; तो इस कर्म से उसे कोई पाप नहीं लगता। भारत में भिक्षुओं के वस्त्र योंही बे-ठौर-ठिकाने टाँके और सिये जाते हैं, कपड़े के ताने-बाने पर कुछ ध्यान नहीं दिया जाता। उनके निर्माण मे तीन या पाँच दिन से अधिक नहीं लगते। मैं समझता हूँ कि रेशम के एक पूरे थान का एक पाँच लम्बाइयों का (Lengths) और दूसरा सात लम्बाइयों का काषाय बन सकता है। इनका अस्तर तीन अङ्गुल और कालर एक इंच चौड़ा होगा। इस कालर में सीवन की तीन पाँतें होती हैं, और अस्तर के टुकड़े सब इकट्ठे सी दिये जाते हैं। इन काषायों

---

* इ-त्सिङ्ग यहाँ भारतीय तर्क-शास्त्र के अनुसार न्यायवाक्य गढ़ने का यत्न करता है। मेरा अनुवाद यथासम्भव अक्षरशः है यद्यपि मुझे विवश होकर कुछ शब्द कोष्ठों में रखने पड़े हैं।

का उपयोग अवसर के अनुसार प्रक्रिया के समय किया जाता है। तो हम अच्छे और बढ़िया काषाय का ही व्यवहार क्यों करे? फटे-पुराने कपड़ों के उपयोग का उद्देश मितव्ययता है। मनुष्य कभी धूल के ढेरों पर पड़े हुए टुकड़े इकट्ठे कर लेता है; कभी श्मशान मे फेंके हुए चिथड़े उठा लेता है; जब वह उन्हें इकट्ठा कर चुकता है तब एक दूसरे के साथ टाँक देता और उनके बने हुए काषाय का, सरदी और गरमी से शरीर की रक्षा करने के लिए, उपयोग करता है। परन्तु कुछ लोग ऐसे हैं जो कहते हैं कि विनय की पुस्तकों मे वर्णित 'लेटने की वस्तु' तीन कपड़ों (अर्थात् त्रिचीवर) के सिवा और कुछ नहीं, परन्तु जब यह स्पष्ट हो गया कि (' लेटने की वस्तुओं' में से) जङ्गली कुसियारियों के रेशम की वनी हुई का निषेध है तब एक विचित्र कल्पना का प्रचार किया गया, और यह समझा गया कि भिक्षुओं के वस्त्र रेशमी न होने चाहिएँ, और भिक्षु लोग विशेष रूप से सन का कपड़ा लेने लगे। परन्तु उन्हें यह विदित न था कि मूल पाठ मे लेटने की वस्तु, आरम्भ से ही, एक गदेला होती थी।

रेशम के कीड़ों का नाम कौशेय है, और जो रेशम उनसे बनवाया जाता है वह भी कौशेय ही कहलाता है; यह बड़ी मूल्यवान् चीज़ है, और (गदेले के लिए) इसका उपयोग निषिद्ध है। गदेला बनाने की दो विधियाँ हैं; एक विधि यह है कि कपड़े की थैली सी कर उसमे ऊन भर दी जाती है, और दूसरी यह कि (सूत के) धागे (गदेले मे) बुन दिये जाते हैं। शेषोक्त कुछ 'च'ऊ-शू'* (घुटनों के बल बैठने की चटाई) की ऐसी होती है। गदेले का परिमाण दो हाथ चौड़ा और चार हाथ लम्बा होता है; यह ऋतु

* यह नाम चीनी नहीं। यह चीज़ पहले भारत से लाई गई थी। मैं इसका संस्कृत पर्याय नहीं ढूँढ़ सका। शायद ऊर्ण हो।

के अनुसार मोटा और पतला होता है। गदेले के लिए माँगने का निषेध है, पर यदि कोई दूसरा दे तो (उसके लेने मे) कोई पाप नहीं, किन्तु इसके (वास्तविक) उपयोग के लिए (बुद्ध की*) आज्ञा नहीं थी, और कड़े नियम सविस्तर बनाये गये थे। ये सब वस्तुएँ लेटने के लिए हैं, और वही चीज़ नहीं जो कि तीन कपड़े (अर्थात् त्रिचीवर) हैं।

फिर 'विनय' मे वर्णित 'शुद्ध-वृत्ति' का अर्थ, सबसे बढ़कर, मनुष्य का खाना (मूलार्थतः, मुख और आमाशय) है। भूमि को जोतने का कार्य इसके योग्य रीति के अनुसार करना चाहिए (अर्थात्, अपने लिए भूमि-कर्षण की आज्ञा नहीं, परन्तु बौद्ध-सङ्घ के निमित्त ऐसा करने की अनुमति है), परन्तु बोना और रोपना शिक्षा (मूलार्थतः, शिक्षा के जाल) के विरुद्ध नहीं। धर्मानुसार भोजन करने मे कोई पाप नहीं, क्योंकि आरम्भ में कहा गया है कि 'चरित्र गठन से सुख बढ़ता है।'

विनय की शिक्षा के अनुसार, जब सङ्घ अनाज का खेत जोते तब उपज का एक भाग विहार के नौकरों अथवा किसी दूसरे परिवारों को, जिन्होंने वास्तव मे जोतने का काम किया है, दिया जाना चाहिए। प्रत्येक उपज को छः भागों में बाँटना चाहिए, और छठा भाग सङ्घ बटोर ले; सङ्घ को बैल और खेती के लिए भूमि देनी होती है, फिर सङ्घ और किसी वस्तु के लिए उत्तरदाता नहीं। कभी-कभी उपज की बाँट में ऋतुओं के अनुसार परिवर्तन कर देना चाहिए।

पश्चिम के बहुत से विहारों मे उपर्युक्त रीति प्रचलित है, परन्तु कुछ लोग बड़े लालची हैं और उपज को नहीं बाँटते, किन्तु भिक्षुगण

---

* प्रायः ऐसा होता है कि किसी वस्तु को रखने की तो आज्ञा होती है पर उसका उपयोग करने की नहीं। सम्भव है, इत्सिङ्ग के मन में यही नियम हो, परन्तु यह बात स्पष्ट नहीं।

स्वयं ही, क्या पुरुष और क्या स्त्री, सब नौकरों को काम बाँट देते हैं, और देखते रहते हैं कि खेती का कार्य यथोचित रूप से हो रहा है।

जो लोग धार्म्मिक उपदेश के अनुसार आचरण करते हैं वे ऐसे लोगों का दिया हुआ भोजन नहीं खाते, क्योंकि यह समझा जाता है कि ऐसे भिक्षु काम की कल्पना आप तैयार करते हैं, और 'अशुद्ध वृत्ति' से अपना पोषण करते हैं; क्योंकि किराये के नौकरों को बल-पूर्वक दबाने से मनुष्य के क्रोध मे आ जाने की सम्भावना है, भूमि को जोतते समय बीजों के टूटने और बहुत-से जीवों की हिंसा का डर है। मनुष्य का दैनिक भोजन एक शङ्ग से अधिक नहीं, फिर उसकी प्राप्ति के यत्न में कौन सैकड़ों पापों को सह सकता है?

इसलिए धर्म्मात्मा पुरुष किसान के कष्टदायक कार्य से घृणा करता है, और, अपने पास एक कटोरा और ठिलिया लेकर, स्थायी रूप से उससे दूर रहता है (मूलार्थत:, इसे अस्वीकार करता और सदा के लिए फुर्ती से दौड़ जाता है)।

ऐसा मनुष्य किसी प्रशान्त वन में चुपचाप बैठकर पक्षियों और हिरणों के सहवास का आनन्द लूटता है। कीर्ति और अर्थ के कोलाहलमय कार्य से मुक्त होने के कारण वह निर्वाण की पूर्ण निस्तब्धता के विचार से आचरण करता है। विनय के अनुसार, भिक्षु को सङ्घ के लिए अर्थ-प्राप्ति की चेष्टा करने की आज्ञा है, परन्तु बुद्ध की शिक्षा में भूमिकर्षण और जीव-हिंसा की आज्ञा नहीं, क्योंकि कृमियों की हिंसा और उचित चेष्टा मे रुकावट जितनी कृषि में होती है उससे अधिक और किसी मे नहीं। लिखित पुस्तकों में हमने भूमि के एकड़ों (मूलार्थत:, 'दस एकड़,' परन्तु 'दस' से अभिप्राय यहाँ 'कुछ' से है) का ज़रा भी उल्लेख नहीं देखा जिससे मनुष्य के पापमयी और अनुचित वृत्ति में फँसने

की सम्भावना है; किन्तु तीन वस्त्रों-सम्बन्धी नियमों के विषय में, जिनका निर्दोष रूप से, नहीं नहीं, यथार्थ रूप से पालन होना चाहिए, लोगों ने कितनी अधिक लेखनी और मसी नष्ट की है! हा! ये बातें केवल आस्तिकों को ही समझाई जा सकती हैं, अविश्वासियों के साथ इन पर विचार नहीं हो सकता। मुझे केवल यही डर है कि जो लोग धर्म्म का प्रचार कर रहे हैं वे हठीले मत को स्वीकार कर लेंगे।

जब मैं पहले-पहल ताम्रलिप्ति मे गया तब मैंने विहार के बाहर एक चौक मे इसके कुछ इजारेदार देखे जिन्होंने, वहाँ प्रवेश करके, कुछ तरकारियाँ तीन भागों मे बाँटी थीं, और जो उन तीन भागों में से एक भाग भिक्षुओं की भेंट करके, शेष भाग लेकर, वहाँ से वापस आ गये थे। मैं नहीं समझ सका कि वे क्या करते थे, और मैं ने पूज्यपाद तशङ्ग तम्रङ्ग (महायान प्रदीप) से अभिप्राय पूछा। उन्होंने उत्तर दिया—'इस विहार के भिक्षु प्रायः व्यवस्थाओं पर चलनेवाले हैं। क्योंकि महामुनि ने भिक्षुओं के लिए स्वयं खेती करने का निषेध किया है, इसलिए उनकी जिन ज़मीनों पर कर लगता है उनमें वे खुले तौर से दूसरों से खेती कराते हैं, और उपज का केवल एक भाग ही आप लेते हैं। इस प्रकार वे, सांसारिक बातों से बचते हुए और खेतों मे हल चलाने तथा जल-सिञ्चन-द्वारा होनेवाली जीव-हत्या के दोषों से मुक्त रहकर, शुद्ध जीवन व्यतीत करते हैं।

मैंने यह भी देखा कि (उस विहार का) प्रबन्ध करनेवाला भिक्षु कुएँ के तट पर जल की परीक्षा करता है। यदि उस जल में कोई जीव नहीं होता तो उसका उपयोग किया जाता है, और यदि उस मे कोई जीव होता है तो उसे छान लिया जाता है; जब दूसरे लोग (भिक्षुओं को) कोई वस्तु, यहाँ तक कि तरकारी का एक डंठल भी, देते हैं तब वे सङ्घ की अनुमति से उसका उपयोग करते हैं; उस

विहार मे कोई प्रधान पद निर्दिष्ट नही किया जाता है; जब कोई काम पड़ता है तब सङ्घ-द्वारा इसका निर्णय किया जाता है; और यदि कोई भिक्षु किसी बात का निश्चय अपने आप कर देता है, अथवा सङ्घ की इच्छा की परवा न करके स्वेच्छानुसार भिक्षुओं के साथ प्रिय अथवा अप्रिय व्यवहार करता है, तो उसे कुलपति (अर्थात्, उसने गृहस्थों जैसा व्यवहार किया) कहकर (विहार से) निकाल दिया जाता है।

निम्नलिखित बातों पर भी मेरी दृष्टि पड़ी है। जब भिक्षुणियाँ विहार मे भिक्षुओं के पास जाती थीं तब वे पहले (सङ्घ को अपना प्रयोजन) सुनाकर उधर जाती थीं। भिक्षुओं को जब भिक्षुणियों की कोठरियों मे जाना होता था तब वे पूछताछ करने के बाद उधर जाते थे। वे (भिक्षुणियाँ) विहार से दूर होने पर दो-दो मिल कर चलती थीं; परन्तु जब उन्हें किसी आवश्यक काम के लिए किसी सामान्य मनुष्य के यहाँ जाना होता था तब वे उधर चार मिल कर जाती थी। मैंने देखा कि प्रत्येक मास के चार उपवसथ-दिनों में भिक्षुओं का एक बहुत बड़ा समूह एकत्र होता था। वे सब अनेक विहारों से तीसरे पहर देर से वहाँ इकट्ठे होकर विहार-विषयक विधियों का पाठ ध्यान-पूर्वक सुनते और बढ़ते हुए सम्मान के साथ उनको मानते और करते थे।

नीचे लिखी बातें भी मैंने देखी। एक दिन एक छोटे उपाध्याय (अर्थात् जो अभी स्थविर नहीं बना) ने एक लड़के के हाथ एक इजारेदार की पत्नी के पास एक शङ्ग (प्रस्थ) चावल भेजे। यह कर्म एक प्रकार का छल समझा गया। एक व्यक्ति ने यह मामला सङ्घ के सामने पेश कर दिया। उस उपाध्याय को बुलाकर उसकी परीक्षा की गई तो उसने तथा उसके दो सहायकों ने दोष स्वीकार कर लिया। यद्यपि वह निरपराध था तो भी उसने,

लज्जित होकर, (विहार से) अपना नाम वापस ले लिया। वह सदा के लिए विहार से चला गया। उसके गुरु ने एक दूसरे मनुष्य के हाथ उसके पास उसके वस्त्र (जो उसके पीछे रह गये थे) भेज दिये। इस प्रकार सब भिक्षु, सार्वजनिक न्याय-सभा को कभी कष्ट दिये विना, अपने नियमों का पालन करते थे। स्त्रियाँ जब कभी मठ मे प्रवेश करती थीं, कभी (भिक्षुओं की) कोठरियों में नहीं जाती थीं, वरन् उनके साथ थोड़ी देर तक बराण्डे में बातचीत करके वापस चली जाती थीं। उस समय उस विहार मे अ-र-हु ('शि' नहीं) ल-मि-त-र (राहुलमित्र) नाम का एक भिक्षु* था। वह उस समय कोई तीस वर्ष का था; उसका आचरण बहुत ही उत्कृष्ट और उसकी कीर्ति अत्यन्त महान् थी। वह प्रति दिन रत्नकूट† सूत्र का, जिसमें ७०० श्लोक हैं, पाठ करता था। वह न केवल त्रिपिटक का ही पारदर्शी पण्डित था वरन् चार विद्याओं के लौकिक साहित्य मे भी पूरा-पूरा निपुण था। भारत‡

* सम्भव है, यह राहुलमित्र वही राहुलक हो जिसके श्लोक वल्लभदेव (सन् २६००) की सुभाषितावलि में और शार्ङ्गधरपद्धति (१३५,१४) में दिये हुए हैं। वे श्लोक ये है—

१. सुभा० २६००: य कुरुते परयोषित्संगम्
वाञ्छति यश्च धन परकीयम्,
यश्च सदा गुरुवृद्धविमानी
तस्य सुखं न परत्र न चेह।

२ शारङ्ग० १३५,१४ उन्निद्रकन्दलदलान्तरलीयमान—
गुंजन्मदान्धमधुपाञ्चितमेघकाले;
स्वप्नेऽपि यः प्रवसति प्रविहाय कान्ताम
तस्मै विषाणरहिताय नमो वृषाय।

† इस सूत्र के चीनी में दो अनुवाद मिलते हैं—एक सन् २५–२२० ई० में, दूसरा सन् ५८६–६१८ में।

‡ पुस्तक में 'पूर्वा आर्य देश' है।

के पूर्वी प्रान्तों में उसकी पूजा भिक्षु-शिरोमणि के रूप में होती थी। जबसे उसने दीक्षा ली थी तबसे अपनी माता और बहिन के सिवा, किसी स्त्री के साथ आमने-सामने होकर कभी बात नहीं की थी। वे भी जब उसके पास आती थीं तब वह (अपने कमरे से) बाहर आकर उनसे मिलता था। एक बार मैंने उससे उसके ऐसे आचरण का कारण पूछा, क्योंकि यह धार्मिक नियम नहीं है। उसने उत्तर दिया—'मैं स्वभावतः सांसारिक अनुराग से भरा हुआ हूँ, और ऐसा किये बिना मैं इसके स्रोत को बन्द नहीं कर सकता।' यद्यपि पुण्यात्मा ने हमारे लिए (स्त्रियों से बातचीत करने का) निषेध नहीं किया, तो भी, यदि खोटी वासनाओं को रोकने का प्रयोजन हो तो यही उचित है (कि उन्हें दूर रक्खा जाय)।

पूजनीय भिक्षुओं को, यदि वे बहुत विद्वान् हों, और उनको जिन्होंने तीन पिटकों में से एक का पूर्ण रूप से अध्ययन किया हो, सङ्घ (विहार के) सबसे अच्छे कमरे और सेवक देता था। जब ऐसे लोग दैनिक व्याख्यान देते थे तब उन्हें विहार-वासियों पर लगाये हुए काम से मुक्त कर दिया जाता था। बाहर जाते समय वे पालकी मे चढ़ सकते थे परन्तु घोड़े की सवारी नहीं कर सकते थे। जब कोई अपरिचित भिक्षु विहार में आता था तब पाँच दिन तक सङ्घ उसे उत्तम से उत्तम भोजन देता था, और इच्छा की जाती थी कि वह इस काल में अपनी थकावट दूर कर ले। परन्तु इन दिनों के अनन्तर उसके साथ सामान्य आश्रमवासी का सा बर्ताव किया जाता था। यदि वह उत्तम आचरण का मनुष्य होता था तो सङ्घ उसे अपने साथ निवास करने की प्रार्थना करता और उसके पद के उपयुक्त उसे बिछौना देता था। परन्तु यदि वह विद्वान् न होता तो उसे एक भिक्षुमात्र समझा जाता था; और, यदि वह, इस के विपरीत, बहुत विद्वान् होता था तो उसके साथ उपर्युक्त रीति

से बर्ताव किया जाता था। तब उसका नाम (विहार में) रहने-वाले भिक्षुओं की नामावली में लिख लिया जाता था। फिर वह पुराने रहनेवालों जैसा ही हो जाता था। जब कोई सामान्य मनुष्य धार्मिक प्रवृत्ति से वहाँ आता था, तब उसके प्रयोजन के विषय मे पूर्ण रूप से पूछताछ की जाती थी, और यदि उसकी इच्छा भिक्षु बनने की होती थी, तो पहले उसका सिर मुँड़ा जाता था। तब से राज्य की सूचनिका के साथ उसके नाम का कोई सम्बन्ध नहीं रहता था; क्योंकि सङ्घ की एक सूचनिका होती थी (जिस में उसका नाम लिख लिया जाता था)। यदि पीछे से वह नियमो को तोड़ता और धार्मिक क्रियाओं में चूक करता था तो घण्टा बजाने के बिना ही विहार से निकाल दिया जाता था। भिक्षुओं के एक दूसरे के सामने पापों का प्रकाश कर देने के कारण उनके दोष बढ़ने से पहले ही रुक जाते थे।

जब मैं इन सब बातों को देख चुका तब मैंने क्षोभ से मन में कहा—'जब मैं स्वदेश में था तब समझता था कि मैं विनय मे निपुण हूँ। मैंने यह कभी न सोचा था कि एक दिन, यहाँ आकर, मैं अपने आपको (इस विषय से) वस्तुतः अनभिज्ञ सिद्ध करूँगा। यदि मैं पश्चिम में न आया होता तो इन जैसी शुद्ध रीतियों को कैसे देखता!'

उपर्युक्त में से कुछ तो विहार-विषयक अनुष्ठान हैं, कुछ आत्म-संयम के अभ्यास के लिए विशेष रूप से बनाई गई हैं; और शेष सब विनय में मिलती हैं, और (बुद्ध के समय से) इतने दीर्घ काल मे उनको पूरा करना परमावश्यक है। ये सब ताम्रलिप्ति के भ-र-ह* विहार की अनुष्ठान-पद्धति हैं।

---

* बरहत या वराह ?

नालन्द विहार के अनुष्ठान और भी कड़े हैं। फलतः रहनेवालों की संख्या बड़ी और ३०००* से अधिक है। इसके अधिकार मे जो भूमि है उसमे २०० से अधिक गाँव हैं। ये भूमियाँ अनेक पीढ़ियों के राजाओं ने (विहार को) दान में दी हैं। इस प्रकार धर्म्म का अभ्युदय सदा बना रहता है, जिसका कारण सिवा (इस बात के कि) विनय के (अनुसार ठीक-ठीक आचरण किया जाता है) और कुछ नहीं।

मैंने (भारत में) ऐसी रीतियाँ कभी नहीं देखीं जैसी कि (चीन मे) प्रचलित हैं, अर्थात् (विहार-सम्बन्धी झगड़े का निर्णय कराने के लिए,) साधारण राजपुरुष कचहरी मे विशेष बैठक करते हैं, और उस विषय से सम्बन्ध रखनेवाले सभी भिक्षु पंक्ति में वहाँ उपस्थित होते हैं, और ठीक साधारण जनता की तरह चिल्लाते, झगड़ते, छल और एक-दूसरे से घृणा करते हैं। भिक्षुगण जानेवाले राजपुरुष को बिदा करने और आनेवाले नये का स्वागत करने के लिए इधर-उधर दौड़-धूप करते हैं। जब नवीन अधिकारी की परीक्षा अथवा निरूपण विहार के कार्यों या विषयों तक नहीं पहुँचता तब भिक्षु उस अधिकारी के निवासस्थान पर जाकर निम्न अधिकारियों के द्वारा (ऐसी शीघ्रता से वही) उपकार माँगते हैं कि वे अधिकारी का कुशल पूछना भी भूल जाते हैं।

अच्छा, अब हम घर क्यों छोड़ते हैं? इसका कारण यह है कि हम पाँच शङ्काओं† के भयानक मार्ग का परित्याग करने के लिए सांसारिक दुःखों से अलग रहना, और उससे श्रेष्ठ आठ पर्त वाले

---

* परिच्छेद ३२ में ३००० (५००० नहीं) और इ-त्सिङ्ग के "वृत्तान्त" में ३५००।

† पाँच शङ्काएँ ये हैं—(१) जीविका की न्यूनता, (२) अपयश, (३) मृत्यु, (४) पशु आदि नीच योनि में जन्म, (५) और सांसारिक प्रभाव।

(मार्ग) के प्रशान्त चबूतरे पर पहुँचना चाहते हैं। तब क्या यह ठीक है कि हम दुःखों में फँस जायँ, और एक बार फिर (पाप के) जाल में पकड़े जायँ ?

यदि हमारा आचरण ऐसा है तो निर्वाण-प्राप्ति की हमारी इच्छा कभी पूर्ण न होगी। बल्कि, कहा जा सकता है कि हम मोक्ष के सर्वथा विरुद्ध कर्म कर रहे हैं, और निर्वाण-पथ के अनुगामी नहीं। केवल यही बात युक्ति-सङ्गत है कि हम, अपनी अवस्थाओं के अनुसार, बारह धूताङ्गों का अनुष्टान करते हुए, और केवल तेरह अपरिहार्य वस्तुएँ रखते हुए, अपने जीवन का पोषण करें। कर्म के प्रभाव को नष्ट करना है; अपने गुरु, अपने सङ्घ और अपने माता-पिता के किये हुए उपकारों का बदला चुकाना है, और देवों, नागों, अथवा राजाओं ने जो प्रगाढ़ करुणा दिखाई थी उससे उऋण होना है। ऐसा आचरण करना वास्तव में मानवी घोड़े को सधानेवाले (अर्थात्, बुद्ध) के उदाहरण का अनुकरण करना और विनय-मार्ग का यथार्थ रीति से अनुसरण करना है। इस प्रकार मैंने भिक्षु के जीवन की रीति पर विचार किया है, और (चीन तथा भारत के) वर्तमान अनुष्ठानों का वर्णन कर दिया है। परमात्मा करे कि सभी धर्मशील लोगों को मेरा यह विमर्ष बहुत सुदीर्घ न जान पड़े।

निवासन पहनने की भिन्नता से चार निकायों का भेद दिखाई देता है। मूलसर्वास्तिवाद निकाय दोनों ओर से छोर को ऊपर उठा लेता है (सिरों को पेटी में से निकालकर इसके ऊपर लटका देता है), जब कि महासङ्घिक निकाय दायें छोर को बाईं ओर ले जाकर (पेटी के नीचे) खूब कसकर दबा देता है ताकि यह खुला न रहे; महासङ्घिक निकाय के निवासन पहनने की रीति भारतीय स्त्रियों की ऐसी है। स्थविर निकाय और सम्मिति निकाय के निवासन

पहनने के नियम वही हैं जो कि महासङ्घिक निकाय के। भेद इतना ही है कि प्रथमोक्त (स्थविर तथा सम्मिति) छोर के सिरे बाहर छोड़ देते हैं, परन्तु शेषोक्त इसे—जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है—अन्दर की ओर दबा देते हैं। पेटी (कायबन्धन) की बनावट भी भिन्न होती है।

भिक्षुणी के निवासन पहनने का ढँग वही है जो कि उसके अपने निकाय के भिक्षु का है। परन्तु चीनियों की सङ्कक्षिका, कन्धों को ढाँपनेवाले परिधान, निवासन, स्त्रियों की पेटियाँ, पायजामे, वसन और कमीज़ सब के सब मूल-नियमो के विरुद्ध बनाये जाते हैं। एक ही कपड़े मे, जिसकी पीठ सिली हुई होती है, न केवल दो बाँहे होना ही, वरन् उस कपड़े का पहनना भी विनय के नियमों के अनुसार नहीं। चीन मे परिधान की सभी रीतियों से पाप के होने की सम्भावना है।

यदि हम चीनी पोशाक में भारत मे आते हैं तो वे सब हम पर हँसते हैं; हमें हृदय मे बड़ी लज्जा होती है, और हम फुटकर प्रयोजनों के लिए अपने कपड़ों को फाड़ डालते हैं, क्योंकि वे सब अधर्म्मसंगत हैं। यदि मैं इस बात की व्याख्या नहीं करूँगा तो किसी को भी सच्ची बात का ज्ञान न होगा। यद्यपि मैं साफ़-साफ़ कह देना चाहता हूँ तो भी मुझे अपने श्रोताओं के क्रोध से डर आता है। इसलिए मैं अपने विनीत विचार को प्रकट करने से बचता हूँ, तो भी मैं निवेदन करता हूँ कि इन बातों पर ध्यान दिया जाय।

मैं चाहता हूँ कि बुद्धिमान् लोग गम्भीर ध्यान दें और परिधान के विशेष नियमों को देखें। फिर भारत के सामान्य मनुष्यों, अधिकारियों और उच्च श्रेणी के लोगों का परिधान श्वेत कोमल कपड़े का एक जोड़ा होता है, परन्तु निर्धन और छोटी श्रेणी के लोगों के पास सन के कपड़े का केवल एक टुकड़ा ही होता है।

प्रव्रजित के पास ही तीन चीवर और छः परिष्कार* होते हैं, और जो भिक्षु अधिक की कामना करता है (मूलार्थतः, जो विलासिता से प्रेम करता है) वह तेरह अपरिहार्य* वस्तुओं का उपयोग कर सकता है। चीन में भिक्षुओं को दो बाँहोंवाला अथवा एक पीठ-वाला वसन रखने की आज्ञा नहीं, परन्तु सच्ची बात यह है कि वे आप चीनी रीतियों पर चलते हैं, और झूठ मूठ उन्हें भारतीय कहते हैं। अब मैं जम्बूद्वीप और समस्त दूर-दूर के टापुओं के लोगों तथा उनके वेषों का स्थूल रूप से वर्णन करूँगा। महाबोधि से पूर्व की ओर लिन-इ (अर्थात् चम्पा) तक (अन्नाम में) कन-चोउ की दक्षिणी सीमाओं तक फैले हुए बीस देश हैं। यदि हम दक्षिण-पश्चिम की ओर चले तो हम समुद्र पर पहुँच जाते हैं; और उत्तर मे इस की सीमा कश्मीर है। दक्षिणी सागर मे, सिंहल द्वीप को मिलाकर, दस से अधिक देश (द्वीप) हैं। इन सब देशों मे लोग दो कपड़े (संस्कृत, कम्बल) पहनते हैं। ये सन के चौड़े कपड़े के होते हैं जो कि आठ फ़ुट लम्बा होता है। इसमे कोई कटिबन्ध नहीं होता, और न यह काटा या सिया ही जाता है, वरन् निचले भाग को ढाँपने के लिए कमर के गिर्द केवल लपेट लिया जाता है।

भारत के अतिरिक्त, पारसों (फ़ारसियों) और तजकों (जो प्रायः अरब समझे जाते हैं) के देश भी हैं जो कमीज़ और पाय-जामा पहनते हैं। नङ्ग लोगों के देश (निकोबार द्वीप) में लोगों के शरीर पर कपड़ा बिलकुल नहीं होता; पुरुष और स्त्रियाँ सभी समान रूप से दिगम्बरी वेष मे रहते हैं। कश्मीर से लेकर सूलि, तिब्बत, और तुर्क जातियों के देश—जैसे मङ्गोल देशों—तक रीतियाँ एक दूसरे से एक बड़ी सीमा तक मिलती हैं; इन देशों के लोग ढाँपने का कपड़ा (संस्कृत, कम्बल) नहीं पहनते, परन्तु सामर्थ्या-

* देखिए परिच्छेद १०।

नुसार बहुत-सी ऊन या चमड़े का उपयोग करते हैं, और वहाँ कर्पास (अर्थात् कपास), जो हम कभी-कभी पहनी हुई देखते हैं, बहुत कम होती है। ये देश ठण्डे हैं इस कारण, लोग सदैव कमीज़ और पायजामा रखते हैं। इन देशों मे पारसों, नङ्ग लोगों, तिब्बतियों* और तुर्क जातियों में बुद्ध-धर्म्म नहीं है, परन्तु अन्य देश बुद्ध-धर्म के अनुयायी थे और हैं; और जिन देशों मे कमीज़ और पायजामा पहना जाता है वहाँ के लोग शारीरिक स्वच्छता पर ध्यान नहीं देते। इसलिए भारत के पाँचों खण्डों के लोग अपनी शुद्धता और श्रेष्ठता पर गर्व करते हैं। परन्तु उच्च संस्कृति, साहित्यिक लालित्य, औचित्य, मिताचार, स्वागत और बिदाई के शिष्टाचार, भोजन की स्वादु प्रवृत्ति, उदारता और पुण्यशीलता की प्रचुरता केवल चीन में ही पाई जाती है; कोई दूसरा देश (इन बातों मे) उससे बढ़ नही सकता। पश्चिम से भिन्नता की बातें ये हैं—(१) भोजन की शुद्धता की रक्षा न करना, (२) मूत्र त्यागकरने के पश्चात् जल न लेना; (३) दातन न करना। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो विधिविरुद्ध वस्त्र धारण करने को अनुचित नहीं समझते; वे संक्षिप्त विनय के वचन का प्रमाण देते हैं। वह वचन इस प्रकार है—'एक देश में जो बात अपवित्र समझी जाती है, वही यदि दूसरे देश मे पवित्र समझी जाती हो, तो वहाँ इस पर अनुष्ठान करने से कोई पाप नहीं।' परन्तु इस वचन को कुछ अनुवादकों ने ठीक तौर पर

* तिब्बत मे बुद्ध-धर्म्म के प्रचार के विषय में हमे बहुत कम ज्ञान है। सन् ६३२ ई० में तिब्बत के पहले बौद्ध राजा ने बौद्ध-धर्म-ग्रन्थ लाने के लिए भारत में दूत भेजे थे। इ-त्सिंग का काल सन् ६७१—६९५ ई० है, और वह कहता है कि उस देश में बुद्ध-धर्म्म नहीं था। परन्तु हम जानते हैं कि कुछ पारसी लोग ह्यू न-त्साङ्ग के समय मे बौद्ध हो गये थे, और तिब्बत भी उसके काल में बौद्ध था।

नहीं समझा; इसका वास्तविक अर्थ वह नहीं जो ऊपर दिया गया है, जैसा कि मैं अन्यत्र पूर्ण रूप से दिखला चुका हूँ* ।

चीन का भिक्षु जिन चीज़ों का व्यवहार करता है उनमें से तीन चीवरों को छोड़कर शेष कोई भी वस्तु बुद्ध के बताये हुए नियमों के अनुसार नहीं। जब विधिविरुद्ध कपड़े के पहरने से दोष होता है तब हमें अवश्य इसे छोड़ देना चाहिए।

भारत ऐसे उष्ण देश में मनुष्य सभी ऋतुओं में सन का एक ही कपड़ा रख सकता है, परन्तु बर्फ़ानी पर्वतों पर अथवा शीतल ग्रामों में, यदि मनुष्य नियमों का पालन करना चाहे भी, तो (कुछ अधिक वस्त्रों के बिना) निर्वाह नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त हमारे लिए शरीर को नीरोग और कार्य को उन्नत करने के लिए बुद्ध का सरल उपदेश है; और आत्मनाश और कष्ट नास्तिकों की शिक्षा है। या तो हमारे गुरु को न मानो या दूसरे के अनुयायी बनो; तुम कौन-सी बात करोगे ?

बुद्ध ने 'लि-पा'† नामक कपड़े के उपयोग की आज्ञा दी थी, जो कि प्रत्येक शीतल देश में पहना जा सकता है; यह मनुष्य के शरीर को गरम रखने के लिए पर्याप्त है और इसका उपयोग करने में कोई भी धर्म्म-दोष नहीं। संस्कृत 'लि-पा' का अनुवाद 'पेट को ढकनेवाला कपड़ा' हो सकता है। मैं संक्षेप में यहाँ बताऊँगा

* मूलसर्वास्तिवादैकशतकर्मन्, परिच्छेद १०।

† यह बात स्पष्ट नहीं कि इ-त्सिङ्ग का अभिप्राय किस प्रकार के कपड़े से है, इसलिए मेरे अनुवाद को परीक्षात्मक समझना चाहिए। बुद्ध की एक मूर्त्ति में छाती पर एक कपड़ा है और बायें हाथ की ओर एक बहुत छोटी बाँह है। यह इ-त्सिङ्ग का 'लि-पा' हो सकता है।

संस्कृत में ठीक पता नहीं यह क्या शब्द है; शायद रेफ, लेप, या ऐसा ही कुछ हो।

कि यह किस प्रकार बनाया जाता है। कपड़े का एक टुकड़ा इस प्रकार काटो जिसमें कोई पीठ न हो और एक कन्धा नङ्गा रहें। कोई बाँहें न लगाई जायँ। केवल एक ही टुकड़ा बर्ता जाता है और इतना चौड़ा बनाया जाता है कि पहना जा सके। कन्धे का भाग (जो कि) कपड़े की (एक छोटी) बाँह (कहला सकता है) चौड़ा नहीं होता और दाये हाथ की ओर होता है; यह चौड़ा और बड़ा न होना चाहिए। यह दाये हाथ की ओर बाँध दिया जाता है ताकि वायु शरीर को स्पर्श न करे। इसको बहुत मोटा और गरम बनाने के लिए रूई-ऊन की एक बड़ी राशि इसमें भर दी जाती है। या कभी-कभी दायें हाथ की ओर इसे इकट्ठा सी दिया जाता है, और मनुष्य के पार्श्व के उच्चतम स्थान पर फीते लगा दिये जाते हैं। इस कपड़े के बनाने के लिए मूल नियम ऐसे ही हैं।

मैं जिन दिनों पश्चिम मे था मैंने इस कपड़े के कई थान देखे थे; उत्तर (सूलि, इत्यादि) के भिक्षुगण प्रायः इसे लाते और पहनते हैं। नालन्द विहार के समीप के स्थान मे हमे यह दिखाई नहीं देता, क्योंकि यहाँ का जल-वायु इतना गरम है कि लोगों को ऐसे कपड़े की आवश्यकता नहीं होती। बुद्ध ने ठण्डे देश के लोगों के लिए इसकी आज्ञा दी थी। (इसके अनुरूप चीनी कपड़े में) पीठ और नग्न कन्धा विशेष नियमों के अनुसार हैं, परन्तु कपड़े के दाये हाथ के पार्श्व मे एक फालतू (टुकड़ा) है, जो इसे विधिविरुद्ध ठहराता है। यदि मनुष्य विशेष नियमों के विरुद्ध चलता है तो वह दोषी ठहरता है। (विधि के अनुसार) मनुष्य कड़ी सरदी से बचने के लिए 'लि-पा' कपड़े से अपने पेट को ढक सकता है, अथवा पाले को दूर रखने के लिए एक मोटा पट्टू पहन सकता है।

बुद्ध और अन्य पूज्य मुनियों की मूर्तियों के सामने सामान्य रूप से मनुष्य कन्धा नङ्गा रखता है और इसको ढकने से अपराध लगता है। प्रव्रजित हो जाने का अर्थ दुःखों से मुक्त हो जाना है।

जब शीत-काल मे मनुष्य घर से बाहर नहीं जाता, तब वह भली भाँति कोयलों की आग का उपयोग कर सकता है, और अनेक वस्त्र पहनने का कष्ट उठाने की आवश्यकता नही। यदि रोग के कारण मनुष्य को मोटे परिधान का प्रयोजन हो तो वह अस्थायी रूप से जो चाहे कर सकता है, परन्तु शर्त यह है कि वह नियमों को न तोड़े। चीन में शीतकाल बड़ा दुःसह होता है, प्रायः हमारे शरीरों को चीरता जाता है, और गरम कपड़ों के बिना हमारा जीवन जोखिम मे रहता है। धर्म्म मे यह बड़ी कठिनाई है, परन्तु मोक्ष को ऐसे प्रदेश के लोगों का समावेश अवश्य करना चाहिए।

अपनी बाँहे वर्ग और अपना कन्धा नङ्गा रक्खो जिससे तुम मे और सामान्य मनुष्य मे पहचान हो सके और ठण्ढे हेमन्त मे 'लि-पा' के बदले इसे धारण करो। यद्यपि यह यथार्थ नियमों के ठीक-ठीक अनुरूप नहीं, फिर भी कुछ काल के लिए इसकी आज्ञा है क्योंकि इसका उद्देश हमारे जीवन की रक्षा है। जिस प्रकार पहिये को तेल देने का प्रयोजन है (उसी प्रकार हमारे जीवन को गरमी की आवश्यकता है)। (विधिविरुद्ध रीति से रहते हुए) हमे बहुत लज्जित होना चाहिए। यदि हम (विधिविरुद्ध कपड़ा) पहने बिना ही शीतकाल बिता सकें तो यह और भी उत्तम है। दूसरी वस्तुओं का—जैसा कि बागा, पायजामा, पेटी और कमीज़—कभी उपयोग नही करना चाहिए; (यदि तुम इनका उपयोग कुछ समय के लिए करो भी तो) शीतकाल के बीत जाने पर इन्हें कभी मत पहनो।

फिर, कुछ लोग आधी कमीज़ पहनते हैं जिसकी बुद्ध ने कभी आज्ञा नहीं दी। काम में लीन (संसार) से भागने और आव-

श्यक (पथ) पर चलने में हम (बुद्ध के) आर्य आत्मा की ओर देखते और अपने आपको उसके अनुरूप बनाते हैं। (बुद्ध के उपदेशों पर चलने मे) मनुष्य को आप चाहे सफलता न हो, परन्तु उसे बुरा उदाहरण उपस्थित करके अथवा शिक्षा देकर दूसरों को कभी भटकाना नही चाहिए।

आप पुराने अनुष्ठानों को उखाड़कर उनके स्थान मे भली भाँति नये रख सकते हैं; तब यह कहा जा सकता है कि आप सब, (चीन में) शश्रो शिह पर्वत* पर (विहार में) साथ-साथ बैठे हुए अपने आपको (भारत में) गृध्रकूट (पर के लोगों) के समान उच्च बनाते हो, और आप ऐसे हैं मानों राजगृह के नगर में इकट्ठे हो रहे हैं और साथ ही चीन की राजधानी के सब लोगों के साथ बातें कर रहे हैं।

महानदी (चीन मे ह्वङ्गहो) अपनी पवित्र धारा को (बुद्ध गया में) मुचिलिन्द सरोवर मे मिला देती है। 'पतला बेंत' (हूसी-लीऊ)† अपनी शोभा में उस बोधिवृक्ष के साथ मिल जाता है जो अपनी उज्ज्वल कीर्ति के साथ हरा-भरा है और शहतूत के पेड़ों के खेत के (समुद्र मे) परिवर्तित हो जाने, अथवा कल्प‡ पत्थर के बिलकुल घिस जाने के बाद तक सदा फूला-फला रहेगा। तब (बुद्ध) धन्य है! आओ हम (उसके सिद्धान्त पर चलने के लिए)

---

* पर्वत हो-नन मे सुंग गिरि के दक्षिण में अवस्थित है। शश्रो शिह पर एक प्रसिद्ध मन्दिर शश्रो-लिन कहलाता था।

† यह 'शन है' किंग में एक द्वीप का नाम है जहाँ चांद और सूर्य अस्त होते है; परन्तु इ-त्सिंग यहाँ इसका व्यवहार इस प्रकार करता है जैसे यह किसी पेड़ का नाम हो।

‡ 'शहतूत के पेडों के खेत का समुद्र बन जाना' दीर्घकाल को प्रकट करने के लिए एक चीनी उपमा है। कल्प काल की वह अवधि बताई जाती है जिसमे एक देवदूत समय-समय पर आकर एक बड़े पत्थर को अपने पङ्ख से घिस सकता है।

एक बार प्रयत्न करें ! सूर्य-सदृश बुद्ध छिप गया है, और आनेवाले समयों के लिए अपनी शिक्षा पीछे छोड़ गया है। यदि हम उसकी शिक्षा पर आचरण करते हैं तो मानो हम अपने गुरुदेव की विद्यमानता मे ही रहते हैं, और यदि हम उसकी शिक्षा के प्रतिकूल चलते हैं तो हममें अनेक दोष प्रकट हो जायँगे। इसलिए एक सूत्र मे कहा है—'मेरे उपदेशों पर ठीक-ठीक चलो, तब मैं (गुरुदेव) उसी प्रकार इस संसार मे मौजूद हूँ*।'

कुछ लोग कह सकते हैं—'पहले युगों के धर्म्मशील लोगों ने (चीनी अनुष्ठानों के विरुद्ध) नहीं कहा, तब हम—पिछले समय के मनुष्य—नियमो को क्यों बदलें ?' परन्तु ऐसा कहना भूल है। क्योंकि हमे धर्म पर चलना है, किसी मनुष्य के पीछे नहीं। बुद्ध ने हमें इस विषय में ठीक-ठीक रूप से शिक्षा दी है। यदि भोजन और आच्छादन विषयक तुम्हारी रीतियों मे, विनय-पिटक में दिये हुए नियमो के साथ तुलना करने पर, कोई न्यूनता न हो, तो आप उन्ही को रख सकते हैं। नियमों को सीखे विना उन पर आचरण करना कठिन है। जब नियमों को सीख लेने के पश्चात् शिष्य उनपर आचरण नहीं करता, तब गुरु को निन्दनीय नहीं ठहराया जा सकता।

फिर, मैं श्लोकों मे कहता हूँ—

मनुष्य के जीवन में, सबसे आगे और सबसे पहले, भोजन और आच्छादन हैं।

मनुष्य के लिए ये दो बेड़ियाँ और हथकड़ियाँ हैं
जो उसको पुनर्जन्म के चेत्र के साथ बाँधती हैं।
आर्य-वचन पर चलो,

---

* सम्भवत: यहाँ महापरिनिर्वाण-सूत्र से अभिप्राय है। 'मेरी मृत्यु के पश्चात् धर्म और संघ के नियम, जिनकी मैंने शिक्षा दी है, तुम्हारे गुरु हैं।'

विश्राम और मुक्ति उसकी होगी।

यदि स्वार्थपरता उसकी पथप्रदर्शिका होगी

तो पाप और कष्ट उसे घसीटेंगे।

हे बुद्धिमान् मनुष्य! सावधान। प्रतिफल प्रत्यक्ष है।

जब आठ वायु* तुम्हारे शरीर से चले गये

तब फिर पाँच शङ्काएँ† तुम्हें नहीं धमकायेंगी।

सदा मणि के सदृश पवित्र रहो जो कि कीचड़ में भी पवित्र है;

ऐसे उजले जैसे कमल की पत्तियों पर ओस।

यदि तुम्हारा शरीर ढँपा हुआ है, तो परिच्छद पर्याप्त है।

यदि तुम भूख से नहीं मरते तो भोजन यथेष्ट है।

केवल मोक्ष की तलाश करो, मनुष्य या देव की नहीं।

धूताङ्गों का अनुष्ठान करते हुए जीवन व्यतीत करो।

जीवों की रक्षा करते हुए अपने वर्ष समाप्त करो।

नौ‡ लोकों के शून्य जन्म को छोड़ दो। दस§ अवस्थाओं के पूर्ण क्रम की आकांक्षा करो। दान लेने में तुम्हारा बर्ताव ऐसा हो जैसा कि ५०० अर्हतों का होता। आशीर्वाद देने मे तुम उन्हें ३००० लोकों के देने की आशा रक्खो।

---

* वेदान्तसार में पाच प्राण, और कपिल के अनुयायियों के मतानुसार दस वायु।

† पृष्ठ ९९ की पाद-टीका देखो।

‡ देखो प्रस्तावना की पादटीकाएँ।

§ बोधिसत्त्व दस अवस्थाओं में से गुज़रता है।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

परिच्छद धारण करने की रीति

अब मैं, विनय के अनुसार, धार्म्मिक परिच्छदों के धारण करने की रीति, और फीतों के उपयोग का वर्णन करता हूँ।

एक पाँच हाथ लम्बाई का परिच्छद लो और उसकी तीन तहें करो। कॉलर से चार या पाँच उँगली की चौड़ाई छोड़कर कन्धे के परतदार भाग पर, पाँच उँगली चौड़ा एक वर्ग टुकड़ा प्रत्येक ओर लगाना होता है; इसके चारों पार्श्व परिच्छद मे टाँक दिये जाते हैं। इस वर्ग टुकड़े के मध्य भाग में एक छोटा सा छिद्र करो और इस छिद्र मे एक फीता डालो। यह फीता रेशम या सूत का हो और कुरते के फीते के परिमाण का हो। इस फीते की लम्बाई केवल दो अँगुली भर हो। इसके दोनों सिरे एक दूसरे के साथ मज़बूती से बँधे होने चाहिएँ और इसका अवशिष्ट भाग काट डालना चाहिए। छिद्रों मे से एक और फीता लगाओ और इसे बाहर इस प्रकार खींचो कि यह दूसरे फीते पर से आड़ा गुज़रे, इस प्रकार हमारे पास दो फीते हो जाते हैं। भीतरी बन्धन परिच्छद के परतदार (प्लेट वाले) भाग पर छाती पर आते हैं। बाँहों के बन्धन कमीज़ के बन्धनों के समान होते हैं। ऐसे ही नियम* हैं।

इस प्रकार मैंने आपके लिए परिच्छदों के विषय में विशेष नियमों का, परन्तु केवल आवश्यक बातों का, वर्णन किया है।

---

* यह सारा वर्णन अस्पष्ट है और मेरा अनुवाद केवल परीक्षात्मक है।

यदि आप विधि को भली भाँति जानना चाहते हैं तो आपको उस समय तक प्रतीक्षा करनी चाहिए जब तक हम एक दूसरे से नहीं मिलते। परिच्छद का अञ्चल भी फीतों के साथ बुना हुआ होता है। मनुष्य चाहे जिस प्रकार अञ्चल को ऊपर उलटा सकता है; इसकी आज्ञा बुद्ध ने दी थी। भोजन के समय (क्योंकि मनुष्य एक छोटी और नीची कुरसी पर बैठता है) अञ्चल को थोड़ा ऊपर उठाकर सामने बाँधने के लिए उसके दोनों ओर एक फीता और एक बन्धन लगा देना चाहिए। यह एक आवश्यक नियम है। जब मनुष्य विहार मे हो या सङ्घ के भिक्षुओं के सामने हो, तब उसके लिए पेटी (या फीतों) का धारण करना अथवा कन्धा खुला रखना आवश्यक नहीं। परन्तु विहार से बाहर जाते अथवा किसी सामान्य भक्त के घर मे प्रवेश करते समय उन्हें धारण करना चाहिए; दूसरे अवसरों पर मनुष्य उन्हें कन्धों पर रख सकता है। कोई निजू काम करते समय मनुष्य चाहे जिस प्रकार उन्हें रख सकता है। जब मनुष्य बुद्ध की प्रतिमा के सम्मुख हो तब उसे इनको क्रम मे रखना पड़ता है।

परिच्छद का दायाँ कोना लेकर उसे बाँये कन्धे पर रक्खो और उसे पीठ पर लटकने दो। यह बाँह पर न अटके। यदि मनुष्य पेटियाँ (फीते) चाहता है, तो पहले सारा कन्धा नङ्गा कर लेना होता है, और भीतरी बन्धनों से इसे पीठ पर ले जाओ। परिच्छद के खूँट को फिर कन्धे पर और स्वयं परिच्छद को गले के गिर्द आने दो। (परिच्छद गले के गिर्द इस प्रकार रक्खा जाता है कि) दोनों हाथ इसके नीचे आ जाते हैं; परिच्छद का दूसरा खूँट सामने लटकता है। राजा अशोक की मूर्ति का परिच्छद इसी प्रकार का है।

छतरी लेकर चलने की रीति बड़ी मनोहर है; मनुष्य को शिक्षा के अनुसार उत्तरीय वसन यथाविधि पहनना चाहिए। छाता बाँस

की छड़ियों से बुनना और बाँस की पिटारी के समान पतला बनाना चाहिए, परन्तु वह दुहरा ढँका हुआ न हो। इसका परिमाण, मनुष्य की अपनी इच्छा के अनुसार, (व्यास में) दो या तीन फ़ुट हो सकता है। मध्य भाग दुहरा बनाना चाहिए ताकि उसमें मूठ लगाई जाय। मूठ की लम्बाई छाते की चौड़ाई के अनुरूप होनी चाहिए। बाँस की छड़ियों के छाते पर लाख का वार्निश किया जा सकता है। बाँस की जगह यह नरकट का बुना जा सकता है, यह बेंत की बुनी हुई टोपी के सदृश होता है। यदि बुनते समय बीच में काग़ज़ डाल दिया जाय तो यह और भी मज़बूत हो जाता है। हम चीन मे ऐसे छाते का उपयोग नही करते; फिर भी इसका उपयोग करना बहुत आवश्यक है। वर्षा के एकाएकी बरसने के समय हमारे कपड़े भीगने से बच सकते हैं, और ग्रीष्म की चिल-चिलाती धूप में हम अपने आपको ठण्डा रख सकते हैं। छतरी का व्यवहार विनय* के नियमो के अनुरूप और हमारे शरीरों के लिए लाभदायक है; और इसके व्यवहार मे कुछ भी हानि नहीं। इन दृष्टियों से इस विषय पर विचार करने पर हमें मालूम होता है कि छतरी का उपयोग बड़ा ही आवश्यक है। परन्तु चीन मे इसका व्यवहार नहीं होता।

चीन में काषाय का ऊपरी कोना प्रायः बाँह के अगले भाग (शब्दार्थ, सूँड़) पर लटकता रहता है। जो भी भारतीय भिक्षु चीन में आया उसने भी चीनी रीति का अनुकरण किया। बारीक रेशम, जिसका काषाय बनता है, कन्धे पर से फिसल जाता है; इसी से इसको बाँह पर रखने की रीति चली—यह रीति विशेष नियम के विरुद्ध है।

---

* चुल्लवग्ग ५, २३, २

पीछे से जब चीन का त्रिपिटक-गुरु* (भारत में) आया तब उसने इस बात का समर्थन किया कि काषाय (बायें) कन्धे पर लटकना चाहिए, परन्तु अनेक ऐसे अधेड़ अवस्था के गुरु हैं जो इस ढंग को नापसन्द करते हैं। जहाँ कहीं हम जाते हैं, पुरानी अभ्यस्त रीतियों को क़ायम रखने की सामान्य भूल पाई जाती है।

तीन चीवरों के विषय मे, यदि तुम लम्बी डोरियों के स्थान मे (जिनका आजकल व्यवहार होता है) कुछ छोटे-छोटे फीते लगा देते हो, तो भी यह नियमो को तोड़नेवाली बात नहीं। यदि तुम अपने शरीर के निचले भाग के गिर्द सामान्य पायजामे के स्थान मे (कपड़े का) एक पूरा टुकड़ा पहन लोगे, तो इससे तुम्हें सीने और टाँकने का कष्ट न करना पड़ेगा। पानी का बर्तन, भिक्षा का कटोरा, और तुम्हारी सारी चीज़ें तुम्हारे कन्धों पर लटकाई जानी चाहिएँ। उन्हें इस प्रकार लटकाना चाहिए कि वे ठीक तुम्हारे शरीर के पार्श्वों तक पहुँचें, सामनेवाला पिछली ओरवाले को पार न करे। वस्तुओं को लटकाने के लिए जिस रस्से का उपयोग किया जाता है वह लम्बा नहीं होता, किन्तु केवल कन्धे पर रखने के लिए ही ठीक पर्याप्त होता है। जब चीज़ें छाती के साथ लटकती हों तब साँस लेना सुगम नहीं होता, और ठीक नियमों के अनुसार ऐसा नहीं होना चाहिए। ठिलिया रखने के थैले के विषय मे मैं आगे चलकर लिखूँगा†। उत्तर में सूली के लोग प्रायः कन्धों पर लटकनेवाली वस्तुओं को एक दूसरे को पार करने देते हैं; जान पड़ता है कि उस प्रदेश मे नियमों का रूपान्तर कर दिया गया है, परन्तु वे नियम बुद्ध के बनाये हुए नहीं हैं।

---

* तात्पर्य ह्यू न-थ्सांग से है।

† इ-त्सिङ्ग यह प्रतिज्ञा भूल गया।

यदि तुम्हारे पास कुछ फालतू कपड़े हों, तो उन्हें अपने कन्धे पर, बागा (जिसे तुम पहने हुए हो) और ठिलिया (जिसे तुम उठाये हुए हो) पर डाल लो।

जब तुम किसी मन्दिर मे अथवा किसी सामान्य उपासक के घर जाओ, तब तुम्हें दालान मे जाकर अपना छाता रखना और फिर लटकानेवाली वस्तुओं को खोलना होगा। दालान की दीवार पर हाथी-दाँत की अनेक खूँटियाँ लगानी होती हैं ताकि आगन्तुक को एक ऐसा स्थान मिल जाय जहाँ वह अपनी वस्तुएँ लटका सके। दूसरी बातों के विषय में, छब्बीसवाँ अध्याय देखिए जो मित्र-मिलाप-सम्बन्धी नियमों के अर्पण किया गया है।

पतले रेशम का बना हुआ काषाय बहुत सूक्ष्म होता है और कन्धे पर नहीं ठहरता; जब पूजा मे आप झुकते हैं तब यह प्रायः फिसल कर भूमि पर आ जाता है। यदि तुम इसे किसी ऐसे द्रव्य का बनाना चाहते हो जो इस प्रकार सुगमता से नीचे न फिसल पड़े, तो सबसे उत्तम खुरखुरा रेशम अथवा सन का नर्म सफ़ेद कपड़ा है।

अब रही चीनी सङ्कक्षिका अर्थात् पार्श्व को ढकनेवाले कपड़े की बात, सो यदि आप इसे एक हाथ अधिक लम्बा बनायें तो ठीक होगा। सङ्कक्षिका पहनते समय आपको दायाँ कन्धा खुला रखना और केवल बायें कन्धे को ढँकना होगा।

अपने घर मे सामान्यतः सङ्कक्षिका और साया ही पहने जाते हैं। जब मनुष्य बाहर जाय और प्रतिमा का पूजन करे तब उसे और कपड़े मिला लेने चाहिएँ। अब मैं संक्षेप से साया पहनने की रीति का वर्णन करूँगा। मूलसर्वास्तिवाद निकाय के ग्रहण किये हुए साया के नियमो के अनुसार, साया पाँच हाथ लम्बा और दो हाथ चौड़ा कपड़े का एक टुकड़ा होता है। माल, जैसा मनुष्य को मिल सके उसके अनुसार, रेशम या सन का कपड़ा हो सकता है।

भारतीय लोग इसे इकहरा, परन्तु चीनी लोग दुहरा बनाते हैं; लम्बाई और चौड़ाई निश्चित नहीं। शरीर के (निचले भाग के) गिर्द रखकर इसे इतना ऊपर को खींचो कि तुम्हारी नाभि ढँप जाय। अब तुम्हें अपने साये के ऊपर के खूँट को अपने दायें हाथ के साथ बायें हाथ की ओर थामना, और (अपने बायें हाथ के साथ) अपने साये के दूसरे सिरे को—जो कि भीतर की ओर तुम्हारे दहिने हाथ के पार्श्व के इर्द-गिर्द है—बाहर खींचना है। अपना बायाँ पार्श्व अपने उत्तरीय चीवर की बाईं झूल से (और दायाँ पार्श्व दाईं झूल से) ढँक दो।

अपने 'निवास' (साये) के दोनों सिरों को दोनों हाथों के साथ बिलकुल सामने ले आओ, मध्य में उन्हें मिला दो और उन्हें तीन ऐंठें दो।

तब उन तीन ऐंठों को अपनी पीठ के गिर्द लाओ; उनको तीन उँगली भर ऊँचा उठाओ, और तब भीतर की ओर कोई तीन उँगली नीचे दबा दो। इस प्रकार डोरियाँ न होने पर भी साया फिसलता नहीं। अब कोई पाँच हाथ लम्बी कमर की पेटी लो, इसके अङ्कड़े (हुक) वाले भाग को अपनी नाभि के ठीक नीचे लाओ, और अपने साये के ऊपरी किनारे के गिर्द बाँध दो।

कमर की पेटी के दोनों सिरे तुम्हारी पीठ पर आयें और एक दूसरे को लाँघें, तब उन्हें फिर अपने बायें और दहिने पार्श्वों की ओर पीछे खींचना होता है, जहाँ तुम्हें उनको अपनी बाँहों के साथ दृढ़तापूर्वक दबाना पड़ता है, जब कि तुम दोनों सिरों को (सामने) तीन बार मिलाते और बाँधते हो। यदि कमर की पेटी बहुत लम्बी हो तो तुम्हें उसको काटना पड़ता है; यदि बहुत छोटी हो तो उसमें कुछ और जोड़ना होता है। कटिबन्ध के दोनों सिरों को सी देना या सजाना नहीं चाहिए।

साया पहनने की ऊपर कही रीति सर्वास्तिवाद निकाय को दूसरे निकायों से अलग करती है। यह परिमण्डल निवास (–यति*) कहलाती है, जिसका चीनी में अर्थ है 'साया पहनने की गोल-शुद्ध रीति।' (कटि) बन्ध की चौड़ाई एक उँगली के सदृश होती है। जूते का तसमा, मोज़े का बन्धन, इत्यादि, गोल हों चाहे वर्ग; दोनों की आज्ञा है। विनय-पुस्तकों में कत्तान के रस्से जैसी वस्तु के उपयोग की आज्ञा नहीं।

जब तुम छोटी कुर्सी अथवा लकड़ी के कुन्दे पर बैठते हो, तब तुम्हें अपने 'निवास' के ऊपरी भाग को अपने उत्तरीय की झूल के नीचे रखना, और साया को शीघ्रता से ऊपर खींचना होता है जिससे यह (आसन पर) तुम्हारी जाँघों के नीचे आ जाय। तुम्हारे दोनों घुटने ढँके होने चाहिएँ; परन्तु तुम्हारी नर-हड़ के नङ्गा रहने मे कोई दोष नहीं।

सारा 'निवास' मनुष्य की नाभि से लेकर उसके टखनों की हड्डियों से चार उँगली ऊपर तक ढाँपे रहे, यह एक ऐसा नियम है जिसका पालन उस समय किया जाता है जब कि भिक्षु किसी सामान्य मनुष्य के घर में होता है। परन्तु जब हम विहार में हों, तब नरहड़ के निचले अर्धभाग को खुला रखने की आज्ञा है। यह नियम स्वयं बुद्ध ने बनाया था; और इसमे अपनी इच्छा के अनुसार परिवर्तन नहीं करना चाहिए। शिक्षा के विरुद्ध कार्य करना और अपनी स्वार्थपर इच्छा पर चलना उचित नहीं। जो निवास तुम पहने हुए हो वह यदि लम्बा है और भूमि से छूता है, तो तुम एक ओर तो किसी श्रद्धालु भक्त के दिये हुए शुद्ध दान को

---

* पातिमोक्ख,—'मैं अपना अन्तरीय वसन अपने गिर्द सब ओर पहनूँगा', अर्थात् सेखिया धम्मा १, 'परिमण्डलम् निवासेस्सामीति सिक्खा करणीया'।

ख़राब कर रहे हो; और दूसरी ओर गुरुदेव के आदेशों का उल्लङ्घन कर रहे हो।

तुम मे से कौन है जो मेरे सदय प्रतिवाद पर चलेगा? परमात्मा करे कि दस सहस्र भिक्षुओं मे एक भी व्यक्ति ऐसा हो जो मेरे शब्दो पर ध्यान दे!

जो निवास (साया) भारत मे पहना जाता है वह शरीर के निचले भाग के गिर्द आड़े रूप से पहना जाता है। भारत का श्वेत कोमल कपड़ा, जिसका निवास के रूप मे उपयोग होता है, दो हाथ चौड़ा होता है, अथवा कभी-कभी इसकी चौड़ाई आधी (एक हाथ) होती है।

निर्धन लोग यह कपड़ा (जितना एक नियमित निवास के लिए आवश्यक होता है उतना) प्राप्त नहीं कर सकते। (व्यय को बचाने के लिए) मनुष्य कपड़े के दोनों किनारों को मिलाकर टॉक सकता, और खोलकर उसमे टाँगें डाल सकता है। इससे मतलब पूरा हो जायगा।

कपड़े पहनने के सभी नियम विनय की पुस्तकों मे पाये जाते हैं। मैंने केवल आवश्यक बातों का संक्षेप से वर्णन किया है। सूक्ष्म विचार केवल उसी समय किया जा सकता है जब हम एक दूसरे से मिले।

फिर, परिव्राजक के सारे वस्त्र 'कण्ड*' (पीले) रंग मे रँगने चाहिएँ। यह रङ्ग ति-हुश्रङ्ग (Rehmannia glutinosa), पीले चूर्ण, अथवा काँटेदार निएह-वृक्ष (Pterocarpus indicus) से तैयार किया जा सकता है। परन्तु इन रंगों को लाल मिट्टी या पिसे हुए लाल पत्थर के साथ मिलाना होता है। इस बात क ध्यान रखना चाहिए कि रंग बहुत गहरा या बहुत हलका न हो।

---

* कण्ड, या गण्ड कोई संस्कृत शब्द जान पड़ता है।

(लागत बचाने के लिए) मनुष्य केवल खजूरों, लाल मिट्टी, पिसे हुए लाल पत्थर, जङ्गली नाशपाती, या त'ड-तृजू (मटियाला-बैंगनी) का उपयोग कर सकता है। इन रंगों के साथ रँगने में कपड़ा चाहे घिसा हुआ हो, परन्तु इतना घिसा हुआ न होना चाहिए कि दूसरा लेने का प्रयोजन हो।

शहतूत की छाल से तैयार किया हुआ रंग, और नीले तथा हरे रंगों का निषेध है। असली बैंगनी और गहरा भूरा पश्चिम में ग्रहण नहीं किया जाता।

जूतों और खड़ाऊँ के विषय मे बुद्ध के बनाये हुए कुछ नियम हैं। लम्बे जूते अथवा अस्तरवाले खड़ाऊँ नियमों के विरुद्ध हैं। बुद्ध किसी भी बेल-बूटेदार अथवा सजाई हुई वस्तु के उपयोग की आज्ञा नहीं देता था*।

---

* इ-त्सिङ्ग ने विनय के इस पाठ का अनुवाद किया है यह केवल कोरिया के संग्रह में ही है। महावग्ग ५ में पाँव के कपड़ों आदि का ही वर्णन है।

बारहवाँ परिच्छेद

भिक्षुणी के वेष और अन्त्येष्टि-कर्म के नियम

भिक्षुणियों का चीनी वेष साधारण स्त्रियों का ऐसा है, और उसे पहनने की वर्तमान रीति समीचीन नियमों के बहुत विरुद्ध है। विनय के अनुसार भिक्षुणी के लिए पाँच वस्त्र हैं,—

१. सङ्घाटी।

२. उत्तरासङ्ग।

३. अन्तर्वास।

४. सङ्कच्चिका।

५. साया।

पहले चार वस्त्रों के ढंग और नियम वही हैं जो सङ्घ के बड़े (पुरुष) सदस्यों के हैं, परन्तु लहँगे का एक अंश भिन्न है। संस्कृत में भिक्षुणी के साया को 'कुसूलक' कहते हैं, जिसका अनुवाद 'खत्ता-जैसा वस्त्र' किया जाता है, क्योंकि इसकी आकृति, दोनों सिरे इकट्ठे सिले हुए होने से, एक छोटे खत्ते (कुसूल) की सी होती है; इसकी लम्बाई चार हाथ और चौड़ाई दो हाथ होती है। यह ऊपर की ओर नाभि तक ढकता है और नीचे की ओर गुल्फों से चार अङ्गुल ऊपर तक आता है। पहनने में, इसमें टाँगें डालकर इसे ऊपर की ओर नाभि तक खींचना चाहिए। लहँगे की चोटी को कमर के गिर्द सिकोड़कर इसे पीठ पर बाँधना चाहिए।

भिक्षुणी की पेटी और फीतों के माप और नियम वही हैं जो

भिक्षु के हैं। उसकी छाती और पार्श्वों पर कोई बन्धन या कपड़े नहीं होने चाहिएँ।

परन्तु जब उसकी छातियाँ बहुत ऊँची और बड़ी हो जायँ तब, चाहे वह युवती हो चाहे वृद्धा, किसी कपड़े का उपयोग करने में कोई दोष नहीं।

यदि वह पुरुष के सामने (छातियाँ नंगी होने से) लज्जित होने के कारण नियमों का पालन नहीं करती, या यदि वह अपने आपको बहुत अधिक सजाती है तो यह भूल है, और इससे हर प्रकार पाप लगता है। ऐसे अपराधी व्यक्ति की मृत्यु पर (उससे चिमटे हुए पाप) वर्षा की बौछार के समान होंगे; यदि अनेक मे से उसमे एक भी दोष हो तो उसे चटपट उसको सुधार लेना चाहिए। जब वह घर से बाहर अथवा भिक्षु के सामने हो, या किसी भक्त जन ने उसे अपने घर पर भोज के लिए निमन्त्रित किया हो, तब उसका काषाय सदा उसके कण्ठ के गिर्द होना और उसका शरीर उससे ढँका रहना चाहिए; काषाय का कन्धे का फीता खोलना नहीं चाहिए। भोजन करते समय उसे छाती खुली नहीं रखनी चाहिए, परन्तु अपने हाथों को (काषाय के) नीचे से बाहर निकालना चाहिए। सङ्कक्षिका* पहनने, एक कन्धा खुला रखने, या कमीज़ अथवा पाय-जामा पहनने का निषेध स्वयं महामुनि ने किया है। भिक्षुणियों को ये चीज़ें नहीं रखनी चाहिएँ।

दक्षिणी सागर के सभी देशों मे भिक्षुणियों का एक विशेष परिच्छद होता है, जो भारतीय रीति के अनुरूप न होते हुए भी

* यह उसके पहले कथन के विरुद्ध जान पड़ती है, क्योंकि इस परिच्छेद के आरम्भ में इ-त्सिङ्ग ने सङ्कक्षिका को भिक्षुणी का एक कपड़ा बताया है। शायद उसका तात्पर्य यहां चीनी सङ्कक्षिका से था जोकि भारत की सङ्कक्षिका से भिन्न है।

सङ्कुचिका ही कहलाता है। यह दोनों ओर से दो हाथ होता है। केन्द्र में एक फुट छोड़कर, इसके किनारे इकट्ठे सी दिये जाते हैं; इसके कोने एक इंच (पीछे को मोड़े हुए) और मज़बूती से टाँके हुए होते हैं। इसको पहनने में, इसको ऊपर उठाकर इसमें सिर और कन्धे डाल दिये जाते हैं, और दायाँ कन्धा सारा का सारा इसके बाहर रक्खा जाता है। कटिबन्ध का उपयोग नहीं किया जाता। इससे पार्श्व, छातियाँ, नाभि और घुटने ढँक जाते हैं। यदि कोई इसे पहनना चाहे तो वह बिना किसी दोष के इसे पहन सकता है।

इस कपड़े पर केवल दो फीते मढ़े होते हैं; यह लज्जा को ढकने के लिए पर्याप्त रूप से अच्छा है। परन्तु यदि कोई इसे धारण करना नहीं चाहती, तो उसे एक बड़े भिक्षु के ऐसी नियमित संकक्षिका पहननी चाहिए। जब भिक्षुणी विहार मे या अपने कमरों में हो, तब एक कुसूलक और एक सङ्कक्षिका पर्याप्त होगी।

[इ-त्सिङ्ग की टिप्पणी]—भारतीय पुस्तकों का अनुशीलन करते हुए मुझे कभी 'कन्धे को ढँकनेवाले कपड़े' का नाम नहीं मिला; मूल सङ्कक्षिका है, जिसका संक्षेप चीनी मे कभी-कभी 'कि-ची' कर दिया जाता है। यह 'साया' नहीं कहलाता, परन्तु आज तक इस नाम के अनुवाद अनेक थे।

जो कपड़ा नियमों के विरुद्ध हो उसे लेने से इन्कार कर देना चाहिए, और वही धारण करना चाहिए जो ठीक-ठीक सिद्धान्तों के अनुसार हो। यह रेशम अथवा सन के कपड़े के डेढ़ पाट की बनाई जाती है और चार-पाँच हाथ लम्बी होती है। यह 'पाँच लकीरों-वाले' कपड़े के सदृश कन्धों के ऊपर से पहनी जाती है। सब कहीं लज्जा को पर्याप्त रूप से ढँकना चाहिए; यहाँ तक कि मूत्र त्याग करने के स्थान मे भी कन्धे नंगे न होने चाहिएँ।

यह परिच्छद वसन्त और ग्रीष्म में पहनने का है, और गरम कपड़े यदि कोई चाहे तो शरत्काल और हेमन्त में धारण किये जा सकते हैं। कटोरे मे भिक्षा माँगकर शरीर का पर्याप्त रूप से पोषण हो सकता है।

यदि किसी व्यक्ति का मन, चाहे वह स्त्री ही हो, बलवान् हो तो उसे न धड़की और खड्डी में लगने का और न साधारण (घरेलू) काम करने का ही प्रयोजन है; फिर अनेक कपड़े—कभी पाँच, कभी दस—पहनने की आवश्यकता उसे और भी कम है।

कुछ (भिक्षुणियाँ) ऐसी हैं जिनको ध्यान अथवा पठन का कभी विचार नहीं आता, जो पार्थिव कामनाओं-द्वारा हाँकी जाकर आगे की ओर दौड़ रही हैं। दूसरी ऐसी हैं जो शील (उपदेशों) की कुछ भी परवा न करके गहने और कपड़े से बहुत प्यार करती हैं। ये सब व्यक्ति इस योग्य हैं कि सामान्य अनुयायी इनकी परीक्षा करें। भारत की भिक्षुणियाँ चीन की भिक्षुणियों से बहुत भिन्न हैं। वे भिक्षा माँगकर निर्वाह करती और दरिद्र तथा सरल जीवन बिताती हैं।

यहाँ प्रश्न पूछा जा सकता है—'सङ्घ की भिक्षुणियों के लिए लाभ और सामग्री बहुत थोड़ी है, और अनेक स्थानों के विहारों मे उनके लिए भोजन का कोई विशेष प्रबन्ध नहीं। ऐसी अवस्था होने के कारण, यदि वे अपने प्रतिपालन के लिए काम न करें तो जीते रहने की कोई सूरत न होगी, और यदि वे काम करती हैं तो उनका आचरण प्रायः विनय की शिक्षा के विरुद्ध होता है और बुद्ध की श्रेष्ठ इच्छा का उल्लंघन होगा। वे कैसे निश्चय करें कि हम कौन-सा मार्ग पकड़े और कौन-सा छोड़े? जब एक बार मनुष्य के शरीर को चैन मिलता है तब उसका धर्म्म बढ़ता-फूलता है। कृपया इन बातों पर (मूलार्थतः इनके ठीक या झूठ होने पर) अपना विचार प्रकट कीजिए।'

मैं इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार देता हूँ—'मनुष्य का मूल सङ्कल्प मोक्ष-प्राप्ति के लिए घर-बार छोड़ने का था। तीन (विषैले) वृक्षों* की हानिकारक जड़ों को काट डालने के लिए, और चार बहती हुई धाराओं† के विपुल विस्तार को रोकने के लिए, मनुष्य को "त" के अनुष्ठान पूरे करने चाहिएँ और सुख-दुःख के भयानक पथ से बचना चाहिए; मन को स्वच्छ करके और अपनी कामनाओं को दबाकर मनुष्य को मोक्ष के सच्चे मार्ग पर चलना चाहिए। दिन-रात शील पर ध्यान देने से धर्म्म बढ़ता और फैलता है। यदि मनुष्य सदा अपने शरीर को चैन में रखने का ही विचार करता रहता है, तो वह भूल करता है। जब मनुष्य विनय की शिक्षा के अनुसार अनुष्ठान में पक्का और आचरण में सच्चा होता है, तब नाग, प्रेत, देव और मानव उसके अनुयायी और पुजारी बन जाते हैं। तब मनुष्य को अपनी आजीविका के लिए क्यों इतना चिन्तातुर होना और (सांसारिक मार्ग का) व्यर्थ परिश्रम करना चाहिए?'

पाँच कपड़े, एक ठिलिया, और एक भिक्षापात्र भिक्षुणियों के निर्वाह के लिए पर्याप्त हैं; और उनके जीवन को बचाने के लिए एक छोटी सी कोठरी यथेष्ट है। निज के भोज घटाये जा सकते हैं और इस प्रकार सामान्य भक्तजनों के कष्टों से बचा जा सकता है; भिक्षुणियाँ कीचड़ में पड़े हुए रत्न अथवा जल में कमल के समान शुद्ध हो सकती हैं, और इस प्रकार उनका जीवन, चाहे नीच कहलाये, पर वास्तव में प्रज्ञा का जीवन है जो कि एक उच्च व्यक्ति के जीवन के समान है।

---

* लोभ, घृणा, और मूर्खता; इनका दूसरा नाम "तीन विष" है।

† पार्थिव कामना, भाव की अवस्था, भ्रांत बुद्धि, और अविद्या; इनका दूसरा नाम 'चार जूए' है।

भिक्षु और भिक्षुणियाँ अपने माता-पिता की मृत्यु के समय अन्त्येष्टि-क्रिया में सदा यथेष्ट चिन्ता से काम नहीं लेतीं अथवा सामान्य लोगों के सदृश ही शोक नहीं करतीं, और फिर भी अपने आपको पितृ-भक्त सन्तान समझती हैं।

कुछ लोग अपने कमरों में मृतकों के मन्दिर बनाते हैं, और चढ़ावा चढ़ाते और यह दिखलाने के लिए कि हम शोक मे हैं एक रङ्गीन कपड़ा बिछा देते हैं। कई लोग, साधारण रीति के विपरीत, अपने बाल मुँड़ाते नहीं हैं, या एक शोक-छड़ी रखते अथवा पुआल की चटाई पर सोते हैं। ये सब रीतियाँ बुद्ध की शिक्षा के अनुसार नहीं हैं, और मनुष्य इन्हें बिना दोषी हुए भली भाँति छोड़ सकता है। मनुष्य के लिए जो कुछ करना आवश्यक है वह यह है—पहले मृतक के लिए एक कमरा शुद्ध और सुशोभित करो अथवा कभी-कभी कुछ (छोटे) शामियाने या परदे अस्थायी रूप से लगा दो, और सूत्र पढ़ते और बुद्ध का ध्यान करते हुए धूप और पुष्प चढ़ाओ। यह कामना करनी चाहिए कि प्रेतात्मा किसी अच्छे स्थान में जन्म ले। इसी रीति से मनुष्य पितृ-भक्त बालक बनता और मृतक के जीवन-काल में किये हुए उपकारों का प्रतिफल देता है।

तीन वर्ष का शोक अथवा सात दिन का उपवास ही केवल ऐसी रीतियाँ नहीं जिनसे मृत्यु के पश्चात् हितैषी मृतक का पूजन होता है। (क्योंकि ये अनुष्ठान* कुछ लाभ नहीं देते), मृतक पार्थिव कष्टों के साथ पुनः बाँधा जा सकता है (अर्थात्, उसका पुनर्जन्म हो सकता है) और (पाप की) हथकड़ी और बेड़ियों का दुःख भोग सकता है। इस प्रकार मृतक, कारणत्व की जंजीर के तीन विभागों (बारह निदानों) से सदा अनभिज्ञ रहकर, अँधेरे

* अर्थात् तीन वर्ष का शोक और सात दिन का उपवास।

से निकलकर फिर अँधेरे मे, और पूर्णत्व की दस अवस्थाओं* को कभी न देखकर, मृत्यु से मृत्यु मे जा सकता है।

बुद्ध की शिक्षा के अनुसार, जब भिक्षु मर जाता है, और मनुष्य पहचान लेता है कि वह ठीक मर गया है, तब उसी दिन उसका शव अर्थी पर रखकर श्मशान-भूमि मे भेज दिया जाता और वहाँ जला दिया जाता है। जब शव जल रहा होता है तब उसके मित्र इकट्ठे होकर एक ओर बैठ जाते हैं। वे या तो बाँधी हुई घास पर, या मिट्टी के चबूतरे पर, या ईटों अथवा पत्थरों पर बैठते हैं। एक विज्ञ मनुष्य अनित्यसूत्र पढ़ता है। यह एक पृष्ठ अथवा पन्ने जितना छोटा होता है जिससे कि थकानेवाला न बन जाय।

[इ-त्सिङ्ग की टिप्पणी]—मैं इस वृत्तान्त के साथ ही यह सूत्र स्वदेश भेज रहा हूँ।

तब वे (सब अवस्थाओं की) अनित्यता पर ध्यान करते हैं। अपने निवास-स्थान पर लौटकर वे, अपने वस्त्रों सहित, विहार के बाहर तालाब में, इकट्ठे स्नान करते हैं। यदि कोई तालाब न हो तो वे कुएँ पर जाकर नहाते हैं। वे पुराने वस्त्र पहनते हैं, ताकि नवीनों की हानि न हो। तब वे सूखे हुए कपड़े धारण कर लेते हैं। अपनी कोठरियों में वापस आकर वे पिसे हुए गाय के गोबर से फ़र्श को साफ़ करते हैं। शेष सब वस्तुएँ वैसी ही रहती हैं। शोक के वस्त्र पहनने की कोई रीति नहीं। वे कभी-कभी मृतक के लिए, उसका शरीर रखने के लिए, एक स्तूप की ऐसी चीज़ बनाते हैं। यह 'कुल' कहलाता है। यह एक छोटे स्तूप का ऐसा होता है परन्तु इस पर गुम्मट नहीं होता।

---

* वे दस अवस्थाएँ जिनमें से बोधिसत्त्व गुज़रता है।

किन्तु एक साधारण मनुष्य और एक उच्च व्यक्ति के स्तूपों में कुछ भेद होता है, जैसा कि विनय-पुस्तकों* में अति सूक्ष्मता से वर्णन किया गया है।

भिक्षु के लिए शाक्य पिता की श्रेष्ठ शिक्षा को एक ओर रखकर चोऊ के उच्चपदाधिकारी के दिये हुए सामान्य आचार पर चलना, कई मास तक रोते और चिल्लाते रहना, अथवा तीन वर्ष तक शोक का वेष धारण करना, ठीक नहीं है।

लिन-यू नाम का एक भिक्षु (सुई-वंश मे सन् ६०५ ई०—६१८) था, जो चीनी रीति के अनुसार कभी रोता-चिल्लाता या शोक का वेष नहीं पहनता था। वह मृतक का बहुत चिन्तन करता था और उसके निमित्त पुण्य-कर्म करता था। राजधानी के निकट रहनेवाले अनेक गुरु उसके उदाहरण का अनुकरण करते थे। कुछ लोग समझते हैं कि वह पितृभक्त नहीं है। परन्तु वे नहीं जानते कि उसका कर्म विनय के अनुकूल है।

---

* सम्युत्तवस्तु, अध्याय १८।

तेरहवाँ परिच्छेद

प्रतिष्ठित भूमियाँ

पाँच प्रकार की प्रतिष्ठित भूमियाँ हैं—

१. कि-सिन-त्सो, उस स्थान पर विहार बनाने के लिए किसी व्यक्ति के सङ्कल्प से भेट चढ़ाई हुई भूमि।

२. कुङ्ग-इन-च 'इह, विहार बनाने के लिए दो से अधिक भिक्षुओं की घोषणा-द्वारा अलग की हुई भूमि।

३. जू-निउ-वो, वह भूमि जहाँ लेटी हुई गाय की आकृति का भवन खड़ा हो।

४. कू-फेई-चू, मन्दिर या किसी दूसरे पवित्र भवन के खण्डहर।

५. पिङ्ग-फ़ा-त्सो,* भिक्षुओं-द्वारा पवित्र कर्म्म के साथ चुनी हुई और भेंट की हुई भूमि।

कि-सिन-त्सो (१) की बात यों है कि जब विहार बननेवाला हो और आधार-शिला रक्खी जा चुकी हो, तब कार्य की देखभाल करने-

---

* ये सब नाम चीनी है। इनके मूल मालूम करना कठिन है। महावग्ग ६, ३४, ४–५, में चार प्रकार की कप्पिय-भूमि के उपयोग की आज्ञा है–(१) वह जो घोषणा-द्वारा 'कप्पिय' बन जाती है (इ-त्सिङ्ग की १, २); (२) गोनिसादिक-(गो-शाला, इ-त्सिङ्ग की ३); (३) सामान्य भक्तजनों का मकान; और (४) ठीक तरह से चुनी हुई (इ-त्सिङ्ग की ५)। इ-त्सिङ्ग की जू-निउ-वो, 'लेटी हुई गाय के सदृश भवन', मूल 'गोनिसादिक' को प्रकट करती है, यह बात प्रायः निश्चित है; परन्तु यह मालूम करना कठिन है कि इसका ऐसा आशय कैसे समझा जाने लगा। दसवें परिच्छेद मे इ-त्सिङ्ग कहता है कि सङ्घ बैल देता है, इसलिए सम्भव है कि उसके और बुद्धघोष के समय मे सङ्घ के पास गोशाला रही हो।

वाले एक भिक्षु को अपना संकल्प निम्नलिखित रीति से प्रकट करना चाहिए—'विहार अथवा घर के इस स्थान पर आओ हम सङ्घ के लिए एक पवित्र पाकशाला बनायें।'

कुङ्ग-इन-च'इह (२) के विषय में यों है कि आधार-शिला स्थापित हो चुकने के अनन्तर यदि तीन भिक्षु रखवाली कर रहे हों, तो एक दूसरों से कहे—'पूज्य महाशयो ध्यान दीजिए, हमने इस स्थान पर चिह्न लगा दिया और इसे चुन लिया है, और विहार अथवा गृह के ठीक इसी स्थान पर हम सङ्घ के लिए एक पाकशाला बनायेंगे।'

दूसरे और तीसरे भिक्षु को भी यही उच्चारण करना चाहिए। जू-निउ-वो (३) ऐसे विहार हैं जिनके मकान लेटी हुई गाय के सदृश हैं, और कोठरियों के द्वार इधर-उधर बिखरे हुए हैं। ऐसा भवन, यद्यपि कर्म-द्वारा कभी प्रतिष्ठित नहीं हुआ तो भी, पवित्र समझा जाता है। कू-फेई-चू' (४) वह स्थान है जिसे सङ्घ ने चिरकाल से छोड़ दिया हो। यदि सङ्घ वहाँ फिर आये तो वही स्थान, जिसका पुरातनकाल में उपयोग हो चुका था, पवित्र हो जाता है परन्तु उन्हें अनुष्ठान (कर्म्म) किये बिना वहाँ रात न बितानी चाहिए। पिङ्ग-फ़ा-त्सो (५) कर्म और घोषणा दोनों द्वारा प्रतिष्ठित भूमि है। इसका वर्णन मूलसर्वास्तिवादनिकायैकशतकर्मन् में है।

जब इन पाँच पवित्र नियमों में से एक पूरा हो जाय तब, बुद्ध कहता है कि, सब भिक्षु इसमें दुहरा आनन्द ले सकते हैं—(१) भीतर खाना-पकाना और बाहर बटोरना; (२) भीतर बटोरना और बाहर पकाना, दोनों दोषरहित हैं।

यदि हम चार निकायों के सङ्घों की प्रक्रियाओं की तुलना करें, वर्तमानकाल के अनुष्ठानों को देखें, और विनय के आशय की सावधानी से परीक्षा करें तो भूमि की प्रतिष्ठा के नियम बहुत कुछ

एक ही हैं। यदि भूमि की अभी प्रतिष्ठा न हुई हो तो उस स्थान पर पीने, खाने, या रहने से पाप होता है; यदि प्रक्रिया हो चुकी हो तो वहाँ पकाने और रहने मे कोई दोष नहीं।

जिसे हम विहार कहते हैं वह (सङ्घ के लिए) निवास-स्थान का एक प्रचलित नाम है। इस सारे को एक मठ की पाकशाला समझा जा सकता है। प्रत्येक कोठरी में कच्चा और पका हुआ भोजन रक्खा जा सकता है। यदि विहार में सोने की आज्ञा न हो तो उस समय वहाँ रहनेवाले सब भिक्षुओं को बाहर जाकर किसी दूसरी जगह निवास करना चाहिए। तब, (किसी हानि से) शयन-स्थान की रक्षा न करने का दोष होता है; इसके अतिरिक्त (विनय के अनुसार) विहार मे खाद्यद्रव्य के रखने की आज्ञा है। भारत की परम्परागत रीति सारे विहार को 'पाकशाला' के रूप में प्रतिष्ठित करने की है, परन्तु इसके एक भाग को लेकर उससे पाकशाला का काम लेने की भी आज्ञा बुद्ध ने दी है। ये बातें वही नहीं जो विनय के चीनी गुरु कहते हैं कि हम सिखाते हैं।

यदि कोई व्यक्ति अपने कपड़ों की पवित्रता की रक्षा के लिए स्थान की प्रतिष्ठा किये बिना विहार से बाहर सो जाता है तो वह निन्दनीय है। यदि ठीक तौर पर प्रतिष्ठा हो चुकी हो तो वहाँ सोनेवाले को कोई दोष नहीं आता। मठ की पाकशाला को प्रतिष्ठा का प्रयोजन है। हमारे लिए बुद्ध का सत्त्व ऐसा ही है, और हमे अपनी प्रवृत्ति की परवा नहीं करनी चाहिए। कपड़ों की पवित्रता की रक्षा के लिए धर्म्मसंगत स्थानों मे वृक्षों के नीचे की जगहों (या गाँव में) इत्यादि के बीच भेद हैं।

स्थान की रक्षा केवल स्त्रियों से रखवाली के विचार से ही नहीं; क्योंकि (स्त्री) सेविका कभी-कभी पाकशाला के भीतर आ जाती है, और फिर भी (प्रतिष्ठित) पाकशाला ग्राम नहीं समझा जाता,

(इसी प्रकार स्त्रियों को छोड़कर प्रतिष्ठित होने पर भी स्थान पवित्र होता है।) जब मनुष्य गाँव मे जाता है तब उसके पास तीन चीवरों के होने का तात्पर्य स्त्रियों से अपनी रक्षा करना नहीं होता। तब कर्मदान (विहार के छोटे अधिष्ठाता) का तीन चीवरों के साथ विहार के कार्य्यों की देखभाल करना, विशेषतः जब कोई स्त्री भीतर आवे, एक बहुत कड़ी रीति है।

———

चौदहवाँ परिच्छेद

पाँच परिषदों का ग्रीष्म-एकान्त (वर्ष)

पहला ग्रीष्म-एकान्त पाँचवें चन्द्र के कृष्णपक्ष के पहले दिन होता है, और दूसरा ग्रीष्म-एकान्त छठवे चन्द्र के कृष्णपक्ष के पहले दिन; केवल इन्हीं दो दिनों मे ग्रीष्म-एकान्त आरम्भ करना चाहिए। इन दो के बीच ग्रीष्म-एकान्त को किसी और दिन आरम्भ करने की पुस्तक में* आज्ञा नहीं। पहला ग्रीष्म-एकान्त आठवें चन्द्रमा के मध्य में समाप्त होता है, और दूसरा नवें चन्द्रमा के मध्य में समाप्त होता है। जिस दिन ग्रीष्म-एकान्त बन्द होता है, भिक्षुगण और सामान्य भक्तजन पूजा की महाप्रक्रिया करते हैं। आठवें चन्द्र के मध्य के अनन्तर, मास कार्त्तिक कहलाता है; (चीन के) किअङ्ग-नन में 'का-ति' (कार्त्तिक ?) को, अर्थात् उस समय जब कि पहला ग्रीष्म समाप्त होता है, एक सभा होती है। आठवें चन्द्र का सोलहवाँ दिन वह दिन है जब कि 'कठिन' परिधान (सङ्घ को दक्षिणा के रूप मे) फैला† दिये जाते हैं। यह एक प्राचीन रीति है।

विनय (विनय-संग्रह, अध्याय ७) में कहा है—'यदि (बाहर जाने के लिए) उचित अवसर हो तो मनुष्य को एक दिन की अनुपस्थिति के लिए आज्ञा लेनी चाहिए।' इस वचन का अर्थ यह है

---

* चीन में एक निकाय एक वर्ष में तीन ग्रीष्म-एकान्त किया करता था। दो एकान्तों की तिथि के लिए देखिए महावग्ग ३, २, २.

† कठिन—आस्तार, देखो महावग्ग ७

कि, क्योंकि मनुष्य को बहुत से अवसर (अर्थात्, भोजन के लिए निमन्त्रण, या कोई दूसरे काम) मिलते हैं इसलिए उसे उतने दिनों की अनुपस्थिति की आज्ञा लेनी चाहिए, अर्थात् एक रात में करनेवाले काम के लिए मनुष्य को एक दिन की आज्ञा लेनी चाहिए, और इसी प्रकार सात* दिन तक (आज्ञा ली जा सकती है), परन्तु मनुष्य भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के पास ही जा सकता है। यदि (उसी मनुष्य को मिलने का) दूसरी बार प्रयोजन हो तो विनय कहती है कि मनुष्य को दूसरी बार आज्ञा लेकर बाहर जाना चाहिए। जब अनुपस्थिति की अवधि सात दिन से बढ़ जाय, मान लीजिए आठ दिन, या यहाँ तक कि चालीस रात तक बढ़ जाय तब मनुष्य को जो प्रक्रिया जारी है उसके बीच मे आज्ञा ले लेनी चाहिए। परन्तु आधा ग्रीष्म-एकान्त बाहर रहने की आज्ञा नही, इसलिए अधिक से अधिक केवल चालीस रातों की ही आज्ञा दी जाती है। यदि किसी रोगी की सेवा-शुश्रूषा करनी हो या कोई कठिन कार्य आ पड़े तो मनुष्य को चला जाना चाहिए; ऐसी दशा मे, चाहे अनुपस्थिति की छुट्टी न भी ली हो, ग्रीष्म-एकान्त नहीं टूटता। प्रव्रजितों के पाँच परिषदों† को चातुर्मास्य (वर्ष) करना पड़ता है; इनमें निम्न श्रेणी का भिक्षु आवश्यकता होने पर, किसी दूसरे को अपनी ओर से आज्ञा माँगने के लिए कहकर, अनुपस्थित हो सकता है। वर्ष (वर्षा-ऋतु) के पहले प्रत्येक सदस्य को कमरे दे दिये जाते हैं; स्थविरों को सबसे अच्छे कमरे दिये जाते हैं और फिर क्रमशः सबसे छोटों को।

---

* प्रबल प्रयोजन को छोड़कर, सात दिन अधिक से अधिक अनुमति जान पड़ती है।

† भिक्षु, भिक्षुणियाँ, शिक्षमाणा, श्रमणेर, और श्रमणेरियाँ पांच परिषद कहलाते हैं; इनके साथ कभी-कभी उपासक और उपासिकाएँ मिलाकर सारे सात परिषद बना दिये जाते हैं। देखिए महावग्ग ३, ९, ४.

नालन्द विहार में इस समय ऐसे ही नियमों के अनुसार कार्य होता है; भिक्षुओं की एक बड़ी सभा प्रति वर्ष कमरे देती है। जगद्वन्द्य ने स्वयं हमें इस बात की शिक्षा दी है, और यह बड़ी हितकर है। एक ते।, यह मनुष्य के स्वार्थपर सङ्कल्प को दूर करती है; दूसरे, भिक्षुओं के लिए कमरे उचित रूप से सुरक्षित रहते हैं। यह अत्यन्त उचित है कि प्रव्रजित इस प्रकार कर्म करें। इस तरह किअङ्ग के दक्षिण के विहार कभी-कभी भिक्षुओं को कमरे देते हैं; यह नियम प्राचीन सज्जन पुरुषों का दिया हुआ है और अभी तक इसके अनु-सार कार्य होता है। क्या यह उचित है कि मनुष्य मन्दिर पर अधिकार करके उसे अपना ही भोग समझने लगे, और इस बात को जाने बिना ही कि ऐसे व्यवहार की आज्ञा है कि नहीं, अपना जीवन व्यतीत कर दे ? पूर्व पीढ़ियाँ ऐसा नहीं करती थी। समस्त चीन देश में पिछली पीढ़ियों के लोगों ने धर्म्म को आँखों से ओझल कर दिया है। यदि सिद्धान्तों के अनुसार कमरे बाँटे जायँ ते। वास्तव मे (सङ्घ के लिए) यह बड़ा हितकारी सिद्ध होगा।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

प्रवारण-दिवस के सम्बन्ध में

वह दिन जब ग्रीष्म-एकान्त समाप्त होता और ऋतु (शब्दार्थ, वर्ष) बन्द होती है 'सूइ-इ' होना चाहिए, (मूलार्थतः, 'मनुष्य की अपनी इच्छा [आसक्ति] के अनुसार' प्रवारण), अर्थात् तीन बातों—जो कुछ मनुष्य ने देखा है, जो कुछ सुना है, और जिसका उसे सन्देह हुआ है—के अनुसार, स्वेच्छापूर्वक दूसरों के दोष दिखाना। इसके अनन्तर दोषों का स्वीकार और प्रायश्चित्त* होता है। प्रवारण का पहला अनुवाद, इसके आशय के अनुसार स्से-स्से, अर्थात् आत्मासक्ति था।

चौदहवें दिन की रात को (पन्द्रहवाँ दिन एकान्त का अन्तिम दिन होता है) सङ्घ एक कथक को बुलाकर एक उच्च आसन पर बैठाता और उससे बुद्ध-सूत्र कहलाता है। इस समय सामान्य भक्तजन और भिक्षुगण मेघों अथवा कुहरे के सदृश इकट्ठे हो जाते हैं। वे लगातार दीपक जलाते, और धूप तथा पुष्प चढ़ाते हैं। अगले दिन सवेरे वे सब ग्रामों और नगरों के गिर्द जाते हैं और सच्चे हृदय से सारे चैत्यों का पूजन करते हैं।

---

* देखिए महावग्ग ४, १, १४, बड़े भिक्षु कहें—"मैं सङ्घ से निवेदन करता हूँ कि जिस अपराध का वे मुझे दोषी समझते हो, जो अपराध उन्होंने देखा हो या सुना हो, या जिसका उन्हें संदेह हो वह मुझे चिता दे; महाराज, आप मुझ पर दया करके मुझे बता दीजिए; यदि मैं (अपराध) देखूँगा तो उसके लिए प्रायश्चित्त करूँगा।"

वे छत्तदार गाड़ियाँ, पालकियों में प्रतिमाएँ, ढोल, और आकाश में गूँजते हुए दूसरे बाजे, नियमित क्रम में (मूलार्थतः बटे हुए और सजे हुए) ऊँचे चढ़ाये हुए, सूर्य को ढँकते और लल्लोपत्तो करते हुए झण्डे और छत्र लाते हैं; यह 'सा-मा-किन-ली' (सामग्री) कहलाता है, जिसका अनुवाद 'मेल' या 'भीड़ लगाना' है। सभी बड़े उपवसथ-दिन इस दिन के सदृश होते हैं। इसे हम चीन में 'नगर के गिर्द घूमने की प्रक्रिया' कहते हैं। पहले पहर के आरम्भ मे (प्रातः ९ बजे से ११ बजे तक) वे विहार में वापस आ जाते हैं, दुपहर को वे महोपवसथ-प्रक्रिया करते हैं, और तीसरे पहर हाथों में ताज़ा नागरमोथा का गुच्छा लिये इकट्ठे हो जाते हैं। इसको हाथों मे पकड़कर या पैरों के नीचे रौंदकर जो उनकी इच्छा होती है करते हैं, पहले भिक्षु, फिर भिक्षुणियाँ; इनके अनन्तर सदस्यों की तीन निम्न श्रेणियाँ। यदि आशङ्का हो कि संख्या के बड़ी होने के कारण समय बहुत लग जायगा तो सङ्घ अनेक सदस्यों को इकट्ठे जाकर प्रवारण-प्रक्रिया कराने की आज्ञा दे देता है। दूसरा व्यक्ति जो दोष दिखलाये, उसका स्वीकार और धर्म्मानुसार उसका प्रायश्चित्त करना चाहिए।

इस समय, या सामान्य भक्तजन दान देते हैं, या स्वयं सङ्घ उपहार बाँटता है, और सब प्रकार के दान सभा के सामने लाये जाते हैं। तब पाँच पूज्य व्यक्ति (पाँचों परिषदों मे से एक एक [?]) सभा के मुखियों (स्थविरों) से पूछते हैं—'क्या ये वस्तुएँ सङ्घ के सदस्यों को दी और उनका अपना भोग बनाई जा सकती हैं या नहीं ?' स्थविर उत्तर देते हैं—'हाँ, बनाई जा सकती हैं।' तब सब कपड़े, चाकू, सुइयाँ, सुतारियाँ इत्यादि लेकर समान रूप से बाँट दी जाती हैं। (बुद्ध की) शिक्षा ऐसी ही है। इस दिन चाकू और सुतारियाँ भेट करने का कारण यह

है कि वे चाहते हैं कि उनको ग्रहण करनेवालों को (तीक्ष्ण) बुद्धि और प्रज्ञा मिले। जब इस प्रकार प्रवारण समाप्त हो जाता है तब सब अपना-अपना मार्ग लेते हैं (मूलार्थतः, पूर्व या पश्चिम को जाते हैं)। यदि ग्रीष्म में वे पूर्ण रूप से वहाँ अपना निवास रख चुके हैं तो वहाँ रात बिताने का प्रयोजन नहीं; इसका पूर्ण रूप से वर्णन अन्यत्र किया गया है, और मैं इसे यहाँ विस्तारपूर्वक नहीं कहूँगा। 'पापों के स्वीकार' का भाव यह है कि, अपने अपराध की घोषणा करके और अपने पिछले दोषों की बात कहकर, मनुष्य अपने पिछले आचरण को बदलने (अर्थात् उसका प्रायश्चित्त करने) और भविष्य को सुधारने, और सच्चे हृदय से सावधानता-पूर्वक अपने आपको दोषी ठहराने की कामना करेगा। प्रत्येक अर्धमास मनुष्य को पोषध* करना, और प्रतिदिन प्रातः और सायं अपने दुरितों पर विचार करना चाहिए।

[इ-त्सिङ्ग की टीका]—पोषधः* पोष का अर्थ है, 'पालना' ध का अर्थ है 'पवित्र करनेवाला' और इस प्रकार पोषध का अर्थ है

---

* पोषध का अर्थ यहां पाप-प्रकाशन समझा जाता है यद्यपि इ-त्सिङ्ग की व्युत्पत्ति विचित्र है। इस शब्द का मूल केवल पाली का उपोसथो, 'उपवास करना', और 'उपवास-दिवस' बताया जा सकता है। चाइल्डर्स का मत है कि उत्तरीय बौद्धों ने अव के ओ में परिवर्तन से धोखा खाकर, और उपवसथ शब्द को न जानने से, जो कि लौकिक संस्कृत का नहीं, उपोसथ को उपोषध कर दिया है, जो निस्सन्देह, केवल एक अबुद्धिपूर्व रूपान्तर है, और इसकी कोई व्युत्पत्ति नहीं (Burnouf, Lotus, 450; Introduction, 227), और बर्नोफ़ के 'लोटस', ६३६, में उपोसथ है, जो केवल पाली शब्द का स्वीकार है। जब उपोषध का व्यवहार करते हुए मूल उपवसथ भूल गया तब उपोषध के 'उ' का सुगमता से लोप किया जा सकता और इसके साथ एक झूठी व्युत्पत्ति जोड़ी जा सकती है।

'ललित विस्तर' मे पहले ही पोषध (पृष्ठ ४६), पोषदेय (पृष्ठ १९), और पोषधपरिगृहीत (विशेषण, 'जिसमें वे पोषध रखते हैं') है। शतपथ

उत्तम गुणों का पालना (या रखना), और आदेशों को तोड़ने के अपराध को शुद्ध करना। पहले इसका शब्दानुवाद पु-सा किया था, जो कि बहुत छोटा और अशुद्ध है। प्रथम समूह के अपराध (अर्थात् पाराजिक अपराध अथवा सङ्घ से निकलवा देनेवाले अपराध) का प्रायश्चित्त नहीं हो सकता। दूसरे समूह के पाप (अर्थात् सङ्घादिशेष* अपराध या पाप जिनके लिए निकाल देने की नहीं वरन् प्रतिबन्ध और प्रायश्चित्त की आवश्यकता होती है) के विषय में अपराधी को, प्रायश्चित्त के अनन्तर, बीस† का सङ्घ बनानेवाले भिक्षु-समाज में पुनः नियुक्त कर देना चाहिए, परन्तु यदि अपराध हलका हो तो उसका स्वीकार और प्रायश्चित्त उन लोगों के सामने करना चाहिए जो मनुष्य के अपने बराबर के नहीं। संस्कृत में कहते हैं 'आपत्तिप्रतिदेशन'' आपत्ति का अर्थ है पाप या अपराध, प्रतिदेशन, दूसरों के सामने स्वीकार करना।

इस प्रकार अपने दोषों को स्वीकार करते और शुद्ध होने की कामना करते हुए, मनुष्य आशा करता है कि एक-एक करके स्वीकार करने से पापों का प्रायश्चित्त हो गया है। सब पापों का एकबारगी स्वीकार करने की विनय में आज्ञा नहीं। पहले हम सन-कुएई शब्द का व्यवहार किया करते थे, परन्तु इसका सम्बन्ध 'पाप-प्रकाशन' से नहीं है। क्योंकि क्षमा शब्द (चीनी के सन-कुएई मे 'सन' क्षमा के लिए है) पाश्चात्य (अर्थात् भारतीय) शब्द है जिसका अर्थ 'सहिष्णुता' है; परन्तु ('सन-कुएई' का) कुएई एक चीनी शब्द है जिसका अर्थ 'अनुताप' है।

ब्राह्मण १, १, १, ७ मे उपवसथ (उपवास) है। यह अन्तिम बात घर पर ठहरने का भाव देती है।

* Chavannes में सङ्घावशेष है, देखिए Memoirs, p. 167.

† पातिदेशनिया धम्मा, पातिमोक्ख, पृष्ठ १६, S.B.E., vol. xiii.

अनुताप का सहिष्णुता से कुछ भी सम्बन्ध नहीं। यदि हम भारतीय मूल पाठ पर चलें तो हमें, अपराध का प्रायश्चित्त करते समय, कहना चाहिए—'मैं सच्चे हृदय से अपने अपराध का स्वीकार करता हूँ*।' इससे यह स्पष्ट है कि क्षमा का अनुवाद 'अनु-ताप' करने के लिए कोई प्रमाण नहीं।

भूल हो जाने अथवा किसी दूसरे के शरीर का अचानक स्पर्श कर बैठने पर, पश्चिम के लोग, जिसका उन्होंने अपराध किया है कभी तो उसके शरीर पर हाथ फेरकर, अथवा कभी उसके कन्धे को छूकर, 'क्षमा' कहते हैं; इसमें वे अपनी स्थिति पर कुछ ध्यान नहीं देते; यदि दोनों स्थविर हों तो वे हाथ नीचे की ओर लटकाये हुए एक दूसरे की ओर देखते हैं, अथवा यदि एक व्यक्ति दूसरे से छोटा हो, तो छोटा हाथ जोड़कर दूसरे का उचित सम्मान करता है। क्षमा† का भाव है 'मैं आपसे माफ़ी माँगता हूँ', 'कृपया क्रुद्ध न हूजिये।' विनय मे क्षमा शब्द का व्यवहार उस समय है जब हम दूसरों से माफ़ी माँगते हैं, परन्तु देशन (प्रतिदेशन) का उपयोग अपने पापों का स्वीकार करते समय हुआ है।

इस डर से कि हम कहीं आनेवाली पीढ़ियों को भटका न दें, मैंने पूर्वकाल मे प्रचलित भूलों का इस प्रकार वर्णन किया है। यद्यपि हम वर्तमान रीतियों के अभ्यासी हैं, तो भी हमे मूल नियमों पर चलने का यत्न करना चाहिए।

संस्कृत शब्द प्रवारण का अनुवाद 'स्वेच्छानुसार (करना)' किया गया है; इसका अर्थ 'परितृप्त करना' भी है, फिर इसका आशय 'दूसरे को उसकी इच्छा के अनुसार उसका अपराध दिखाना' भी है।

---

* पातिमोक्ख, पृष्ठ ९६, 'मैं एक दूषणीय अपराध में फँस गया हूँ..., और उसका स्वीकार करता हूँ।'

† यहाँ क्षामय, अर्थात् 'क्षमा माँगो' से तात्पर्य है।

सोलहवाँ परिच्छेद

चमचों और रोटी काटने की लकड़ियों के विषय में

पश्चिम में खाने की रीति यह है कि वे केवल दायें हाथ का ही उपयोग करते हैं, परन्तु यदि मनुष्य रोगी हो या कोई और कारण हो, तो उसे उपयोग के लिए चमचा रखने की आज्ञा है। भारत के पाँच खण्डों मे रोटी काटने की लकड़ियों का नाम कभी सुनने में नहीं आता; चतुर्निकाय के विनय में उनका उल्लेख नहीं है, वे केवल चीन मे ही पाई जाती हैं। साधारण लोग स्वभावतः (लकड़ियों के उपयोग की) प्राचीन रीति पर चलते हैं, और भिक्षुओं को आज्ञा है कि वे अपनी इच्छा के अनुसार इनका व्यवहार करें चाहे न करें। इन खाना खाने की लकड़ियों की न कभी आज्ञा थी और न निषेध था, अतएव इस विषय के साथ 'संक्षिप्त शिक्षा' के अनुसार व्यवहार होना चाहिए, क्योंकि लकड़ियों का उपयोग करते समय लोग कुड़कुड़ाते अथवा वादानुवाद नहीं करते।

चीन मे उनका उपयोग कर लिया जाय, क्योंकि यदि हम हठपूर्वक उनका व्यवहार छोड़ देंगे तो लोग हँसेंगे अथवा कुड़कुड़ायँगे।

भारत मे उनका व्यवहार नही करना चाहिए। संक्षिप्त विनय का ऐसा ही भाव है।

सत्रहवाँ परिच्छेद

प्रणाम के लिए उचित अवसर

प्रणाम की रीति नियमो के अनुसार होनी चाहिए, अन्यथा यह ठीक वैसा ही होगा जैसा चिपटी भूमि पर गिर पड़ना। इस लिए बुद्ध कहता है—'दो प्रकार की अशुचिता ऐसी है जिसमे मनुष्य न तो किसी का प्रणाम स्वीकार करे और न दूसरे को प्रणाम करे'।

यदि प्रणाम विनय के विरुद्ध हो तो जितनी बार मनुष्य झुकता है उसे असावधानी का पाप लगता है। अच्छा, वह दो प्रकार का अशौच क्या है ?

पहले तो खाने और पीने से उत्पन्न होनेवाला अशौच। कोई वस्तु खाने, यहाँ तक कि ओषधि का एक परिमाण निगलने से भी मनुष्य, जब तक वह कुल्ला न कर ले और हाथ न धो ले, प्रणाम करने के अयोग्य हो जाता है। यहाँ तक कि शर्बत, पानी, चाय, या मधु-जल पीने, अथवा घी या गीली शक्कर खाने से भी मनुष्य—जब तक वह उचित रूप से अपनी शुद्धि न कर ले—समान रूप से अयोग्य होता है।

दूसरे, टट्टी जाने से उत्पन्न हुआ अशौच। पाखाना (टट्टी) जाकर मनुष्य अशुद्ध हो जाता है, और उसके शरीर, हाथों और मुँह की शुद्धि आवश्यक होती है।

इसी प्रकार जब मनुष्य का शरीर अथवा कपड़े अपवित्र हो जायँ, उन पर थूक, श्लेष्मा जैसी किसी चीज़ का धब्बा लग जाय।

सबेरे दातुन न करने का अशौच भी इसी के अन्तर्गत है।

भिक्षुओं की सभा में या उपवास के दिन अपवित्र अवस्था मे केवल हाथ जोड़ने चाहिएँ। हाथों का जोड़ना सम्मान करना है, इसलिए पूरा प्रणाम करने का प्रयोजन नहीं। यदि कोई प्रणाम करता है तो वह विनय के विरुद्ध चलता है। जिस स्थान पर लोग काम में लीन हो वहाँ, अशुद्ध जगह मे या मार्ग में, प्रणाम नहीं करना चाहिए। इन बातों का विनय-ग्रन्थों मे वर्णन है। चाहे मनुष्य ठीक-ठीक रीति से (विनय की) शिक्षा पर चलना चाहता हो, परन्तु अशुद्ध परम्परागत रीति अथवा भिन्न जल-वायु के कारण अनेक अनुष्ठानों मे बाधा पड़ जाती है।

जब तक कुछ लोग ऐसे हैं जो हमारी तरह आचरण करते हैं, और जिनको हम अपने दोषी साथी समझ सकते हैं, तब तक हममे से कोई भी छोटे अपराध से सचेत नहीं रहेगा* !

---

* इसका अनुवाद करना बड़ा कठिन है। कोई और अच्छा अनुवाद ढूँढ़ना चाहिए। परन्तु मैं समझता हूँ कि मैंने इस वचन के आशय को प्रकट कर दिया है।

अठारहवाँ परिच्छेद

टट्टी जाने के विषय में

अब मैं टट्टी जाने के विषय मे नियमों का संक्षेप से वर्णन करूँगा। मनुष्य को शरीर के अधोभाग पर स्नान करने का साया, और उत्तर भाग पर सङ्कुचिका* परिधान पहन लेना चाहिए। फिर सफ़ाई के लिए एक लोटा (मूलार्थतः, 'छुआ हुआ लोटा') जल से भरना, उस लोटे को लेकर टट्टी जाना, और अपने आपको छिपाने के लिए द्वार को बन्द कर देना चाहिए। मिट्टी के चौदह गोले दिये जाते और टट्टी (वर्चस्-कुटी) के बाहर ईंट की थाली मे और कभी-कभी एक छोटी-सी पटरी पर रख दिये जाते हैं। ईंट या पटरी का परिमाण एक हाथ लम्बा और आधा हाथ चौड़ा होता है। मिट्टी के गोलों को पीसकर बारीक कर लिया जाता है और उनकी दो पाँतें बना दी जाती हैं। प्रत्येक गोले की पिसी हुई मिट्टी अलग-अलग रक्खी जाती है। वहाँ एक फालतू गोला भी रक्खा जाना चाहिए। मनुष्य को तीन और गोले टट्टी मे ले जाकर एक ओर रख देने चाहिएँ। इन तीन मे से एक तो शरीर को रगड़ने और दूसरा शरीर को धोने के काम मे लाया जाता है। शरीर को धोने की रीति इस प्रकार है—शरीर को बायें हाथ से धोना, और फिर जल और मिट्टी से शुद्धि करनी चाहिए। अभी

---

* सङ्कुचिका एक बगल को ढँकनेवाला बागा या कपड़ा होता है जो शेष सब कपड़ों के नीचे पहना जाता है। इस शब्द के लिए देखिए महाव्युत्पत्ति।

तक एक गोला शेष रहता है। इसके साथ बायें हाथ को एक बार स्थूल रूप से धो डालना चाहिए। यदि गाते का टुकड़ा (या खूँटी) हो तो इसे भीतर लाना अच्छा है, परन्तु इसका उपयोग कर चुकने पर इसे टट्टी के बाहर फेंक देना चाहिए। परन्तु यदि पुराने कागज़ का प्रयोग किया जाय तो इसे मूत्रपात्र मे फेंक देना चाहिए। शुद्धि कर चुकने के अनन्तर कपड़ों को छोड़ देना (अर्थात् सुधारना), पानी के लोटे को एक ओर रख देना, दायें हाथ से द्वार को खोलना, और लोटे को दायें हाथ में पकड़े हुए बाहर आना चाहिए। फिर लोटे को बाईं बाँह से आलिङ्गन करके, परन्तु बायें हाथ को बन्द किये हुए, दायें हाथ से पीछे द्वार बन्द कर देना और वहाँ से चल देना चाहिए। अब उस स्थान पर आना चाहिए जहाँ कि मिट्टी के गोले रक्खे हुए हैं, और एक ओर उकड़ूँ बैठ जाना चाहिए, यदि मनुष्य चटाई का उपयोग करता है तो उसे इसको जैसा अवसर हो उसके अनुसार रखना चाहिए। लोटे को बायें घुटने (?) पर रखना और बाईं बाँह से नीचे की ओर दबाना चाहिए। पहले मिट्टी के सात गोले, जो शरीर के निकट हो, बाये हाथ को धोने के लिए क्रमशः एक-एक करके बर्तने चाहिएँ, और फिर शेष सात एक-एक करके दोनों हाथ धोने के लिए।

ईंट और काठ (की पटरी) के पृष्ठतल को धोकर साफ़ कर देना चाहिए। अभी तक एक और गोला रहता है जिसके साथ लोटा, बाँहें, पेट और पैर (पैरों के तलुए) धोये जाते हैं; जब सब शुद्ध और साफ़ हो जायँ तब मनुष्य, जहाँ उसकी इच्छा हो, जा सकता है। लोटे का पानी मुँह में डालने अथवा होंठों मे लगाने के योग्य नहीं। मनुष्य को अपनी कोठरी मे वापस आकर एक साफ़ ठिलिया से जल लेकर मुँह धोना चाहिए। टट्टी हो आने के पश्चात् यदि मनुष्य लोटे को छू दे तो जब तक वह दुबारा हाथों को न

धोये और कुल्ला न कर ले, दूसरे बर्तनों को छूने के योग्य नहीं होता। टट्टी जाने के विषय में ऐसे ही नियम हैं। कष्ट से बचने के लिए भिक्षु सदा आप धोता है; परन्तु जिसके अनुचर हो वह उससे धुला सकता है।

टट्टी जाने के अनन्तर हर सूरत मे मनुष्य को एक-दो मिट्टी के गोलों के साथ हाथ धोने चाहिएँ, क्योंकि पूजा करने का आधार पवित्रता है। यह सच है कि कुछ लोग इन बातों को बहुत तुच्छ समझते हैं, परन्तु विनय मे कड़े निषेध हैं।

प्रक्षालन के पूर्व सङ्घ की कुर्सी पर बैठना, अथवा त्रिरत्न को प्रणाम करना नही चाहिए। ऐसी ही रीति से शेन-तुजे (कायपुत्र) ने एक नास्तिक* को वश मे किया था। इसलिए बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए नियम बनाये। यदि तुम (उसके आदेशों पर) आचरण करते हो तो विनय के नियमों पर चलने से जो पुण्य होता है वह तुम्हें मिलेगा। यदि तुम उनके अनुसार आचरण नही करते तो उसकी शिक्षा का उल्लङ्घन करने से जो पाप होता है वह लगेगा। उपर्युक्त प्रकार के नियमों का चीन मे कभी प्रचार नही हुआ। यदि उनकी शिक्षा दी भी जाती तो लोग उन्हे नापसन्द करते और कहते कि 'महायान के बताये हुए सार्वत्रिक शून्य मे, कौन-सी बात पवित्र और कौन-सी अपवित्र है? तुम्हारा भीतर सदा भरा रहता है; तब बाहरी शुद्धि से क्या लाभ?' परन्तु वे नही जानते कि इस प्रकार विचारने से वे बुद्ध की शिक्षा की अवज्ञा और उसकी पवित्र आत्मा के साथ अन्याय कर रहे हैं।

दूसरे की पूजा करना या उससे अपनी पूजा कराना अपराध है। कपड़े पहनने और भोजन करने की हमारी रीतियों से देव और प्रेत घृणा करने लगते हैं।

---

* मैं निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकता कि यह संकेत किधर है।

यदि मनुष्य धोता और अपने आपको शुद्ध नहीं करता तो भारत के पाँच खण्डों के लोग उस पर हँसेंगे; और ऐसा व्यक्ति जहाँ कहीं जायगा उसकी निन्दा होगी। जिन लोगों के आश्रय मे धर्म्म-प्रचार है उन्हें (बुद्ध की) शिक्षा को आगे चलाना चाहिए। हम सांसारिक झगड़ों से निकल आये हैं, घरों को छोड़कर बे-घर हो गये हैं, इसलिए हम शाक्य पिता के प्रत्येक शब्द का ठीक-ठीक तौर पर पालन करने के लिए विवश हैं। हम विनय के विषयों को अप्रसन्नता की दृष्टि से कैसे देख सकते हैं? यदि तुम्हारा इन बातों में विश्वास न भी हो, तो भी तुम्हें जिस बात की आज्ञा मिली है उसके लिए उद्योग करना ही अच्छा है। पाँच-छः दिन के अनन्तर तुम्हें अपने आपको न धोने के दोष मालूम हो जायँगे।

हेमन्त मे तुम गरम पानी का व्यवहार कर सकते हो; शेष तीन ऋतुओं मे तुम जो चाहो सो बर्तो। परन्तु (पानी रखने के लिए) छोटे बर्तन और (शरीर को पोंछने के लिए) कपड़े का उपयोग विनय-ग्रन्थों के अनुसार नही। कुछ लोग मुँह मे पानी रखकर टट्टी से बाहर चले जाते हैं; यह रीति भी शुद्धि के नियमों के विरुद्ध है।

भिक्षुओं के निवास-स्थानों की टट्टियाँ साफ़ रहनी चाहिएँ। यदि मनुष्य आप न कर सकता हो तो दूसरों को कहकर करा ले। इस प्रकार सब प्रदेशों से आनेवाले भिक्षुओं को—क्या सामान्य और क्या उच्च सब को—समान रूप से शरण मिल जाती है। व्यय का थोड़ा होना आवश्यक है।

शौच की क्रिया ऐसी ही है, और यह कोई व्यर्थ बात नहीं है।

एक बड़ा बासन तैयार करो जिसमे 'शीह' या दो शीह आ सकें। इसे मिट्टी से भरकर टट्टी के पास रख दो। जल रखने के लिए, यदि भिक्षु के पास उसके अपने निजू कमरों में तैयार किया हुआ पानी का लोटा न हो, तो उसे मिट्टी का बासन वर्तने की आज्ञा है।

जल से भरा हुआ बासन भीतर ले जाकर वर्चसूकुटी (टट्टी) के एक कोने में रख दिया जाता और दायें हाथ से शरीर को साफ़ किया जाता है।

जलमय प्रदेश में (चीन मे किअङ्ग और ह्वाई) भूमि नीची होती है, और खुड्डी के लिए प्राय: एक (चीनी) हॉड़ी का प्रयोग किया जाता है। मनुष्य उसी स्थान पर नही धो सकता; और जल-स्थान अलग बनाना चाहिए, जिसमें से पानी सदा बाहर बहता रहे।

फ़ेन-चोऊ में फ़ा-फ़ुह; ताइ पर्वत पर लिङ्ग-येन, ह्सिङ्ग नगर में यू-ह्-सेन; यङ्ग-चोऊ मे पा-ता; चीन के इन सब मन्दिरों मे, जल और मिट्टी की तैयारी को छोड़कर, टट्टियाँ उचित नियमों के अनुसार बनाई जाती थीं। यदि किसी व्यक्ति ने यह बात सिखाई और बदली होती, तो ठीक राजगृह के सदृश ही व्यवस्था होती। यह पहले शिक्षकों का दोष है। इसके लिए पीछे के शिष्यों की अज्ञता को दोष नहीं दिया जा सकता। मटके मे मिट्टी और जल, जिनको टट्टी में रखना है, सुरक्षित रूप से रक्खे और पर्याप्त रूप से दिये जाने चाहिएँ।

दूसरे मटके में (जिसमें से मनुष्य पानी लेता है उसके साथ) एक टोंटी लगी होनी चाहिए। यदि मनुष्य कुण्डी का व्यवहार करता है तो यह मेरी पहले कही विधि के अनुसार बनाई जानी चाहिए*।

चौड़े मुँह का चपनीवाला ताँबे का मटका धोने के काम के लिए ठीक नहीं। यदि तुम इसके पार्श्व में एक दूसरा मुँह बनाओ तो इसके ढकने की चोटी की राँग के साथ रक्षा करो, और नोकदार चोटी के मध्य में एक छेद करो। आवश्यकता के समय आप ताँबे के मटके का उपयोग कर सकते हैं।

---

* छठवाँ परिच्छेद।

यहाँ तक मैंने अपनी लेखनी को घिसाया और काग़ज़ ख़र्च किया है। इसका परिणाम मेरे वर्णन की सूक्ष्मता है। मुझे आशा है कि कुछ लोग ऐसे होंगे जो मेरी इस आपत्ति को सुनकर (उचित) मार्ग पर चलने लगेंगे।

महामुनि जौड़िया शाल-वृक्षों में निर्वाण को प्राप्त हुआ, और अर्हत भी भारत के पाँच खण्डों मे ही भस्म हो गये।

जो धर्म पीछे छोड़ा गया है उसकी केवल छाया और शब्द ही प्रकट होना आरम्भ हुआ है*। जाओ और अपने आपको उन लोगों को सौंप दो जिन्होंने सांसारिक जीवन का परित्याग कर दिया है; उठो और उन लोगों के पीछे चलो जिन्होंने सांसारिक चिन्ता छोड़ दी है। तुम्हें अन्धकार के लिप्त और नीच जगत् को अवश्य त्याग देना चाहिए; तुम्हें पवित्रता का शान्त और शुभ्र जीवन व्यतीत करना चाहिए। बाहर का मैल और भीतर की भूल दोनों पोंछ जायँ, और ऊपर की गाँठ और नीचे का बन्धन दोनों समान रूप से कट जायँ। जब तुम्हारा शरीर शान्त और मन पवित्र होगा तब तुम्हारे चार कर्मों† को कभी कष्ट न होगा, और सम्मान के तीन विषय‡ सदा मित्र होंगे।

तब तुम जीवित मनुष्यों में उपहास का विषय न होगे; तुम यम की क्रोध-भरी दृष्टि से कैसे भयभीत होगे ? प्राणियों के नौ लोकों का कैसे उपकार हो सकता है, और तीन लम्बे युगों में (बुद्धत्व के लिए) उत्तम हेतु कैसे पूर्ण हो सकता है, इसका हमें ख़ूब विचार करना चाहिए।

---

* उसके कथन का आशय यह है कि धर्म का प्रभाव अभी तक थोड़ा है।

† अर्थात् जाना, ठहरना, बैठना, और लेटना।

‡ अर्थात्, तीन रत्न।

यदि, जैसा कि मैं सचाई से आशा करता हूँ, लाख मे से एक मनुष्य भी (मेरे शब्दों से) अपना सुधार करेगा, तो अपने आयास के दो दर्जन वर्षों में जो कठिनाई और कठोरता मैंने झेली है उसके लिए मुझे खेद न होगा।

उन्नीसवाँ परिच्छेद

उपसम्पदा के नियम

प्रव्रजित बनाने (मूलार्थतः घर-बार-रहित होने) के सम्बन्ध में जो प्रक्रियाएँ पश्चिम मे की जाती हैं उनके लिए सूक्ष्म नियम हैं, जो कि मुनि (बुद्ध) ने प्रतिष्ठित किये हैं, जैसा कि पूर्ण रूप से 'एक सौ कर्म'* मे देखा जा सकता है; परन्तु मैं यहाँ उनके विषय में केवल कुछ ही बातें सुनाऊँगा†। जिस मनुष्य ने अपने विचारों को (धर्म्म की ओर) फेर दिया है और प्रव्रजित (मूलार्थतः, 'गृह-हीन') बनना चाहता है, वह अपनी इच्छा के अनुसार किसी उपाध्याय के सामने जाकर उससे अपनी अभिलाषा कहता है। वह उपाध्याय, किसी न किसी उपाय से, मालूम करता है कि इसके मार्ग मे कोई रुकावट तो नहीं; अर्थात् पितृ-हत्या, मातृ-हत्या, प्रभृति। यदि वह ऐसी कोई कठिनाई नहीं पाता तो उसका मनोरथ पूरा कर देता है और उसे (भिक्षुपद के लिए) स्वीकार कर लेता है। स्वीकार कर लेने के अनन्तर उपाध्याय उसे दस दिन या एक मास तक खुला छोड़ देता है। और फिर उसे पाँच उपदेश‡ देता है।

---

* मूलसर्वास्तिवादनिकायिकशतकर्मन्।

† मूलार्थतः 'मैं संक्षेप से वर्ग और कोणे बताऊँगा।'

‡ पाठ का शब्दार्थ यह है—'शिक्षा का स्थान या विषय'; मूल में 'शिक्षापदम्' है, अर्थात् नैतिक शिक्षा का वाक्य, उपदेश। पदम् का अनुवाद, जिसका अर्थ 'स्थान' या 'वाक्य' है, यहां स्थान किया गया था। पाँच और दस शिक्षापद क्रमशः वही है जो पाँच और दस शील हैं। पाँच बुद्ध के

जो मनुष्य अब तक सात परिषदों का सदस्य नहीं था वह अब उपासक कहलाता है; बुद्ध-धर्म में यह उसका पहला पग है। तब उपाध्याय, (पदाभिलाषी के लिए) एक पट, एक सङ्कक्षिका, एक निवासन, एक भिक्षा-पात्र, और एक चालनी का प्रबन्ध करके, सङ्घ के अभिमुख होता और कहता है कि पदाभिलाषी भिक्षु बनना चाहता है। जब संघ उसे स्वीकार कर लेता है तब उपाध्याय उसकी ओर से आचार्यों को (संस्कार कराने के लिए) कहता है। तब वह मनुष्य किसी एकान्त स्थान में नाई से (मूलार्थतः, एक मनुष्य जो सिर मूँड़ता है) अपने केश और दाढ़ी मुँड़वाता है और ऋतु के अनुसार ठण्डे या गरम पानी से स्नान करता है। उपाध्याय किसी न किसी प्रकार उसकी परीक्षा करता है कि वह कहीं हिजड़ा इत्यादि तो नहीं, और तब वह उस पर निवासन रख देता है। फिर उसे उत्तरीय कञ्चुक दिया जाता है, जिसे वह अपने सिर के साथ छूकर ग्रहण करता है। अब वह प्रव्रजित कहलाता है। फिर उपाध्याय के सामने आचार्य उसे दस शिक्षापद, सुनाकर या पढ़कर, देता है। इन शिक्षापदों को सीख लेने के बाद वह भिक्षु श्रमणेर कहलाता है।

[इ-त्सिङ्ग की टीका]—श्रमणेर का अर्थ है 'जो विश्राम ढूँढ़ता है,' अर्थात् 'जो निर्वाण—पूर्ण विश्राम—प्राप्त करना चाहता है'। पहला शब्दानुवाद 'शा-मी' था, जो कि बहुत छोटा और उच्चारण में अशुद्ध है। और इस नाम का उल्था 'दया में स्थिर' किया गया था, जिसके लिए कोई प्रमाण नहीं, अर्थ चाहे यह हो सके।

परम प्रसिद्ध मौलिक उपदेश या आज्ञाएँ हैं, अर्थात् हत्या, चोरी, झूठ, व्यभिचार और मादक द्रव्यों को छोड़ दो। Childers शिक्षा और शीलम्।

उपसम्पदा* लेनेवालों के लिए प्रतिपत्ति, प्रक्रियाएँ, उपदेश माँगने और अपना सङ्कल्प प्रकट करने का भाव, विधि और अनुष्ठान वही हैं (जो कि श्रमणेर पद की दीक्षा चाहनेवालों के लिए हैं)। परन्तु श्रमणेर की अवस्था में, विनय-पुस्तकों में दिये हुए बारह विषयों के व्यतिक्रम से अपराध नहीं लगता; किन्तु शिक्षमाणा (स्त्री) के लिए इस नियम के कुछ रूपान्तर हैं। अब वे बारह विषय कौन-कौन से हैं ?

१. (विधिविहित और विधिविरुद्ध) परिधानों (निस्सग्गिया १-१०) में भेद करना चाहिए।

२. कपड़ों के बिना न सोना चाहिए।

३. आग† (सम्भवतः पाचित्तिया ५६) को छूना न चाहिए।

४. बहुत अधिक भोजन न करना चाहिए (पाचित्तिया ३५, ३६ और ३४)।

५. किसी प्राणी की हानि न करनी चाहिए (पाचित्तिया ६१)।

६. हरी घास पर मैल न फेंकना चाहिए (पाचित्तिया ११ और २०)।

७. (प्रयोजन को छोड़कर) कभी प्रमाद से ऊँचे वृक्ष पर न चढ़ना चाहिए।

८. रत्नों को न छूना चाहिए (पाचित्तिया ८४; निस्सग्गिया १८ और १९)।

९. झूठा भोजन न खाना चाहिए (पाचित्तिया ३८)।

१०. भूमि न खोदनी चाहिए (पाचित्तिया ९)।

---

* श्रमणेर बनने के लिए घर छोड़ने (पव्वज्जा) और भिक्षु बनने के लि उपसम्पदा की प्रक्रिया के लिए देखिए महावग्ग १, २८—७६ और Childers, S V

† काश्यप के अनुसार यह खुली भूमि में आग जलाना है।

११. दिये हुए भोजन को लेने से इन्कार न करना चाहिए।

१२. उगती हुई कोंपलों को हानि न पहुँचानी चाहिए।

दो निचली श्रेणियों के लोगों (अर्थात् श्रमणेरों और श्रमणे-रियों) को इन बारह बातों के अनुसार चलने का प्रयोजन नहीं। परन्तु यदि शिक्षमाणा पिछली पाँच बातों (८–१२ तक) का पालन न करेगी तो उन्हें दोष आयगा। इन तीन निम्न श्रेणियों को वर्ष (ग्रीष्म-एकान्त) भी करना पड़ता है।

(स्त्रियों के लिए) छः आवश्यक और छः गौण नियम अन्यत्र दिये गये हैं*। यदि उन्होंने किसी नियम को भङ्ग करने का दोष न किया हो तो वे 'धर्म्मानुकूल आचरण करनेवाली' समझी जा सकती हैं; इस अवस्था मे वे यथोचित रूप से पाँच परिषदों में समा-विष्ट हो सकती और उनके लाभों की भागी हो सकती हैं। जो

---

* विनय-संग्रह अध्याय १२ में स्त्रियों के लिए छः मुख्य और छः गौण नियम दिये हैं—

क छः आवश्यक नियम—

१. स्त्री अकेली यात्रा न करे।
२. स्त्री अकेली नदी पार न करे।
३. स्त्री पुरुष के शरीर का स्पर्श न करे।
४. स्त्री पुरुष के साथ एक ही स्थान में न रहे।
५. स्त्री लोगों की सगाइयाँ कराने का काम न करे।
६. स्त्री किसी भिक्षुणी के किये हुए भारी अपराध को न छिपाये।

ख. छः गौण नियम—

१ स्त्री वह सोना या चाँदी न ले जो उसका अपना नहीं।
२. स्त्री सिर को छोड़कर और किसी स्थान पर बाल न मूँड़े।
३. स्त्री बिना जोती हुई भूमि को न खोदे।
४. स्त्री बढ़ती हुई घास अथवा पेड़ को इच्छापूर्वक न काटे।
५. स्त्री उस भोजन को न खाये जो उसे नहीं दिया गया।
६. स्त्री उस भोजन को न खाये जो एक बार छूआ जा चुका है।

मनुष्य भिक्षु बन गया है (मूलार्थतः 'जिसने घर छोड़ दिया है,) उसे दस शिक्षापद न देना और इस डर से उसे महाशील न बताना कि वह उनका व्यतिक्रम कर देगा, उपाध्याय की भूल है। क्योंकि ऐसी अवस्था मे नव शिष्य (श्रमणेर जिसका अर्थ) 'विश्राम ढूँढ़नेवाला' (है) नाम झूठे ही धारण करता, और (प्रव्रजित, अर्थात् वह मनुष्य) 'जिसने घर छोड़ दिया है' की उपाधि वृथा ही लेता है। ऐसी अवस्थाओं मे भी भिक्षु बनने में बड़ी हानि है चाहे अनेक लोग इसमे भी कुछ लाभ समझते हों। एक सूत्र* मे कहा है—'दस शिक्षा पद प्राप्त किये बिना जिसकी गिनती भिक्षुओं की संख्या मे होती है उसके लिए अस्थायी रूप से ही आसन खुला होता है। वह आसन को किस प्रकार रख और स्थायी (मूलार्थतः, दीर्घ-अवधि) बना सकता है ?'

चीन में सार्वजनिक अभिलेखन-द्वारा भिक्षु बनाया जाता है। केश मुँड़ाने के अनन्तर, मनुष्य कुछ काल तक एक उपाध्याय की शरण में रहता है; न तो उपाध्याय उसे एक भी निषेधात्मक नियम बताने के लिए अपने आपको उत्तरदाता समझता है और न स्वयं शिष्य ही दस शिक्षापदों की शिक्षा के लिए उससे प्रार्थना करता है।

उपसम्पदा पाने के पहले, यदि वह स्वेच्छापूर्वक आचरण करता है तो वह भूल करता है। जिस दिन उसे उपसम्पदा दी जाती है उसी दिन, विनय मे दी हुई क्रियाविधियों के कुछ भी पूर्वज्ञान के बिना, उसे बोधिमण्डल में जाने की आज्ञा होती है। संस्कार के समय वह योग्यता-पूर्वक कैसे काम कर सकता है ? नियमों की रक्षा की यह विधि नहीं। ऐसा मनुष्य कुटीचर भिक्षु बनाये जाने के सर्वथा अयोग्य है। क्या आश्चर्य है कि वह, दूसरों से दान

* यहाँ महापरिनिर्वाण-सूत्र से अभिप्राय है।

लेते हुए भी, भारी ऋण के नीचे दब जाय। शिक्षा के अनुसार, उसे अपने आपको तथा दूसरों को बचाना चाहिए। जो लोग सार्वजनिक अभिलेखन-द्वारा भिक्षु बनते हैं उन्हें उसके विषय में पहले से ही उपाध्याय से पूछ रखना चाहिए। उपाध्याय को चाहिए कि इन कठिनाइयों* के विषय मे (जो अभिलेखन को रोकती हैं) पूछताछ करे, और यदि अर्थी लोग मुक्त और योग्य (मूलार्थतः, स्वच्छ और पवित्र) हों तो उपाध्याय को उन्हे पॉच शिक्षापद बता देने चाहिएँ। अर्थी का सिर मुँड़ा हुआ देखकर उसे उसको पट (एक सादा कंचुक) दे देना, और साथ ही दस शिक्षापद बता देने चाहिएँ।

जब नवशिष्य सभी धर्म्मानुष्ठानों को जान ले और आवश्यक आयु† को पहुँच जाय तब, यदि वह उपसम्पदा पाने का अभिलाषी हो तो, उपाध्याय अपने शिष्य मे उपदेशों पर चलने की इच्छा और दृढ़ मति देखकर, उसके लिए छः परिष्कारों (परिच्छेद १०) का प्रबन्ध करता और नौ दूसरे लोगों‡ को (संस्कार मे भाग लेने के लिए) बुलाता है। यह संस्कार एक छोटे चबूतरे पर, या एक बड़े हाते में या एक स्वाभाविक सीमा के भीतर किया जा सकता है। आँगन में सङ्घ की चटाइयों का उपयोग किया जा सकता है, या प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी चटाई का व्यवहार कर सकता है। धूप और पुष्प बहुत व्यय से तैयार किये जाते हैं। तब अर्थी को प्रत्येक उपस्थित भिक्षु को तीन बार प्रणाम करने, अथवा कभी-कभी प्रत्येक भिक्षु के पास जाकर उसके पैर छूने की शिक्षा दी जाती है। बुद्ध की शिक्षा के अनुसार ये दोनों प्रणाम की प्रक्रियाएँ हैं। इस

---

* उपसम्पदा-लाभ के लिए ये अयोग्यताएँ है। महावग्ग १, ७६।

† काश्यप के अनुसार, बीस वर्ष की आयु। महावग्ग, १, ४९, ५।

‡ काश्यप के अनुसार, सब मिलाकर दस उपाध्याय होने चाहिएँ।

संस्कार के पश्चात् उसे महाशील सीखने की आज्ञा दी जाती है। यह तीन बार कर चुकने पर, उपाध्याय उसे सङ्घ के सामने कपड़े और भिक्षापात्र देता है।

तब अर्थी को भिक्षा-पात्र लेकर चारों ओर घूमना और इसे वहाँ एकत्रित भिक्षुओं में से प्रत्येक को क्रमशः दिखलाना होता है। यदि वह ठीक हो, तो सभी एकत्रित भिक्षु कहते हैं–'अच्छा भिक्षा-पात्र'; यदि वे ऐसा न कहें तो उन्हें धर्म्म के अतिक्रम का दोष लगता है। इसके बाद, अर्थी को व्यवस्था के अनुसार भिक्षा-पात्र ग्रहण करना होता है। तब कर्म करानेवाला आचार्य उसको, पुस्तक पढ़कर जो उसके सामने पकड़कर ऊपर उठा दी होती है, या मुँह मे बोल कर, महाशील देता है; क्योंकि बुद्ध ने दोनों की आज्ञा दी है। महाशील पानेवाला उपसम्पन्न (जिसे उपसम्पदा मिल चुकी है) कहलाता है।

[इ-त्सिङ्ग की टीका]—उपसम्पन्न; उप का अर्थ है 'निकट' और सम्पन्न का 'भरा' या 'पूरा', जिसका अभिप्राय निर्वाण से है। उपसम्पदा पाकर मनुष्य निर्वाण के निकटतर हो जाता है। इस भाव को पुराने अनुवाद मे 'यू-त्सो' (पूर्ण) द्वारा अस्पष्ट रूप से प्रकट किया गया था।

ज्योंही संस्कार समाप्त हो, (उपसम्पदा की तिथि का निश्चय करने के लिए) चटपट सूर्य की छाया को नापना और ऋतु (पाँच होती हैं) का नाम भी लिख लेना चाहिए।

छाया को नापने की रीति यह है। कोई एक हाथ लम्बा लकड़ी का टुकड़ा लो; रोटी खाने की एक पतली छड़ी की तरह, सिरं से चार अङ्गुल पर इसे, बढ़ई के गुनिये के रूप मे, झुकाओ। इसका छोटा सिरा ऊपर को उठा रहे परन्तु साथ ही दूसरा (लम्बा) सिरा छड़ी के लम्बरूप भाग से अलग न होने पावे। मध्याह्न को, जब

छड़ी के लम्बे सिरे को भूमि के साथ रक्खा जाता है, तब इसके लम्बरूप भाग की छाया छड़ी के दिगन्तसम भाग पर पड़ती है। पड़नेवाली छाया को चार अङ्गुल के साथ मापा जाता है। यदि छाया ठीक चार अङ्गुल भर लम्बी हो तो यह माप एक पुरुष (पौरुष)* कहलाता है, और इस प्रकार समय का माप इतने पुरुष या कभी-कभी एक पुरुष और एक अङ्गुल या आध अङ्गुल, या केवल एक अङ्गुल इत्यादि (जब ठीक एक पुरुष के बराबर माप न हो) चलता रहता है। इस रीति में (समय के भेद) अङ्गुलों को मिलाने और घटाने से नापे और समझे जाते हैं।

[इ-त्सिङ्ग की टीका]—पुरुष का अर्थ है 'मनुष्य'; चार अङ्गुल माप की छाया को 'एक-पुरुष' कहने का कारण यह है कि जब लम्बरूप छड़ी, जो स्वयं चार अङ्गुल होती है, की छाया भी दिगन्तसम छड़ी पर लम्बाई में चार अङ्गुल हो, तब भूमि पर पड़नेवाली मनुष्य की छाया उतनी ही लम्बी होती है जितनी कि उस मनुष्य की वास्तविक

---

* पुरुष का अर्थ, माप के रूप में, प्रायः होता है एक मनुष्य की लम्बाई जिसने अपनी बाँहें और उँगलियाँ फैलाई हुई हों। परन्तु इ-त्सिङ्ग के अनुसार इसका अर्थ चार अंगुल (= १/३ वितस्ति = १/६ हस्त) मालूम होता है। इसलिए हमें पुरुष या यदि पारिभाषिक रूप से प्रयोग करें तो, पौरुष का अर्थ चार अंगुल समझना चाहिए। क्या सुखावतीव्यूह (संस्कृत पाठ प्रकरण २१ पृष्ठ ४३) में सप्तपौरुष का अर्थ भी, पारिभाषिक रूप से प्रयुक्त होने से, अट्ठाईस अंगुल है ? बोधिरुचि-कृत चीनी अनुवाद मे सप्तपौरुष के लिए 'सात फुट' लिखा है। गिरे हुए फूल केवल सात व्याम गहरे है, और जब मनुष्य उन पर चलता है तब वे केवल चार इंच (अंगुल) नीचे धँस जाते हैं। सात व्यामों (fathoms) और चार इंचों के बीच के बड़े भेद से हमें विचार होता है कि बौद्ध-धर्म्म में, या कम से कम एक बुद्ध निकाय में, पौरुष का प्रयोग, पारिभाषिक रूप से, जैसा कि इ-त्सिङ्ग कहता है, चार अंगुल के लिए किया गया है। See The Land of Bliss, p. 43, S.B.E., Vol. XLIX.

इस माप का सविस्तर वर्णन मूलसर्वास्तिवादैकशतकर्मन्, भाग १ में मिलता है।

उँचाई। जब लम्बरूप छड़ो की छाया दिगन्तसम छड़ी पर लम्बाई मे आठ अङ्गुल हो, तब भूमि पर पुरुष की छाया उसके शरीर की उँचाई से ठीक दुगनी होगी। यह बात मध्यम परिमाण के पुरुष की है; सब जनों की आवश्यकरूप से नहीं *। इस रीति से और माप भी लिये जाते हैं।

यह बात (कि उपसम्पदा-संस्कार हो चुका है) भोजन के पहले या पश्चात् कह देनी चाहिए। जब अभ्र छाया हो, या रात हो, तब समय का माप उचित रीति से करना चाहिए।

चीन मे प्रचलित रीति के अनुसार, सूर्य की छाया की लम्बा एक ऐसे माप के साथ नापी जाती है जिसकी नोक ऊपर की ओर उठी होती है, या एक (ऐसे यन्त्र का) उपयोग किया जाता है जिस पर बारह घण्टों की बाँट के चिह्न लगे हुए होते हैं। पाँच ऋतुएँ कौन-कौन सी हैं ? जब तक प्रत्यक्ष रूप से किसी से सीखा न जाय, महीनों की बाँट जानना कठिन है, क्योंकि यह भिन्न-भिन्न देशों मे भिन्न-भिन्न है। आर्यदेश (भारत) मे पहले हेमन्त ऋतु होती है, जिसमे चार मास होते हैं, अर्थात् ९वे चन्द्रमा की १६वीं से १ले चन्द्रमा की १५वीं तक। दूसरी वसन्त ऋतु है। इसमें भी चार मास हैं, अर्थात् १ले चन्द्रमा की १६वीं से ५वे चन्द्रमा की १५वीं तक। तीसरी वर्षा ऋतु है, जिसमे केवल एक मास होता है, अर्थात् ५वे चन्द्रमा की १६वीं से ६ठे चन्द्रमा की १५वीं तक। चौथी नाममात्र अन्तिम ऋतु है। यह केवल एक दिन और एक रात, अर्थात् ६ठे चन्द्रमा की १६वीं का दिन और रात है। पाँचवीं 'लम्बी ऋतु' है, अर्थात् ६ठे चन्द्रमा की १७वीं से ९वें चन्द्रमा की १५वीं तक।

---

* इ-त्सिङ्ग का यह कथन सत्य नहीं जान पड़ता। सबके साथ इसका एक जैसा होना ज़रूरी है।

वर्ष का यह विभाग केवल विनय मे है, जैसा कि बुद्ध ने नियुक्त किया है। इस विभाग-पद्धति में व्यक्त रूप से गहरे अर्थ हैं।

रीतियों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रान्तों में तीन* या चार† या छः‡ ऋतुएँ होती हैं। इनका उल्लेख अन्यत्र§ किया गया है। भारत और दक्षिणी सागर के द्वीपों के सभी भिक्षु जब आपस में पहली बार मिलते हैं तब पूछते हैं—'आर्य, आप कितने वर्ष (ग्रीष्म-एकान्त) बिता चुके हैं?' जिससे प्रश्न किया जाता है वह उत्तर देता है—'इतने'। यदि उन्होंने एक समान ही 'वर्ष' बिताये हों तो एक दूसरे से पूछता है कि किस ऋतु मे दीक्षा मिली थी? यदि संयोग से दोनों को एक ही ऋतु मे उपसम्पदा मिली हो तो संलापक फिर पूछता है कि उस ऋतु में कितने दिन रह गये थे। यदि दिनों की संख्या अब भी उतनी ही हो तो एक दूसरे से पूछता है कि उस दिन तुम्हें भोजन से पहले उपसम्पदा मिली थी या उसके पीछे। यदि दोनों को उसी दिन पूर्वाह्न को मिली हो तो छाया की लम्बाई पूछी जाती है; यदि इसमें भेद हो तो दोनों में से एक की ज्येष्ठता का निश्चय हो जाता है। परन्तु यदि छाया एक समान हो तो उनमें

---

* ऋतुओं का साधारण विभाग तीन ऋतुओं मे है—हेमन्त, वसन्त और ग्रीष्म। काश्यप उनके अनुरूप मास चीनी में इस प्रकार देता है—हेमन्त, ८वें चन्द्रमा की १५वीं से १२वें चन्द्रमा की १५वी तक; वसन्त, १२वें चन्द्रमा की १६वीं से ४थे चन्द्रमा की १५वीं तक, ग्रीष्म, ४थे की १६वीं से ८वें चन्द्रमा की ४थी तक।

† चार ऋतुएँ ह्वेन-त्सांग (Julien, Memoires, Liv. ii, p. 63) में दी गई है।

‡ ह्वेन-त्सांग मे छः ऋतुएँ भी दी है। (Julien Memoires, Liv. ii, p 62)। वे ये हैं—शिशिरः, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षाः, शरत, हेमन्त।

§ 'अन्यत्र' से शायद उसका अभिप्राय ह्वेन-त्सांग(Hiuen-Thsang), सि-यू-की से था। हर सूरत मे काश्यप का मत यही है।

कोई भेद नहीं होता। इस अवस्था मे स्थानों का क्रम पहले आनेवालों के अनुसार निश्चित किया जाता है, या कर्मदान उन्हें अपना निर्णय आप ही कर लेने देता है। जो लोग भारत को जायँ उन्हें ये बातें अवश्य पूछनी चाहिएँ। यह चीन की रीति से कुछ भिन्न है। चीन मे भिक्षु लोग केवल उपसम्पदा की तिथि ही बताते हैं। परन्तु नालन्द-विहार में भिक्षुओं को 'लम्बी ऋतु' के पहले दिन, प्रायः तड़के ही—जब अभी पौ फटने ही लगती है—उपसम्पदा दी जाती है। उनका तात्पर्य उन लोगों में ज्येष्ठता का दावा करने से होता है जिनको एक ही ग्रीष्म मे उपसम्पदा मिली हो। यह चीन के ६ठे चन्द्रमा के १७वें दिन का तड़का होता है; (वे इसलिए ऐसा करते हैं क्योंकि फिर) वे दूसरा 'वर्ष'* नहीं प्राप्त कर सकते।

इ-त्सिङ्ग की टीका—यह बाँट भारत के 'वर्ष' के अनुरूप है। यदि हम चीन की प्राचीन रीति का अनुकरण करें तो दूसरा वर्ष ५वें चन्द्रमा के १७ वें दिन होगा।

यदि मनुष्य उस समय उपसम्पदा लाभ करता है जब कि ६ठे चन्द्रमा के १६वें दिन की रात (अर्थात् दूसरे वर्ष का आरम्भ होने के एक दिन पहले) समाप्त होने को होती है, तो वह उस ग्रीष्म में दीक्षा पानेवाले लोगों में सबसे छोटा होगा। (जब मनुष्य को ६ठे चन्द्रमा के १७वे दिन के उषःकाल में, अर्थात् दूसरे वर्ष के आरम्भ मे, उपसम्पदा मिलती है तो) वह दूसरा वर्ष भी लाभ

---

* एक साल में दो वर्ष (ग्रीष्म-एकान्त) होते हैं; पहला ५वें चन्द्रमा के कृष्ण पक्ष के पहले दिन आरम्भ होकर ८वें चन्द्रमा के मध्य में समाप्त होता है; और दूसरा ६ठे चन्द्रमा के कृष्ण पक्ष के पहले दिन आरम्भ होकर ९वें चन्द्रमा के मध्य में समाप्त होता है (देखो परिच्छेद १४)। यदि किसी को ६ठें चन्द्रमा की १७वीं को, अर्थात् दूसरे ग्रीष्म के आरम्भ मे उपसम्पदा मिले तो वह दूसरे और पहले दोनों वर्षों के निवास का दावा कर सकता है। तड़के का समय चुनने का अर्थ भी जल्दी उपसम्पदा लेना है।

करता है, और इसलिए उसे उपसम्पदा के अनन्तर, अपने उपाध्यायों के अतिरिक्त जिन्हें कुछ न कुछ—चाहे वह तुच्छ हो या बहुत ज़ियादह—अवश्य देना चाहिए, दूसरों को कुछ भी भेंट देने का प्रयोजन नहीं। कोई कटिबन्ध या चालनी जैसी चीज़ लाकर अमोघ कृतज्ञता प्रकट करने के लिए उन उपाध्यायों की भेंट करनी चाहिए जो उपसम्पदा के स्थान पर उपस्थित हों (और उसमें भाग लेते हों)। तब उपाध्याय प्रातिमोक्ष के विषय को प्रकाशित करके अर्थी को अपराधों का स्वरूप और सूत्रों के बोलने की रीति सिखाता है।

इनको सीख लेने के अनन्तर, अर्थी बड़े विनय-पिटक को पढ़ना आरम्भ करता है। वह उसे प्रति दिन पढ़ता है, और प्रति दिन सबेरे उसकी परीक्षा होती है, क्योंकि यदि वह निरन्तर इस पर न लगा रहे तो उसकी मानसिक शक्ति नष्ट हो जायगी। विनय-पिटक पढ़ चुकने के पश्चात् वह सूत्र और शास्त्र सीखना आरम्भ करता है। भारत में उपाध्यायों की अध्यापन-शैली ऐसी ही है। यद्यपि महामुनि को हुए बहुत दीर्घ काल बीत चुका है, तो भी ऐसी रीति अब तक निर्विघ्न जारी है। ये दो उपाध्याय और कर्माचार्य,* माता-पिता के सदृश हैं। जिस मनुष्य ने उपसम्पदा की प्राप्ति के लिए असाधारण परिश्रम किया हो, उसके लिए उपसम्पदा पाने के अनन्तर उपदेशों पर ध्यान न देना क्या उचित हो सकता है?

निस्सन्देह यह खेद का विषय है कि ऐसे आरम्भ का कोई सन्तोष-जनक अन्त न हो। कुछ लोग ऐसे हैं जिन्होंने अपने उपाध्यायों को पहली बार मिलने पर, उपसम्पदा-प्राप्ति की इच्छा प्रकट करने के अनन्तर, उपसम्पदा के पीछे फिर कभी अपना मुँह नहीं दिखाया; न वे उपदेशों की पुस्तक पढ़ते हैं न विनय-ग्रन्थों को

* इन दो शिक्षकों के लिए देखिए महावग्ग १, ३२।

ही खोलते हैं; ऐसे मनुष्यों को वृथा ही भिक्षु बनाया गया है। वे अपने लिए तथा दूसरों के लिए भी हानिकर हैं। इस प्रकार के लोग धर्म्म का नाश करते हैं।

भारतीय भिक्षुओं की पदवियाँ (मूलार्थतः, अनुष्ठान के नियम) निम्नलिखित हैं। उपसम्पदा की दीक्षा के अनन्तर, भिक्षु च-गा-र (अर्थात् दहर) कहलाता है, जिसका अनुवाद 'छोटा उपाध्याय' किया जाता है। और जिन्होंने दस 'वर्ष' पूर्ण रूप से बिता लिये हो वे 'स्थविर' कहलाते हैं, जिसका अनुवाद 'अचल स्थिति' किया गया है, क्योंकि स्थविर किसी शिक्षक की रक्षा के अधीन रहे बिना अपने आप रह सकता है। वह उपाध्याय भी बन सकता है।

पत्रों या निवेदन मे मनुष्य श्रमणेर न-न, दहर (छोटा) भिक्षु न-न, या स्थविर भिक्षु न-न, लिखता है; परन्तु यदि मनुष्य धार्मिक और सांसारिक दोनों साहित्यों का पण्डित हो और धर्मात्मा प्रसिद्ध हो तो उसे अपने आपको बहुश्रुत न-न कहना चाहिए। किसी को अपने आपको सङ्घ न-न, नहीं कहना चाहिए (जैसा कि लोग चीन में करते हैं); क्योंकि सङ्घ तो भिक्षुओं के सारे समाज का नाम है। तब एक व्यक्ति अपने आपको सङ्घ, जिसमें मनुष्यों (भिक्षुओं) की चार श्रेणियाँ होती हैं, कैसे कह सकता है? भारत मे अपने आपको सङ्घ कहने की (जैसा कि चीन में है) कोई रीति नहीं है।

जो मनुष्य उपाध्याय बनता है उसके लिए स्थविर होना और पूरे दस वर्ष (ग्रीष्म-एकान्त) बिता चुकना आवश्यक है। कर्माचार्य और स्वकीय शिक्षक, और अन्य अध्यापकों की आयु— जो कि साक्षी होते हैं—परिमित* नहीं; वे आप पवित्र हों, विनय के पूर्ण

* मूल चीनी पाठ में जब तक थोड़ा सा परिवर्तन न किया जाय, उसका अर्थ यहाँ ठीक नहीं बैठता।

ज्ञाता हों, और पूरी या आधी संख्या* में हों। विनय में कहा है कि 'जो लोग ऐसे मनुष्य को जो वास्तव मे उपाध्याय नहीं उपाध्याय, और जो आचार्य नही उसे आचार्य, या इससे उलटा, कहते हैं, और जो लोग उपाध्याय होते हुए उपाध्याय कहलाने से इन्कार करते हैं, वे दूसरों को मलिन करने के दोषी हैं।'

जब कोई मनुष्य दूसरे से पूछे—'तुम्हारे उपाध्याय का क्या नाम है?' या 'तुम किसके शिष्य हो?' और जब मनुष्य ने अवस्थाओं के कारण अपने उपाध्याय का नाम बताना उचित समझा हो, तब उसे इस प्रकार कहना चाहिए—मैं तुम्हें 'वर्तमान अवस्थाओं में अपने उपाध्याय का नाम बताता हूँ; उनका नाम न-न है।' यहाँ सर्वनाम 'मैं'† के प्रयोग पर आश्चर्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि भारत और दक्षिणी सागर के टापुओं मे 'मैं' का उच्चारण कोई अहङ्कार का शब्द नहीं। दूसरों को 'तुम' कहना भी अशिष्ट भाषा नहीं।

इसका प्रयोजन एक का दूसरे से केवल भेद करना है, और चीन की रीति के सर्वथा विपरीत—जिसमें "मैं" और "तुम" का प्रयोग अशिष्ट और आचार-विरुद्ध समझा जाता है—इन शब्दों मे अहङ्कार का भाव बिलकुल नहीं होता। यदि मनुष्य अब तक "मैं" के प्रयोग को पसन्द न करता हो तो वह 'मैं' के स्थान में 'अब' का व्यवहार कर सकता है। ये बातें बुद्ध की शिक्षा के अनुकूल हैं और भिक्षुओं को इन पर आचरण करना चाहिए।

---

* मूलार्थतः—"मध्यम या अत्यन्त संख्या मे पूरा।" काश्यप कहता है कि पाठ के एक अंश का अर्थ संख्या मे दस और दूसरे का संख्या में पाँच है, परन्तु वे 'मध्यम' और 'अत्यन्त' क्यों कहलाते है इसका हमें पता नहीं।

† चीन में आदर की भाषा मे "मैं" और "हम" का प्रयोग अच्छा नहीं समझा जाता, वरन् उनके स्थान में दूसरी संज्ञाओं—जैसे कि 'सेवक', 'दास' या 'मनुष्य के प्रकृत नाम'—का व्यवहार किया जाता है।

अन्धों के लम्बे ताँते को काले और सफ़ेद (अर्थात् सच और झूठ) के साथ मत जोड़ो।

वे श्वेताम्बर लोग (सामान्य भक्तजन) जो भिक्षु के मकान पर आते, और मुख्यत: बौद्ध-धर्म्म-ग्रन्थ इस उद्देश्य से पढ़ते हैं कि वे एक दिन सिर मुँड़े और काले कपड़ोंवाले बन जायँ, 'बच्चे' (मानव) कहलाते हैं। जो लोग (भिक्षु के पास आकर) केवल सांसारिक साहित्य ही पढ़ना चाहते हैं, और उनकी संसार को छोड़ने की कुछ भी इच्छा नहीं होती, वे ब्रह्मचारिन् कहलाते हैं। मनुष्यों के इन समूहों को (विहार में रहते हुए भी) अपने व्यय पर निर्वाह करना होता है।

[इ-त्सिङ्ग की टीका]—भारत के विहारों में ऐसे ब्रह्मचारी अनेक हैं जो भिक्षुओं के सिपुर्द हैं और उनसे सांसारिक विद्या की शिक्षा पाते हैं।

एक ओर तो ब्रह्मचारी भिक्षुओं को परिचर का काम देते हैं, और दूसरी ओर शिक्षा से धार्मिक अभिलाषा उत्पन्न होती है। इसलिए उन्हें रखना बहुत अच्छा है, क्योंकि इससे दोनों पक्षों को लाभ है। इसका मूल्य 'धूत' द्वारा, बिना किसी कष्ट के, प्राप्त किया हुआ दान का एक कटोरा है। यदि उनकी सेवा को केवल लाभ ही गिना जाय तो भी वे उपयोगी हैं। वे दातनें लायें और भोजन खिलायें। वर्तमान आवश्यकता को पूरी करने के लिए यही पर्याप्त है। हर सूरत में यह कोई बुरी रीति नहीं।

इन ब्रह्मचारियों को सङ्घ की स्थायी सम्पत्ति से भोजन नहीं दिया जाना चाहिए, क्योंकि बुद्ध की शिक्षा मे इसका निषेध है परन्तु यदि उन्होंने सङ्घ के लिए कोई भारी काम किया हो तो उनकी योग्यता के अनुसार उन्हें विहार से भोजन मिलना चाहिए।

साधारण प्रयोजनों के लिए बनाया हुआ या ब्रह्मचारियों के उपयोग के लिए दानी का दिया हुआ भोजन ब्रह्मचारियों को देने मे कोई दोष नहीं।

बुद्ध की छाया नाग नदी से लोप हो गई है, और उसके तेज की ज्योति गृध्रकूट से अन्तर्धान हो गई है; हमारे पास कितने अर्हत ऐसे हैं जो पवित्र धर्म्म का उपदेश दे सकते हैं ?

एक शास्त्र मे इस प्रकार कहा है—'जब महाकेसरी ने अपनी आँखें बन्द कीं तब सारे साक्षी भी एक दूसरे के पश्चात् चले गये। संसार और भी अधिक विकार से मैला हो गया। मनुष्य को (नैतिक विनय का) उल्लङ्घन किये बिना अपने विषय मे चौकस रहना चाहिए।'

सभी धर्म्मपरायण लोगों को धर्म्म की रक्षा में मिल जाना चाहिए। परन्तु यदि तुम, आलसी और निरुद्योग होने से, मानवी प्रवृत्ति को कार्य करने दोगे तो तुम मानवों और देवों को क्या करोगे जिनका नेतृत्व तुम्हारे सिपुर्द है ?

विनय में कहा है—'जब तक कर्माचार्य है, मेरे धर्म्म का नाश न होगा। यदि कर्म (नियमों) को रखने और संभालनेवाला कोई न होगा तो मेरे धर्म्म का अन्त हो जायगा।' यह भी कहा है—'जब तक मेरे उपदेश विद्यमान हैं, मैं जीता हूँ।' ये ख़ाली बातें नहीं, वरन् इनमे गहरे अर्थ हैं, इसलिए इनका यथायोग्य सम्मान होना चाहिए। फिर मैं इसी को कविता में प्रकट करता हूँ—

गुरुदेव की छाया लोप हो गई है, और धर्म्म के प्रधान उच्चपदस्थ लोग भी हमारे पास से चले गये हैं। नास्तिक लोग पर्वत के समान ऊँचे खड़े हैं, और उपकारशीलता की छोटी पहाड़ी भी नष्ट हो रही है।

सूर्य-सदृश बुद्ध की प्रभा की रक्षा करना वास्तव में धर्म्मात्माओं और बुद्धिमानों का काम है। यदि मनुष्य सङ्कीर्ण मार्ग पर चलता है तो वह बड़े मार्ग की शिक्षा कैसे दे सकता है? सौभाग्य से (सुधर्म्म) चतुर लोगों को दिया गया है जिन्हें इसको परिश्रम से उन्नत करना है।

आशा की जाती है कि मनुष्य धर्म्म को न केवल मलिनता से बचाकर वरन् इसके सौरभ को दूर-दूर के युगों तक फैलनेवाला बनाकर, इसका प्रचार और सञ्चार करेगा। 'धर्म्म को और भी अधिक सुवासित बनाने' का क्या तात्पर्य है? यह शील-सागर मे तरङ्ग उत्पन्न करना है। इस प्रकार बुद्ध की शिक्षा, यद्यपि यह पहले ही समाप्ति के निकट पहुँच चुकी है, समाप्त न हो जाय, और धर्म्म का अनुष्ठान—यद्यपि इसे भ्रमों से प्रायः हानि पहुँच चुकी है—अनुचित न हो जाय। हमें अपने अनुष्ठान को राजगृह मे दी हुई यथार्थ शिक्षा के अनुकूल बनाना, और जेताराम में बताई हुई पवित्र विनय की बात पर आने का यत्न करना चाहिए।

बीसवाँ परिच्छेद

उचित समयों पर स्नान

अब मैं स्नान की रीति का वर्णन करूँगा। भारत का स्नान चीन के स्नान से भिन्न है। वहाँ सब ऋतुओं में, दूसरे प्रदेशों से कुछ-कुछ भिन्न, मौसम परिमित रहता है। फूल और फल सदा, यहाँ तक कि बारहवें मास में भी, रहते हैं। हिम और बर्फ़ का नाम तक नहीं। कुहरा पड़ता है पर बहुत हलका। यद्यपि (विशेष-ऋतुओं मे) गरमी होती है, पर ताप बहुत प्रचण्ड नहीं होता; और गरम से गरम मौसम में भी लोग 'चुभनेवाली गरमी' से कष्ट नहीं पाते। जब बहुत सरदी होती है तब उनके पैर नहीं फटते, क्योंकि वे बार-बार नहाते-धोते रहते हैं, और शरीर की पवित्रता पर बहुत ध्यान देते हैं। अपने दैनिक जीवन में वे स्नान किये बिना नहीं खाते।

तालाबों में सब कहीं जल बहुतायत से है। तालाब* बनाना पुण्य समझा जाता है। यदि हम केवल एक ही योजन जायँ तो हमें बीस-तीस नहाने के घाट दिखाई देंगे। उनके परिमाण भिन्न-भिन्न हैं, कोई एक मोउ (या लगभग ७३३½ वर्ग गज़) हैं और कोई पाँच मोउ। तालाब के चारों ओर शाल के वृक्ष लगाये जाते हैं, जो कोई चालीस-पचास फुट ऊँचे होते हैं। इन सब तालाबों को वर्षा-जल से भरा जाता है, और ये शुद्ध नदी की तरह

---

* तुलना कीजिए सी-यू-की, जहाँ दो ब्राह्मण भाइयों ने महेश्वर देव की आज्ञा के अनुसार, पुण्य कमाने के लिए एक विहार बनवाया और तालाब खुदवाया था। Julien, Memoires, Liv. viii, p. 466.

निर्मल होते हैं। आठ चैत्यों* मे से प्रत्येक के निकट एक-एक तालाब है जहाँ जगद्वन्द्य (बुद्ध) स्नान किया करते थे। इन तालावों का जल, दूसरे तालावों के जल से भिन्न, बहुत ही शुद्ध है।

नालन्द विहार के निकट दस से अधिक बड़े-बड़े तालाब हैं, और प्रतिदिन सबेरे भिक्षुओं को स्नान-काल का स्मरण कराने के लिए एक घण्टी बजाई जाती है। प्रत्येक मनुष्य अपने साथ स्नान के लिए अँगोछा लाता है। कभी-कभी सौ, कभी-कभी एक सहस्र

---

* आठ चैत्य ये है—

१. बुद्ध के जन्म-स्थान मे लुम्बिनी-आराम, कपिलवस्तु, में।

२. मगध में निरञ्जना नदी के समीप बोधि-वृक्ष के नीचे, जहाँ बुद्धत्व प्राप्त हुआ था।

३. काशियों के देश के अन्तर्गत वाराणसी (बनारस) में, जहाँ बुद्ध ने पहले पहल अपने धर्म का प्रचार किया था।

४. जेताराम, श्रावस्ती, में जहाँ बुद्ध ने अपनी बड़ी अलौकिक शक्तियाँ दिखलाई थीं।

५. कान्यकुब्ज (कनोज) में, जहाँ बुद्ध त्रयस्त्रिंश स्वर्ग से उतरा था।

६. राज-गृह में, जहाँ शिष्यों में बाँट हो गई थी, और बुद्ध ने उन्हें तदनुसार शिक्षा दी थी।

७. वैशाली में, जहाँ बुद्ध प्रायः आयु भर उपदेश देते रहे।

८. कुशिनगर में शाल वृक्षों की बड़ी पंक्ति मे, जहाँ बुद्ध निर्वाण को प्राप्त हुए थे। उपर्युक्त नाम इनमें पाये जाते हैं—(१) जिउन काश्यप की टीका; (२) मूलसर्वास्तिवादनिकाय विनय-सम्युक्तवस्तु, खण्ड ३८. इत्सिङ्ग-द्वारा सन् ७१० ई० मे अनुवादित (Nanjio's Catalogue No. 1121), (३) महाराज शीलादित्य रचित अष्टमहाचैत्यस्तोत्र (Nanjio's Catal. No. 1071); (४) 'आठ चैत्यों के नामों पर स्तोत्र' में (Nanjio's Catal. No. 898)। तुलना कीजिए आठ स्तूप, महापरिनिब्बान-सुत्त ६, ५१-६२ (पृष्ठ १३१-१३५)।

(भिक्षु) इकट्ठे विहार से निकलते हैं, और इन तालाबों की ओर सब दिशाओं में जाकर सबके सब स्नान करते हैं।

अँगोछे के विषय में नियम इस प्रकार है—पाँच फुट लम्बा और डेढ़ फुट चौड़ा एक नर्म कपड़े का टुकड़ा लेकर उसे (अन्तरीय के ऊपर) शरीर के गिर्द लपेटो। अन्तरीय को खोलकर बाहर निकाल लो, और अँगोछे के दोनों सिरों को सामने ले आओ। तब बायें सिरे के ऊपरी कोने को दायें हाथ से पकड़ो, और उसे कमर की ओर ऊपर को खींचकर शरीर से छूने दो; इसे अँगोछे के दायें सिरे के साथ जोड़ दो; और दोनों को मरोड़कर, उन्हें कपड़े और शरीर के बीच खोंस दो। अँगोछा पहनने की यही रीति है। सोते समय अन्तरीय पहनने का भी यही नियम है। जब मनुष्य स्नान-घाट से बाहर आने को हो तब उसे अपने शरीर को हिलाना और पानी से बहुत धीरे-धीरे बाहर निकलना चाहिए, ताकि कहीं कपड़े के साथ लगे हुए कुछ कीड़े न बाहर निकल आयें। (जल से निकलकर) किनारे पर आने की रीति के विषय में नियम विनय-ग्रन्थों* में दिये गये हैं। तालाव गये बिना, विहार मे ही स्नान करने की अवस्था में, अँगोछा उसी प्रकार ही बाँधा जाता है, परन्तु जल दूसरा मनुष्य डालता है, और स्नान के लिए उस स्थान के गिर्द एक घेरा बनाना पड़ता है।

जगत्-पूज्य ने स्नानागार बनाने, खुले स्थान मे ईंटों का तालाब निर्माण करने, और रोग-शान्ति के लिए औषधीय स्नान तैयार करने की विधि बताई है। कभी वे सारे शरीर पर तेल की

* मूलसर्वास्तिवादनिकाय-सम्युक्तवस्तु, खंड ५, (Nanjio's Catal., No. 1121), और विनय-संग्रह खण्ड १२ (Nanjio's Catal. No. 1127) में।

मालिश करने, कभी प्रतिदिन रात को पैरों को, या प्रति दिन सवेरे सिर को तेल मलने की आज्ञा देते थे; क्योंकि यह क्रिया नेत्रों की दृष्टि को साफ़ और शीत को दूर रखने के लिए बहुत अच्छी है।

इन सब बातों के विषय मे हमारे पास धार्मिक प्रमाण है। वह इतना बृहदाकार है कि यहाँ वह पूर्ण रूप से बताया नहीं जा सकता। विनय-पुस्तकों* मे इसका सविस्तर वर्णन है। फिर, स्नान सदा उस समय करना चाहिए जब मनुष्य भूखा हो। स्नान के अनन्तर भोजन करने से दो प्रकार के लाभ होते हैं। पहले, सब प्रकार के मैल से मुक्त होने के कारण शरीर शुद्ध और ख़ाली हो जाता है। दूसरे, भोजन भली भाँति पच जायगा, क्योंकि स्नान से मनुष्य कफ और भीतरी इन्द्रियों के रोगों से मुक्त हो जाता है। अच्छे भोजन (मूलार्थतः, बहुत सा खाने) के पश्चात् नहाना चिकित्सा-शास्त्र मे निषिद्ध है। इसलिए हम देख सकते हैं कि (चीनी) कहावत—'जब भूख लगी हो तब केश धोवो, परन्तु भोजन के बाद स्नान करो'—प्रत्येक देश मे ठीक नहीं बैठती। जब केवल तीन फुट लम्बा अँगोछा (जैसी कि चीन मे सामान्य रीति है) पहना जाय तब यह, बहुत छोटा होने के कारण, लज्जा को नहीं ढाँक सकता। बिना किसी वस्त्र के स्नान करना बुद्ध की शिक्षा के विपरीत है। लोगों को एक ऐसे कपड़े के बने हुए स्नान-परिधान का उपयोग करना चाहिए जिसकी लम्बाई उसकी चौड़ाई से चौगुनी हो; तब यह समुचित रीति से शरीर को ढक सकता है। ऐसी रीति न केवल बुद्ध की श्रेष्ठ शिक्षा के साथ पूर्ण रूप से एकतान है, वरन् मानवों और देवों के सामने लज्जा भी उत्पन्न नहीं करती। दूसरी

---

* स्नानागार बनाने के नियमों के लिए देखिए मूलसर्वास्तिवादनिकाय-सम्युक्तवस्तु, खण्ड ३ (Nanjio's Catal. No. 1121), और चतुर्वर्ग-विनय-पिटक (Nanjio's Catal. No. 1117)।

बातों के उचित या अनुचित होने के विषय में बुद्धिमानों को सावधानी से आप निर्णय कर लेना चाहिए।

रात्रि-स्नान में भी मनुष्य को उचित रीति का परित्याग न करना चाहिए; तब लोगों की आँखों के सामने मनुष्य को अपने शरीर को कितना अधिक ढकना चाहिए!

इक्कीसवाँ परिच्छेद

बैठने की चटाई के विषय में

भारत के पाँच खण्डों मे पूजा करते समय बैठने के लिए न तो चटाई का उपयोग करने की कोई रीति ही है और न चार निकायों नियमों मे खड़े होकर दूसरों को तीन बार प्रणाम करने का कोई उल्लेख है। पादवन्दन के साधारण नियम दूसरे परिच्छेदों (परि० २५ तथा ३०) में मिलेंगे। बैठने या लेटने (निषीदन) के लिए चटाई बनाते समय एक कपड़े को (दो मे) काटकर टुकड़ों को एक दूसरे के ऊपर रक्खा और टाँक दिया जाता है। थेगलियाँ (या झालर) चटाई के साथ जोड़ दी जाती हैं। इसके परिमाण*

---

* काश्यप चटाई का नक़शा देता और कहता है—'इसकी लम्बाई बुद्ध की दो वितस्ति और इसकी चौड़ाई बुद्ध की डेढ़ वितस्ति है। क्योंकि बुद्ध की उँगलियाँ हमारी उँगलियों से दूनी लम्बी थीं, इसलिए लम्बाई कोई ४ फुट ४ इंच, और चौड़ाई ३ फुट ३$\frac{3}{4}$ इंच होगी। चटाई के एक-तिहाई भाग की तली पर झालर लगी होती है। पूज्य उदायी बहुत लम्बा था; जिस माप की उस समय आज्ञा थी उसकी चटाई बहुत छोटी थी, और उसके पैर किनारे से बाहर निकल जाते थे। अतएव वे पैर रखने के लिए कुछ पत्ते लाये। बुद्ध ने यह देख माप को बढ़ा दिया। इसलिए पत्ते दिखलाने के लिए बढ़ाये हुए भाग पर सदा झालर या थेगलियाँ लगा देनी चाहिएँ।' इसलिए भिक्षुओं में यह रीति अवश्य ही महत्त्वपूर्ण समझी जाती होगी, क्योंकि वैशाली के वज्जी भिक्षुओं-द्वारा प्रकाशित दस प्रबन्धों मे से एक यह था कि 'यदि कम्बल या चटाई को झालर न हो तो उसका निर्दिष्ट परिमित परिमाण का होना आवश्यक नहीं' [देखो चुल्लवग्ग १२, १.१ (६)]। तुलना करो पातिमोक्ख, पाचित्तिया ८९।

का यहाँ सूक्ष्म वर्णन देने के लिए मेरे पास समय नहीं। इसका उपयोग दूसरे के गद्दैले की रक्षा के लिए किया जाता है, जब मनुष्य उस पर सो रहा हो। जब मनुष्य दूसरे की किसी वस्तु का उपयोग करे तब, वह वस्तु नई हो चाहे पुरानी, उसे उस पर (अपनी चटाई) बिछा लेनी चाहिए। परन्तु यदि वस्तु मनुष्य की अपनी हो और पुरानी हो तो उसे (दूसरी चटाई के) उपयोग का प्रयोजन नहीं। परन्तु भिक्षु को भक्तजन के दिये हुए दानों को मैला करके नष्ट न करना चाहिए। प्रणाम करते समय बैठने की चटाई का उपयोग नहीं किया जाता।

दक्षिणी सागर के द्वीपों के भिक्षु तीन या पाँच फुट लम्बा कपड़ा, रूमाल की तरह दुहरा करके, रखते हैं और प्रणाम करते समय घुटने टेकने के लिए इसका उपयोग करते हैं। चलते समय वे इसे कन्धे पर रख लेते हैं। जब कभी भारतीय भिक्षु इन द्वीपों मे आते हैं तब वे इस रीति को देखकर मुस्कराये बिना नहीं रह सकते।
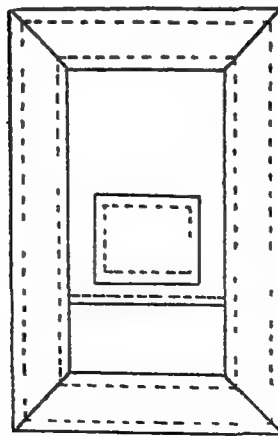
मूलसर्वास्तिवादिन् का निषीदन।

बाईसवाँ परिच्छेद

निद्रा और विश्राम के नियम

भारत मे (विहार की) कोठरियाँ लम्बी-चौड़ी नही होती, और निवास करनेवाले बहुत होते हैं, इसलिए सोनेवालों के उठ जाने पर पलँग उठवा दिये जाते हैं। या तो उन्हें कमरे के एक कोने मे अलग रख दिया जाता है या कमरे से बाहर निकाल दिया जाता है। पलँग की चौड़ाई दो हस्त (= ३ फुट) और उसकी लम्बाई चार हस्त (= ६ फुट) होती है। चटाई इसी परिमाण की बनाई जाती है, और भारी नहीं होती। (कोठरी का) फ़र्श गाय का सूखा गोबर छितरा कर साफ़ किया जाता है। फिर कुरसियाँ, लकड़ी के फलक, छोटी चटाइयाँ, इत्यादि सिलसिले से रक्खी जाती हैं। तब साधारण रूप से भिक्षुगण अपनी-अपनी पदवी के अनुसार बैठते हैं। आवश्यक बर्तन आलों* मे रख दिये जाते हैं।

वहाँ (चीन के समान) पलँग को कपड़े के साथ ओट करने की कोई रीति नहीं। क्योंकि यदि मनुष्य एक कोठरी में दूसरों के साथ सोने के अयोग्य हो तो उसे सोना नहीं चाहिए। और, यदि सभी समान रूप से योग्य हैं तो एक अपने आप को दूसरों से क्यों छिपाये† ? सङ्घ के बिछौने का उपयोग करते समय,

---

* पलँग इत्यादि, के लिए देखिए चुल्लवग्ग ८, १, ४.

† मेरा अनुवाद जिउन कास्यप की टीका के आधार पर है। ऐसा नवशिष्य, जिसने अभी उपसम्पदा प्राप्त नहीं की, उपसम्पदा-प्राप्त लोगों के साथ एक कोठरी में सोने के अयोग्य है।

शरीर और बिछौने के बीच कुछ रख लेना चाहिए; और इसी प्रयोजन के लिए चटाई (निषीदन) का उपयोग किया जाता है। यदि मनुष्य इस नियम का पालन नहीं करता तो उसे 'काली पीठ'* रूपी प्रतिफल भोगना पड़ेगा। इस विषय मे बुद्ध की कड़ी आज्ञाएँ हैं, और हमे इस विषय मे बहुत सावधान होना चाहिए।

दक्षिण सागर के दस द्वीपों और भारत (मूलार्थतः, पश्चिम) के पाँच खण्डों मे, लोग सिर को ऊँचा करने के लिए काठ के बालिश का उपयोग नहीं करते। यह रीति केवल चीन में ही है।

बालिश-कोशों को बनाने की रीति प्रायः सारे पश्चिम मे एक सी है। कपड़ा रेशम या पटुवे का होता है; रंग अपनी-अपनी पसन्द के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। इसे सीकर एक हस्त लम्बा और आधा हस्त चौड़ा एक चतुष्क थैला बना लिया जाता है। बालिश में कोई भी योग्य घरेलू उपज भर दी जाती है, जैसा कि ऊन, सन के टुकड़े (या रद्दी पटुआ), दूब (Typha latifolia) (पू), बेंत के झोंपे, नरकट (ती), (तिआओ), (Tecoma grandiflora), कोमल पत्तियाँ, सूखे हुए पतिङ्ग, कान-सीपी (चूएह-मिङ्ग अर्थात् Haliotis), सन या लोमिया; गरम या शरद ऋतु के अनुसार यह ऊँचा या नीचा बनाया जाता है, उद्देश्य सुख पाना और अपने शरीर को विश्राम देना है।

---

* मूलसर्वास्तिवादैकशतकर्मन् में लिखा है—"बुद्ध ने कहा कि भिक्षुओ को सङ्घ के बिछौने की सामग्री का उपयोग उस पर कुछ रखे बिना न करना चाहिए। फिर उसने एक 'काली पीठ' वाले मनुष्य की ओर संकेत करके आनन्द से कहा कि यह मनुष्य काश्यप नामक पहले बुद्ध के अधीन एक भिक्षु था, परन्तु यह सङ्घ की बिछौने की सामग्री का उपयोग, बीच में कोई उचित वस्तु रक्खे बिना करने के कारण नरक में गिर पड़ा। वह ५०० बार काली पीठ के साथ उत्पन्न हुआ था।"

वास्तव में इसके कठोर होने का कोई डर नहीं। परन्तु लकड़ी का तकिया कठोर* और खड़खड़ा होता है। इससे गर्दन के नीचे से पवन गुज़र जाती है, और बहुधा सिर मे पीड़ा होने लगती है। परन्तु देश के अनुसार रीतियों मे भेद है; मैं यहाँ केवल वही वर्णन कर रहा हूँ जो कि मैंने एक पराये देश मे सुना है। इसलिए, इसका पालन करना चाहिए या नहीं, इसका निर्णय मनुष्य अपनी प्रवृत्ति से करें। परन्तु गरम चीज़ें सरदी से बचाती हैं और सन या लोमिये, बहुत गुणकारी होने के अतिरिक्त, नेत्र-दृष्टि के लिए अच्छे हैं। इसलिए, ऐसी वस्तुओं का उपयोग करने मे कोई भूल नहीं कही जा सकती। ठण्डे देश में यदि कोई अपना सिर नङ्गा रक्खे तो प्रायः ठण्ढ (या कड़ा ज्वर) लग जाती है। हेमन्त के महीनों मे सर्दी इसी कारण होती है। यदि उचित समयों† पर मनुष्य सिर को गरम रक्खे तो कोई कष्ट या रोग न होगा। (चीन की) कहावत, 'सिर ठण्ढा और पैर गरम', पर सदा भरोसा नहीं किया जा सकता।

जिन कमरों में भिक्षु रहते हैं वहाँ कभी-कभी, एक खिड़की में या विशेष रूप से बनाये हुए आले मे, एक पवित्र प्रतिमा स्थापित की जाती है। भोजन करते समय भिक्षु लोग प्रतिमा को पटुआ के कपड़े के परदे की ओट में छिपा देते हैं। वे उसे प्रतिदिन सबेरे स्नान कराते, और सदा धूप और पुष्प चढ़ाते हैं। प्रतिदिन मध्याह्न को वे जो भोजन खाने को होते हैं उसके एक भाग की बलि सच्चे हृदय से देते हैं। जिस सन्दूक में धर्म्म-ग्रन्थ होते हैं वह एक ओर रक्खा जाता है। सोने के समय वे एक दूसरे

---

* पाठ मे 'कोड़ा' है, परन्तु टीकाकार काश्यप अनुमान करता है कि यहाँ कठोर चाहिए मेरा अनुवाद उसी के अनुसार है।

† मेरा अनुवाद कोरिया के संस्करण के अनुसार है।

कमरे* मे चले जाते हैं। दक्षिणी सागर के द्वीपों मे भी यही रीति है। भिक्षुओं के अपने निजी कमरों मे पूजा करने की साधारण रीति नीचे दी जाती है। प्रत्येक विहार की एक पवित्र प्रतिमा होती है, जो कि एक विशेष मन्दिर मे स्थापित की जाती है। जब प्रतिमा बन चुके तब उसके बाद भिक्षु को आयु-पर्यन्त उसे स्नान कराने मे कभी चूकना न चाहिए। और इस बात की आज्ञा नहीं है कि केवल उपवास के दिन ही भोजन की साधारण बलि दी जाय। यदि इन नियमों का पालन किया जाय तो उसी कमरे में प्रतिमा रखना बुरा नहीं। जब बुद्ध जीता था तब उसके शिष्य उन्ही कमरों मे रहा करते थे, और प्रतिमा वास्तविक व्यक्ति की प्रतिनिधि होती है; हम बिना किसी हानि के उन्हीं कमरों में रह सकते हैं। इस परम्परागत रीति पर भारत मे चिरकाल से आचरण किया जाता है।

---

* या 'वे प्रतिमा को एक भिन्न कमरे मे ले जाते हैं'। हर सूरत मे यह निश्चय है कि शयनागार और प्रतिमा रखने का कमरा भिन्न-भिन्न होता है।

तेईसवाँ परिच्छेद

स्वास्थ्य के लिए उचित व्यायाम के लाभ पर

भारत के भिक्षुओं और सामान्य भक्तजनों को उचित समय पर, और अपनी इच्छा से, एक मार्ग पर टहलने, आगे और पीछे जाने का प्रायः स्वभाव है; वे शोरवाले स्थानों से बचते हैं। एक तो इससे रोग शान्त होते हैं, और दूसरे, यह भोजन के पचाने मे सहायता देता है। टहलने का समय पूर्वाह्न (ग्यारह बजे से पहले) और अपराह्न है। (टहलने के लिए) वे या तो अपने विहारों से बाहर चले जाते हैं, या बराण्डों के साथ-साथ चुपचाप घूमते हैं। जो मनुष्य इस व्यायाम की उपेक्षा करता है वह रुग्ण हो जाता है। प्रायः उसकी टाँगें अथवा पेट फूल जाता है, और कोहनी या कन्धों में पीड़ा होने लगती है। इसी प्रकार बैठे रहने के स्वभाव से श्लेष्मल रोग उत्पन्न हो जाता है। इसके विपरीत, यदि कोई टहलने का यह स्वभाव बना लेता है तो इससे उसका शरीर अच्छा रहता है जिससे उसकी धार्म्मिक योग्यता बढ़ती है। इस-लिए गृध्रकूट पर, बोधिवृक्ष के नीचे, मृगदाव मे, राजगृह में, और अन्य पवित्र स्थानों मे ऐसे चङ्क्रम* (विहार) हैं जहाँ जगद्वन्द्य (बुद्ध) टहला करते थे। वे कोई दो हाथ चौड़े, चौदह-पन्द्रह हाथ लम्बे, और ईंटों के बने हुए, दो हाथ ऊँचे हैं; प्रत्येक के ऊपरी भाग पर चूने की बनी हुई खिले हुए कमल फूल की चौदह-

---

* देखिए महावग्ग ५. १.१४; चुल्लवग्ग ५,१४,१; Ind. Ant. vol X 192.

पन्द्रह आकृतियाँ हैं, जो उँचाई में कोई दो हाथ (= तीन .फुट), व्यास में एक .फुट, और (प्रत्येक प्रतिमा के तल पर) मुनि के चरण-चिह्न से अङ्कित हैं। इन विहारों के दोनों सिरों पर, मनुष्य के समान ऊँचा, एक छोटा सा चैत्य है, जिसमें कभी-कभी पवित्र प्रतिमा—शाक्य मुनि की खड़ी मूर्ति—रक्खी होती है। जब कोई मनुष्य देवालय या चैत्य के इर्द-गिर्द दाईं ओर को चलता है, तब वह पुण्य के लिए ऐसा करता है; इसलिए उसे यह परिक्रमा एक विशेष पूजा-भाव के साथ करनी चाहिए। परन्तु (जिस) व्यायाम (का वर्णन मैं अब कर रहा हूँ वह) वायु-सेवन के लिए है, और इसका उद्देश अपने आपको नीरोग रखना या रोगों को शान्त करना है। पूर्वकाल मे यह हिसङ्ग-ताओ (या 'रास्ते पर टहलना') कहलाता था; अब हम इसे चिङ्ग-हिसङ्ग (या 'घूमना') कहते हैं। अर्थ दोनों का एक ही है। परन्तु यह उचित अभ्यास बहुत देर से तुङ्ग-चुअन (अर्थात् चीन) मे बन्द है! सूत्रों मे लिखा है—'वृक्षों की ओर देखते हुए वे टहलते हैं'। इसके अतिरिक्त हम वही स्थान (जहाँ बुद्ध टहला करता था) वज्रासन के निकट देखते हैं; केवल हमे वहाँ कोई गोल (कमलाकार) स्तम्भतल (जैसा कि लोग चीन में बनाते हैं) नहीं मिलता।

———

चौबीसवाँ परिच्छेद

वन्दना एक दूसरे के अधीन नहीं

वन्दना के नियमों पर बुद्ध की शिक्षा के अनुसार आचरण करना चाहिए। जो उपसम्पदा को प्राप्त हो चुका है, और जिसकी दीक्षा की तिथि पहले* है वह अपने से छोटों से वन्दना का अधिकारी है। बुद्ध† ने कहा था कि 'वन्दना के योग्य दो प्रकार के मनुष्य हैं; एक तो तथागत, दूसरे बड़े भिक्षु'। यह बुद्ध का स्वर्गीय शब्द है; तब हम नम्र और दीन बनने का कष्ट क्यों करें? जब छोटा बड़े को देखे तब चुपचाप सम्मान प्रकट करता हुआ 'वन्दे' शब्द के साथ उसे प्रणाम करे; और बड़ा उस प्रणाम को स्वीकार करता हुआ, अपने हाथों को ठीक सामने करके, 'आरोग्य' कहे। यह शब्द इस बात का सूचक है कि कहनेवाला सम्बोधित व्यक्ति के लिए प्रार्थना करता है कि वह आरोग्य रहे। यदि वे ये शब्द न कहें तो दोनों दोषी ठहरते हैं। खड़े हों चाहे बैठे, साधारण प्रक्रिया मे परिवर्तन न होना चाहिए। जो वन्दन करने के योग्य हैं उन्हे दूसरे लोगों को, जो उनसे हीन हैं, वन्दना

---

* मूलार्थतः—'छाया का माप दूसरो के पहले है।'

† जिउन काश्यप का विचार है कि यह अवतरण विनय-संग्रह खण्ड १३ का है। वहाँ वन्दना के योग्य चार प्रकार के लोग गिनाये गये हैं—(१) तथागत, जिनका सम्मान सब करें; (२) प्रव्रजित, जिसकी साधारण भक्तजन वन्दना करें; (३) जिन भिक्षुओं को पहले उपसम्पदा मिल चुकी है उनकी वन्दना पीछे से उपसम्पदा पानेवाले भिक्षु करें, (४) जिन लोगों को उपसम्पदा मिल चुकी है उन्हे वे लोग प्रणाम करें जिन्हे अभी वह नहीं मिली।

करने की आवश्यकता नहीं। भारत के पाँच खण्डों के भिक्षुओं में ऐसा ही नियम है। न तो छोटे का यह आशा करना कि वन्दना के समय बड़ा खड़ा हो जाय, उचित है और न बड़े के लिए छोटे को, जब कि वह वन्दना कर रहा हो, खिझाने या अप्रसन्न करने से डरना ठीक है; इस कारण कुछ लोग शीघ्रता से छोटे को पकड़ लेते हैं और उसे झुकने नहीं देते; छोटा कभी-कभी सम्मान पाने का उत्साहपूर्वक यत्न करता है, परन्तु वह समीचीन प्रतिष्ठा को प्राप्त करने मे असमर्थ होता है। फिर भी लोग प्राय: कहते हैं—'यदि वे इसके विपरीत आचरण करते हैं तो नियमों का पालन नहीं करते।' हा! वे श्रेष्ठ शिक्षा को वहुत कम समझते और व्यक्तिगत भावों के सामने सिर झुका देते हैं, और प्रणाम करने या वन्दना कराने के नियमों का पालन नहीं करते। वास्तव मे मनुष्य को इस बात पर बहुत ध्यान देना चाहिए। किसे इस दीर्घ प्रचलित भूल को बन्द करना चाहिए? (अधिक मूलार्थत:—'उमड़ी हुई नदी लम्बी है! किसे इसमें बाँध बाँधना चाहिए?')

पचीसवाँ परिच्छेद

गुरु और शिष्य का परस्पर बर्ताव

शिष्यों (सद्धिविहारिक) की शिक्षा (धर्म के) अभ्युदय के लिए एक महत्त्व की बात है। यदि इसकी उपेक्षा की जायगी तो धर्म्म का विनाश अवश्यम्भावी है। हमे अपने कर्तव्यों का बड़े उद्योग से पालन करना चाहिए, और जाल के सदृश, जिसमें से पानी बह जाता है, (बहुत ज़ियादा निरङ्कुश) न होना चाहिए।

विनय में कहा है—'प्रति दिन तड़के शिष्य, दातुन करके, अपने गुरु के पास आये और उसे दातुन दे, और चिलमची और तौलिया उसके स्थान के पास रख दे। इस प्रकार उसकी सेवा करने के अनन्तर, शिष्य जाकर पवित्र प्रतिमा की पूजा और मन्दिर की परिक्रमा करे। तब अपने गुरु के पास वापस आकर वह, अपने चोले को ऊपर उठाकर, हाथ जोड़कर, (सिर के साथ पृथिवी को) तीन बार स्पर्श करते हुए, भूमि पर घुटनों के बल बैठे रहकर, दण्डवत् करता है। फिर सिर को झुकाये और हाथों को जोड़े हुए वह गुरु से इस प्रकार पूछता है—"मेरे उपाध्यायजी ध्यान दें," या "मेरे आचार्यजी ध्यान दें;" 'मैं अब पूछता हूँ कि क्या मेरे उपाध्यायजी रात भर अच्छे रहे हैं? क्या उनका शरीर (मूलार्थतः, चार महातत्त्व) पूर्ण रूप से स्वस्थ रहे हैं? क्या वे सुखपूर्वक और चुस्त हैं? उन्हें भोजन भली भाँति पच जाता है न? वे सवेरे के भोजन के लिए तैयार हैं न?' ये प्रश्न अवस्थाओं के अनुसार छोटे या पूरे हो सकते हैं। तब गुरु अपने स्वास्थ्य-

सम्बन्धी इन प्रश्नों का उत्तर देता है। फिर शिष्य पड़ोस की कोठरियों में अपने से बड़ों को प्रणाम करने जाता है। तत्पश्चात् धर्म्म-ग्रन्थ का कुछ भाग पढ़ता और जो कुछ उसने सीखा है उस पर विचार करता है। वह दिन पर दिन नया ज्ञान प्राप्त करता है और एक मिनट भी नष्ट किये बिना, मास पर मास, प्राचीन विषयों की खोज करता है।

साधारणतर भोजन* के समय तक प्रतीक्षा करके शिष्य को, अपनी भूख के अनुसार, भोजन करने की आज्ञा माँगनी चाहिए। उषाकाल से पहले ही उतावली से चावलों का पानी पीने से क्या लाभ है—इतनी उतावली से कि वह अपने गुरु को भी नहीं बताता, न दातुन करता है, और न कीड़ों के विषय में पानी की परीक्षा करने के लिए उसके पास समय होता है। यहाँ तक कि वह स्नान और शारीरिक स्वच्छता भी नहीं कर सकता। क्या ऐसे मनुष्य को यह ज्ञात नहीं कि वह बुद्ध की शिक्षा की चार बातों† का उल्लङ्घन करता है? सब भूलें इन्हीं से उत्पन्न होती हैं। मैं प्रार्थना करता हूँ कि जिन लोगों पर धर्म्म‡ की रक्षा का उत्तरदायित्व है वे इन बातों की उचित रूप से व्यवस्था करें।

---

* टीकाकार काश्यप के अनुसार, पहला छोटा भोजन-काल सूर्योदय के ठीक बाद है। साधारणतर भोजन प्रातराश है।

† बुद्ध की शिक्षा के उल्लङ्घन की चार बातें ये है—

(१) सूर्योदय से पहले खाना, (२) उपाध्याय को न बताना कि मैं भोजन करने लगा हूँ, (३) दातन न करना, और (४) कीड़ों के विषय मे जल की परीक्षा न करना (काश्यप)।

‡ मूल पाठ में जो शब्द है उनका अनुवाद प्रायः 'अधिष्ठित भिक्षु' किया जाता है। यह सत्य है कि यह संज्ञा पीछे से 'अधिष्ठित भिक्षु' का नाम हो गई, परन्तु इस प्रकार अनुवाद करने से संज्ञा का मूल भाव प्रकट

[इ-त्सिङ्ग की टीकाएं] टीका १—उपाध्याय...उप = 'निकट'। जब हम पा (दीर्घ) बोलते हैं तब इसमें एक और अ सम्मिलित होता है और अध्याय का अर्थ है 'पढ़ना सिखाना।' यह संज्ञा भूल से 'हो-शङ्ग' लिखी गई थी। पश्चिम (भारत) में विद्वान् मनुष्यों के लिए प्रचलित नाम वू-शे* है, परन्तु यह बौद्ध (या नियमित) शब्द नहीं। सभी संस्कृत सूत्रों और विनय-पुस्तकों मे उपाध्याय पद का प्रयोग किया गया है, जिसका अनुवाद 'व्यक्तिगत शिक्षा का अध्यापक' किया गया है। उत्तरीय देशों में अध्यापक को प्रायः हो-शे कहते हैं; अनुवादकों के अशुद्ध उलथा ग्रहण करने का यही कारण है।

टीका २—आचार्य† का अनुवाद 'विनय का शिक्षक' किया गया है; इसका अर्थ है 'वह मनुष्य जो शिष्यों को नियम और रीतियाँ सिखाता है।' इस परिभाषा का उलथा पुराने अनुवादकों ने भूल से 'अ-शे-ली' (जापानी मे आजरी) किया था।

'नहीं होता। वास्तव में यह' तीन रत्नो के रक्षक या पोषक के लिए थी। हर सूरत मे इ-त्सिङ्ग यहा इस पद का प्रयोग इसी अर्थ में करता है।

* यहाँ एक ही या भिन्न उत्पत्ति के चार नाम इकट्ठे किये जाते हैं—

(१) उपाध्याय, जो कि अध्यापक के लिए एक नियमित नाम है और जिसका प्रयोग इ-त्सिङ्ग के अनुवादों और रचनाओं में सर्वत्र हुआ है।

(२) हो-शे, जिसका व्यवहार उत्तरीय देशों में होता है। यह संस्कृत उपाध्याय की काशगरी बोली, अर्थात् हुआ-ह्सीह, के साथ बड़े चैन से मिलाया जा सकता है।

(३) हो-शङ्ग; ओ-शो या वाद्जो, जोकि चीन मे चिरकाल से प्रचलित है और जिसकी व्युत्पत्ति उपर्युक्त काशगरी उच्चारण से बताई जाती है।

(४) वू-शे, जोकि भारत में 'विद्वान् मनुष्यों' के लिए एक व्यापक नाम है, परन्तु कोई नियमित शब्द नहीं। यह भी उपाध्याय का अपभ्रंश है और शायद उपर्युक्त काशगरी संज्ञा हो।

† आचार्य के उपाध्याय के साथ सम्बन्ध के लिए देखिए महा-वग्ग १, ३२, १।

टीका ३—उपाध्याय को अपने कर्म बताना इत्यादि, जिसका ऊपर उल्लेख हुआ है एक रीति है जिसकी शिक्षा आर्य देश में दी जाती है; आर्य का अर्थ है श्रेष्ठ, और देश का 'प्रदेश', आर्य देश पश्चिम का नाम है। उसका यह नाम इसलिए है क्योंकि वहाँ श्रेष्ठ चरित्र के मनुष्य क्रमशः प्रकट होते हैं और सभी लोग उस नाम से उस देश की प्रशंसा करते हैं। यह मध्य देश भी कहलाता है; क्योंकि यह लाखों देशों का केन्द्र है। सब लोग इस नाम से परिचित हैं। केवल उत्तर की जातियाँ (हू = मुग़ल या तुर्क) ही आर्य देश को 'हिन्दू' कहती हैं, परन्तु यह नाम प्रचलित बिलकुल नहीं। यह केवल एकदेशी नाम है और कोई विशेष गौरव नहीं रखता। भारत के लोग प्रायः इस संज्ञा को नहीं जानते और भारत के लिए सबसे ठीक नाम 'आर्य देश' है।

कई लोग कहते हैं कि इन्दु का अर्थ चाँद है और भारत के लिए चीनी नाम, अर्थात् इन्दु, इसी से निकाला गया है। इसका यह अर्थ हो तो सकता है, फिर भी यह प्रचलित नाम नहीं। महा चोऊ (चीन) के लिए भारतीय नाम, अर्थात् चीन, के विषय मे पूछो तो यह केवल एक नाम है और इसका कोई विशेष अर्थ नहीं।

फिर हमें यह बात देखनी चाहिए कि सारा देश, जिसके अन्तर्गत भारत के पाँचों खण्ड हैं ब्रह्मराष्ट्र कहलाता है। उत्तर मे सूलि मुग़ल सीमान्त-प्रदेश कहलाता है। इनको गड़बड़ कर देना या इन सबको एक ही नाम से न पुकारना चाहिए।

सिर मुँड़ा लेने, पट (सादा कपड़ा) धारण कर लेने और प्रव्रजित होने के अनन्तर उपसम्पदा प्राप्त कर लेने पर मनुष्य को पाँच बातें—जैसा कि विनय* मे विधान है—अपने शिक्षकों को बताने की आवश्यकता नहीं, परन्तु बाकी प्रत्येक बात बता देनी चाहिए,

* मूलसर्वास्तिवादनिकाय-विनय-संग्रह, खण्ड १३ मे।

अन्यथा वह दोषी ठहरेगा। प्रकट करनेवाली पाँच बातें ये हैं—(१) दातन करना; (२) जल पीना; (३) पाखाने जाना; (४) मूतना; (५) चैत्य-वन्दन, अर्थात् पवित्र सीमा में उनचास व्यामों के अन्दर-अन्दर चैत्य की पूजा करना। उदाहरणार्थ, जब नवछात्र भोजन करने लगे तब वह अपने उपाध्याय के पास जाकर नियमानुसार प्रणाम करे और इस प्रकार कहे—'मेरे उपाध्याय ध्यान दें; मैं अब आपको सूचना देता हूँ कि मैं हाथ और बर्तन धोता हूँ और भोजन करना चाहता हूँ।' उपाध्याय कहे, 'सावधान हो।' शेष सब घोषणाएँ इस उदाहरण के अनुसार करनी चाहिएँ। उपाध्याय तब शिष्य को बताता है घोषणा के विषय और समय के विषय में क्या करना चाहिए। जब घोषणा के लिए अनेक बातें हों तब शिष्य सबकी घोषणा एकबारगी कर सकता है। विनय पर अधिकार हो जाने के बाद, ५ ग्रीष्म बीत जाने पर, शिष्य को अपने उपाध्याय से अलग रहने की आज्ञा मिल जाती है। तब वह लोगों में घूम सकता और किसी दूसरे लक्ष्य के पीछे जा सकता है। फिर भी जहाँ कहीं वह जाय उसे, किसी उपाध्याय की रक्षा में ही रहना चाहिए। यह बात १० ग्रीष्मों के बीतने पर, अर्थात् **उसके विनय को समझने में समर्थ हो जाने के बाद,** बन्द हो जायगी। महामुनि का सदय प्रयोजन मनुष्य को इस अवस्था पर लाना है। यदि भिक्षु विनय को नहीं समझता तो उसे आजन्म दूसरे की रक्षा मे रहना होगा। यदि कोई बड़ा उपाध्याय न हो तो उसे किसी छोटे उपाध्याय की देख-भाल मे रहना चाहिए। इस अवस्था में शिष्य वन्दना के सिवा और सब कुछ करे, क्योंकि वह सवेरे अपने उपाध्याय को प्रणाम नहीं कर सकता, और न उसके स्वास्थ्य का समाचार पूछ सकता है, क्योंकि उसे सदा विनय के अनुसार आचरण करना चाहिए, परन्तु

विनय का उसे ज्ञान नहीं; और यदि किसी विषय की घोषणा करनी आवश्यक भी हो तो वह कैसे कर सकता है, जब कि वह स्वयं रीति को नहीं समझता। कभी कभी छोटा उपाध्याय सवेरे और साँझ उसे शिक्षा देता है। यद्यपि छोटा उपाध्याय ऐसे शिष्य को उपदेश करता भी है, तो भी हो सकता है कि विनय-पुस्तक के अर्थ यथोचित रूप से उसकी समझ में न आवें। क्योंकि यदि प्रकट करनेवाला (अर्थात् शिष्य) अपनी बात को ठीक तौर पर नहीं बता सकता तो उत्तर देनेवाला (अर्थात् उपाध्याय) कैसे उचित आज्ञा दे सकता है। इसलिए पूरा पूरा अङ्गीकार नहीं किया जाता। परन्तु असावधानी चिरकाल से स्वभाव बन गया है; सुगम मार्ग पर चलते हुए लोग धर्म्मानुकूल होने का कष्ट नहीं करते।

यदि हम बुद्ध की शिक्षा के अनुसार आचरण करें तो धर्म्म-परम्परा कभी न रुकेगी। यदि उसके नियमों को तुच्छ समझा जायगा तो फिर कौन सी दूसरी बात भारी हो सकती है? इसलिए, विनय ग्रन्थ में कहा है—जो भिक्षु दूसरों को उपसम्पदा देकर विना पढ़ाये छोड़ देता है उसकी अपेक्षा तो बूचड़ होना अच्छा है*।

---

* मूलसर्वास्तिवादनिकाय-विनय-संग्रह, पुस्तक १३, ११ (Nanjio's Catal., No. 1127) में। यही भाव, जैसा कि जिउन काश्यप ने प्रमाण दिया है, अन्यत्र इस प्रकार प्रकट किया गया है—'बूचड़ लोग, जैसे कि चण्डाल, अनेक जीवों की हत्या करते है परन्तु तथागत के श्रेष्ठ धर्म को नष्ट नहीं करते, इसलिए वे तीन नीच योनियों—नरक, पशु-जगत, और प्रेतात्माओं—में नहीं पड़ते, परन्तु जो मनुष्य दूसरों को उपसम्पदा देकर उपाध्याय तो बनता है पर ठीक तौर पर शिक्षा नहीं दे सकता, वह श्रेष्ठ धर्म्म का नाश करता है। इसलिए वह अवश्य नरक में पड़ेगा।'

यह वचन भद्रशील-सूत्र-पुस्तक।४ (Nanjio's Catal., No. 1085) में पाया जाता है।

भारत में शिष्य द्वारा गुरु की सेवा की जाने की एक दूसरी रीति आगे दी जाती है। वह अपने उपाध्याय के पास रात को पहले प्रहर में और अन्तिम प्रहर में जाता है। पहले उपाध्याय उसे आराम से बैठ जाने को कहता है। त्रिपिटकों में से (कुछ वचन चुनकर) वह अवस्थाओं के योग्य रीति से उसे पाठ पढ़ाता है, और किसी भी बात या सिद्धान्त को बिना व्याख्या किये नहीं जाने देता। वह अपने शिष्य के नैतिक आचरण की देख-भाल करता, और उसके दोषों और अतिक्रमों की चेतावनी उसे देता रहता है। जब कभी वह अपने शिष्य को अपराधी देखता है, उसे उसके उपाय ढूँढ़ने और पश्चात्ताप करने पर विवश करता है। शिष्य उपाध्याय के शरीर को मलता, उसके वस्त्रों की तह करता, या कभी-कभी कोठरी और आँगन में झाड़ू देता है। तब जल की परीक्षा करके कि उसमें कहीं कीड़े तो नहीं, वह उसे उपाध्याय को देता है*। इस प्रकार, यदि कोई काम करने को हो तो वह अपने उपाध्याय के लिए सब करता है। अपने से बड़े की पूजा की ऐसी ही विधि है। इसके विपरीत, शिष्य के रुग्ण होने की अवस्था में, उपाध्याय आप उसकी सेवा-शुश्रूषा करता, सभी आवश्यकीय ओषधियाँ उसे लाकर देता, और उसका ध्यान रखता है मानों वह उसका अपना बच्चा हो।

बुद्ध के धर्म्म के सारभूत सिद्धान्तों में, शिक्षा और उपदेश सबसे आगे और पहले समझे जाते हैं। ठीक जिस प्रकार चक्रवर्ती राजा अपने सबसे बड़े पुत्र का रक्षण और शिक्षण बड़ी सावधानी से करता है, **उसी सावधानी से शिष्य को धर्म्म की शिक्षा दी जाती है।** विनय में बुद्ध की स्पष्ट आज्ञा है; क्या हमें इस बात को तुच्छ समझना चाहिए?

---

* देखो महावग्ग १, २५, १०, ११, १४ तथा १९।

अब रही उपर्युक्त चैत्यवन्दन की बात। जब गुरुदेव, जगत्पूज्य, निर्वाण को प्राप्त हुए, और मनुष्य और देवता उनके शव को अग्नि में भस्म करने के लिए एकत्र हुए, तब लोग वहाँ सब प्रकार की सुगन्धियाँ लाये—यहाँ तक कि उन्होंने वहाँ एक बड़ा ढेर लगा दिया, जो कि चिति, अर्थात् ढेर,* कहलाता था। पीछे से इसी से निकला हुआ चैत्य का नाम है। परन्तु इस शब्द के और भी समाधान हैं—एक तो यह कि जगत्पूज्य के सभी सद्गुण यहाँ इकट्ठे रक्खे हुए (सञ्चित या चित्) समझे जाते हैं; दूसरे, यह मिट्टी या ईंटों का ढेर लगाने से बनता है। इस प्रकार इस शब्द के अर्थ स्पष्ट चले आ रहे हैं। इसका दूसरा नाम स्तूप है, जिसके अर्थ वही हैं जो कि चैत्य के। पुराने अनुवादकों का ग्रहण किया हुआ साधारण नाम 'त'आ', और विशेष नाम चीह-त'इ है। किन्तु दोनों अशुद्ध हैं, परन्तु दोनों का व्यवहार किया जा सकता है क्योंकि लोग, इन शब्दों के अर्थों पर विचार किये बिना ही, इन नामों से उनका स्वरूप समझ जाते हैं। पश्चिम (भारत) मे नाम का समाधान करने की दो रीतियाँ हैं। एक तो, सार्थक नाम, दूसरे निरर्थक नाम। सार्थक नाम मे हेतु रहता है, और उसका समाधान शब्द के अर्थों के अनुसार किया जाता है। इस अवस्था मे नाम और स्वयं वस्तु एक रूप होते हैं।

ऐसे नाम जैसा कि शञ्जू (अर्थात् महायान में 'भली भाँति प्रविष्ट') आरम्भ में अर्थ रखते थे, और सात्विक कर्म के कारण दिये जाते

---

* देखिए महापरिनिब्बान ६, ३२; सब्बगन्धानम् चितकम् करित्वा भगवतोशरीरम् चितकम् आरोपेसुम्। इस प्रकार इ-त्सिङ्ग की 'चिति' चितिका, अर्थात् शव जलाने की चिता, जान पड़ती है।

थे, परन्तु लोग जब नाम से परिचित हो जाते हैं तब वे उसके अर्थ पर विचार नहीं करते, और मनुष्य को शञ्जू नाम से केवल इसी लिए पुकारते हैं क्योंकि संसार उसे ऐसा कहता है। इस प्रकार यह एक ऐसा नाम बन गया है जिसका कुछ अर्थ नहीं। वन्दन का अर्थ है 'नमस्कार'। जब हम चैत्यवन्दन के लिए बाहर जाने को होते हैं, और लोग हमसे पूछते हैं कि कहाँ जा रहे हो, तब हम उत्तर देते हैं—'हम अमुक-अमुक स्थान को चैत्य-वन्दन के लिए जा रहे हैं।' प्रणाम या वन्दन का अर्थ अपने ज्येष्ठों का सम्मान करना और नम्र रहना है। जब भिक्षु वन्दन अथवा किसी बात की घोषणा करने लगे तब पहले उसे अपने चोले को ठीक कर लेना, और इसे (दायें हाथ से) बायें पार्श्व की ओर दबाकर, बायें कन्धे पर इकट्ठा कर लेना चाहिए, जिससे यह शरीर के साथ खूब कस कर लगा रहे। अब बायाँ हाथ नीचे की ओर फैलाकर भिक्षु अन्तरीय के बायें भाग को पकड़ ले, और उसका दायाँ हाथ साये के पकड़े हुए भाग के पीछे जाये और साये के नीचतम भाग के साथ चीवर को इस प्रकार तह (या दुहरा) करे कि इससे घुटने भली भाँति ढँक जायँ; इस क्रिया में भिक्षु अपने शरीर का कोई भी भाग दिखने न दे। साये का पिछला भाग चटपट शरीर से लग जाय। उत्तरीय और अन्तरीय को इस प्रकार ऊपर को उठाये कि वे भूमि से स्पर्श न करें। दोनों एड़ियाँ इकट्ठी रक्खी जायँ, ग्रीवा और पीठ एकसम हों; भूमि पर दसों उँगलियों को एक सम रखकर अब उसे सिर नवाना चाहिए। घुटनों के नीचे ढाँकने के लिए कोई भी वस्तु न होनी चाहिए। तब भिक्षु को अपने जोड़े हुए हाथ आगे बढ़ाने चाहिएँ और पृथ्वी पर फिर सिर टेकना चाहिए। इस प्रकार वह सावधानी से तीन बार प्रणाम करे। परन्तु साधारण वन्दन में एक ही बार पर्याप्त होगा। मध्य में

खड़े हो जाने की कोई रीति नहीं है। भारतीय लोग जब किसी को खड़े होकर तीन बार वन्दन करते देखते हैं तब वे इसे बड़ा विचित्र समझते हैं। यदि किसी को डर हो कि (वन्दन के पश्चात्) माथे पर धूल लगी होगी तो वह पहले इसे मले और फिर पोछ डाले। फिर पिंडली की हड्डी पर से धूल पोंछनी चाहिए; और कपड़ों को ठीक करके भिक्षु कमरे के एक कोने मे बैठ जाय, या थोड़ी देर खड़ा रहे। शेषोक्त अवस्था मे पूज्यदेव उसे आसन देगा। जिस समय मनुष्य को किसी अपराध के लिये झिड़का जा रहा हो, वह सारा समय बराबर खड़ा रहे। जब हमारा बुद्ध भूलोक मे था उस समय से ऐसी परम्परागत रीति गुरु से शिष्य को, बिना रोक-टोक के, मिलती चली आ रही है। यह सूत्रों और विनय मे भी मिलती है; यह प्रायः कहा जाता है कि मनुष्य बुद्ध के पास जाकर उसके दोनों पाँवों को छूता है, और कमरे के एक कोने मे बैठ जाता है। परन्तु हमने बैठने की चटाई का व्यवहार कभी नहीं सुना। तीन बार-दण्डवत् करने के बाद, मनुष्य एक कोने मे खड़ा हो जाता है—बुद्ध की शिक्षा ऐसी ही है। पूज्य स्थविरों की कोठरियों मे अनेक आसन होते हैं, और जो लोग भीतर आयें उन्हे उचित रीति के अनुसार बैठ जाना चाहिए। बैठ जाने पर मनुष्य के पैर भूमि से छूते हैं; परन्तु सुखपूर्वक बैठने की कोई रीति नहीं। विनय मे यह बार-बार कहा गया है कि मनुष्य को पहले 'वू-च'ऊ-चु-चिआ'* बनाना चाहिए, इसका अनुवाद 'उकडू

---

* चीनी में 'वू-च'ऊ-चु-चिआ'; जापानी मे, 'उ-कुत-चिक्का'। पाली मे यह शब्द उक्कुटिकम्-निसीदति है संस्कृत में इसका अनुरूप शब्द चिल्डर्स महाशय उत्कटुक बताते हैं। संस्कृत शब्द उत्कटुकासन का अनुवाद "पलथी मारकर जांघों पर बैठना," किया गया है. और यह आसन जो कुछ इ-त्सिङ्ग यहां वर्णन कर रहा है उससे सर्वथा भिन्न है। स्पष्ट रूप से इ-त्सिङ्ग का तात्पर्य

बैठना' किया जाता है, अर्थात् दोनों पैरों को भूमि पर और दोनों घुटनों को सीधा रखना, और कपड़ों को शरीर के गिर्द कस रखना जिससे वे पृथ्वी से न लगे। पवित्र विषयों (धार्मिक) के सम्बन्ध मे वर्णन करते हुए, कपड़ों की रक्षा के लिए यह एक साधारण नियम है। इसी नियम का पालन वह मनुष्य करता है जो किसी व्यक्ति के सामने अपने पापों का अङ्गीकार करता है, या जो एक बड़ी सभा का पादवन्दन करता है, या जो दोषी ठहराया जाने पर क्षमा के लिए प्रार्थना करता है, या उपसम्पदा के अनन्तर सङ्घ को प्रणाम करता है।

मन्दिर (गन्धकुटी) की ओर देखते और स्तुति करते समय एक दूसरा आसन ग्रहण किया जाता है, अर्थात् भूमि पर दोनों घुटने टेककर, हाथ जोड़े हुए प्रणाम और पूजन करना। परन्तु खाट पर बैठे-बैठे वन्दन या पूजन करने की रीति (चीन के सिवा) और किसी देश मे नही। हम (वन्दन के समय) ऊनी चटाई के प्रयोग को रीति भी नहीं देखते हैं। क्या दूसरों को प्रणाम करते समय उपर्युक्त प्रकार की गर्वित अवस्था धारण करना युक्ति-सङ्गत है? यहाँ तक कि एक साधारण सामाजिक सभा में भी मनुष्य पलँग अथवा चटाई पर बैठकर उचित सम्मान नहीं किया

'उकड़ू बैठने' से है, न कि 'पलथी मारकर जाँघों पर बैठने' से। इस आसन का जो वर्णन उसने दिया है वह प्रोफेसर ह्राइस डेविड्स तथा ओल्डनबर्ग (चुल्लवग्ग ६, ४, १०, टीका) के दिये वर्णन से सर्वथा मिलता है—'इस क्रिया का अर्थ जाँघो पर बैठना नहीं है।' ठीक अवस्था इस प्रकार है कि (पावों के दोनों अँगूठों और एड़ियों को पृथ्वी पर रखकर) पैरों पर इस प्रकार दबक बैठना कि जाँघें पृथ्वी से स्पर्श तो न करे, परन्तु उससे एक या दो इंच ऊपर रहे। पिटकों मे यह 'नम्रता का आसन' समझा गया है। नम्रता का एक दूसरा आसन दायें घुटने के साथ झुकना है, देखो सुखावती (दक्षिण जानुमण्डलम् पृथिव्याम् प्रतिष्ठापयति।)

करता। फिर पूज्य उपाध्याय, अथवा महामुनि की वन्दना के समय यह रूप और भी कितना कम उचित है! भारतीय व्याख्यान-भवनों और भोजनशालाओं में कभी बड़े-बड़े पलँग नहीं रहते, किन्तु केवल लकड़ी की पटरियाँ और छोटी कुरसियाँ होती हैं, जिन पर व्याख्यान सुनते अथवा भोजन करते समय लोग बैठते हैं। यही उचित रीति है।

चीन मे घुटनों को वर्गाकार बना कर बैठने की रीति चिरकाल से प्रचलित है। चाहे मनुष्य तत्काल की रीति के अनुमार बैठे, तो भी उसे उचित और अनुचित की पहचान अवश्य करनी चाहिए।

———

छब्बीसवाँ परिच्छेद

अपरिचितों अथवा मित्रों के प्रति व्यवहार

जिन दिनों गुरुदेव (बुद्ध) जीते थे, धर्म के अधिपति होते हुए वे स्वयं किसी अपरिचित भिक्षु के आगमन पर उसे स्वागत कहा करते थे। यद्यपि भारतीय भिक्षुओं ने (अपने मित्रों के स्वागत के लिए) अनेक विधियाँ बना रक्खी हैं, पर व्यापक नियम यह है कि जब कोई किसी को (विहार की ओर) आते देखता है,— चाहे वह अपरिचित हो, मित्र हो, चेला हो, शिष्य हो या परिचित— तब उसे 'स्वागत', जिसका अनुवाद 'स्वस्ति!'* किया गया है, कहने के लिए आगे जाता है। परन्तु यदि वह आगन्तुक को अपरिचित पाता है तो उसे 'सुष्वागत', जिसका अनुवाद 'बहुत बहुत स्वस्ति!'* है, कहता है। यदि मनुष्य ये नहीं कहता तो एक ओर तो विहार की रीति को छोड़ता है, और दूसरी ओर विनय के अनुसार दोषी होता है। नवागत (आश्रमपति से) बड़ा है या छोटा, इस बात की पूछ-ताछ किये बिना सदा ऐसा ही किया जाता है। और सदा यही अवस्था होती है कि, जब कोई मनुष्य आता है, आश्रमपति आगन्तुक से उसकी पानी की ठिलिया और भिक्षा-पात्र लेकर दीवार पर कीली के साथ लटका देता है, और नवागत को, यदि वह नवशिष्य हो तो एक एकान्त स्थान में, और यदि वह पूजनीय अतिथि हो तो सामने की कोठरी में, सुख-पूर्वक बैठाकर

---

* इसका अर्थ यह भी हो सकता है; "तब ज्योंही स्वागत बोला जाता है, अतिथि (उत्तर में) 'सुष्वागत' कहता है।"

विश्राम करने को कहता है। यदि आश्रमपति अभ्यागत से छोटा हो तो वह, अपने बड़े के सम्मान मे, अभ्यागत की पिंडलियों को पकड़ लेता और उसके शरीर के सारे अङ्गों को सहराता है; और यदि आश्रमपति बड़ा हो तो वह, उसे ठण्डा करने के लिए, उसकी पीठ को सहराता है परन्तु इतना नीचे तक नहीं कि उसकी कमर और उसके पैरों तकप हुँच जाय। और यदि दोनों आयु मे समान हों तो कोई भेद नही रक्खा जाता।

जब (नवागत की) थकावट उतर जाती है तब वह हाथ-पैर धो कर उस स्थान पर जाता है जहाँ कि उसका ज्येष्ठ होता है, और भूमिगत होकर एक बार उसे दण्डवत् करता; और, घुटनो के बल बैठे हुए, वह अपने से श्रेष्ठ के पैरों को पकड़ता है। वह श्रेष्ठ, अपने दायें हाथ को बढ़ाकर अपने से छोटे भिक्षु के कंधे और पीठ को सहराता है,—परन्तु यदि उन्हे बिछड़े बहुत देर नहीं हुई तो वह उसे अपने हाथ से नही सहराता। अब उपाध्याय उसका कुशल-समाचार पूछता है, और शिष्य बताता है कि मैं कैसा हूँ। तब शिष्य एक ओर को हट जाता, और उचित सम्मान के साथ बैठ जाता है। वे चीनियों की तरह खड़े नही होते। भारत में साधारण नियम लकड़ी के एक छोटे से पटरे पर बैठने का है, और सब लोग पैर नंगे रखते हैं। पूर्वी ह्सिया (चीन) में ऐसी कोई रीति नही, इसलिए दूसरे के पैरों को पकड़ने की प्रक्रिया नही की जाती।

सूत्रों मे बार बार कहा गया है कि मनुष्य और देवता बुद्ध के पास आते थे, अपने सिर झुकाकर उसके दोनों पैरों पर रख देते थे, तब हटकर एक ओर बैठ जाते थे। यह ऐसी रीति है जैसी कि मैं अब वर्णन कर रहा हूँ। तब आश्रमपति, वर्ष की ऋतु का विचार करके, गरम पानी अथवा कोई दूसरा पेय आगे रक्खे।

घृत, मधु, चीनी, अथवा कोई और खाद्य और पेय पदार्थ, मनुष्य के इच्छानुसार दिये जा सकते हैं। जिन आठ प्रकार के शर्वतों* (पानों) की बुद्ध ने आज्ञा दी है यदि यह उनमें से एक हो तो देने से पूर्व इसे छानना और साफ़ कर लेना आवश्यक है। यदि यह तलछट से गाढ़ा हो रहा है तो बुद्ध ने इसकी कभी आज्ञा नहीं दी।

धीरे-धीरे राँधी हुई खुबानी का रस, स्वभावतः ही, गाढ़ा होता है, और हम इसे शास्त्रविहित पानों से युक्तिपूर्वक बाहर समझ सकते हैं। विनय में यह कहा है—'आसव को स्वच्छ रीति से छानना चाहिए यहाँ तक कि इसका रङ्ग नरकट के पीले पत्ते के सदृश हो जाय।'

अभ्यागतों के स्वागत की प्रक्रियाएँ ऐसी ही हैं, चाहे वे उपाध्याय हों चाहे शिष्य हों, चेले हों, अपरिचित हों या मित्र। दूसरे के द्वार पर पहुँचते ही, अपने कपड़ों और टोपी का ध्यान रक्खे बिना, शीत का सामना करते हुए या गरमी सहते हुए,—जिससे या तो हाथ और पैर सुन्न हो रहे होंगे या सारा शरीर पसीने से लतपत हो रहा होगा—जल्दी में होनन (नीचे देखिए) करना ठीक नहीं। जल्दी की ऐसी पद्धति नियम के बहुत विरुद्ध है।

जिस समय शिष्य धर्म्म के सिवा किसी और विषय पर व्यर्थ बातें कर रहा हो उस समय उसे एक ओर न बैठाकर खड़े रहने देना उपाध्याय की भूल है। वास्तव में, क्या ऐसा मनुष्य धर्म्म की उन्नति की भारी आवश्यकता समझता है?

---

* आठ प्रकार के शर्वतों के लिए, देखिए महावग्ग ६,३५,६, और विनय-संग्रह, पुस्तक ८, और एकशतकर्मन्, पुस्तक ५।

इ-त्सिङ्ग के अनुसार आठ 'पान' ये हैं—मोच, चोच, कोलक, अश्वत्थ, उत्पल (या उदुम्बर), परूसक, मृद्विका, और खर्जूर; महावग्ग ६, ३५, ६ में—अम्ब, जम्बु, चोच, मोच, मधु, मुद्दिका. सालुक, और फारुसक।

हो-नन संस्कृत में पन्ति (वन्दे, 'मैं प्रणाम करता हूँ') या वन्दन है, जिसका अनुवाद 'नमस्कार' किया जाता है। क्योंकि लोग वास्तविक शब्द को लिख नहीं सके, इसलिए उन्होंने इसे हो-नन (जापानी में व-नन या वदन) कह दिया, और क्योंकि जिस शब्द की बान पड़ जाती है उसे मनुष्य बदल नहीं सकता, इसलिए हो-नन का व्यवहार अभी तक हो रहा है। परन्तु यदि हम वास्तविक शब्द को लें तो यह पन्ति (वन्दे) चाहिए। सड़क पर या जमघटे में उपर्युक्त वन्दन उचित नहीं। परन्तु मनुष्य को चाहिए कि हाथों को जोड़कर आगे बढ़ा दे, और सिर को झुकाकर मुँह से पन्ति (वन्दे) कहे। इसलिए एक सूत्र में कहा है—'या मनुष्य केवल हाथ जोड़कर आगे कर देता है,...और सिर को थोड़ा सा नीचे झुका देता है।' यह भी वन्दन करने की रीति है। दक्षिण* का मनुष्य जिसे मिलता† है उससे पूछता है; इस प्रकार वह न जानते हुए उचित विधि का पालन करता है। यदि वह केवल पूछने को 'वन्दे' ('मैं प्रणाम करता हूँ') शब्द में बदल देता तो उसकी क्रिया सर्वथा वैसी ही होती जिसका कि विनय में विधान है।

---

* टीकाकार जिउन कास्यप के अनुसार दक्षिण के मनुष्य किअङ्ग-नन (यङ्ग-ट्सूजे-किअङ्ग नदी के दक्षिण) के विनय-अध्यापक हैं, जो दस पार्तो की विनय के अनुयायी हैं।

† ये सम्भवतः कुशल-क्षेम के प्रश्न होंगे।

सत्ताईसवाँ परिच्छेद

शारीरिक रोग के लक्षणों पर

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ (परिच्छेद २५ में), मनुष्य को अपनी क्षुधा के अनुसार (या 'इस बात का विचार करके कि मनुष्य का अपना शरीर हलका है या भारी'), अर्थात् चार महा-भूतों* की अवस्था के अनुसार, जिनसे मनुष्य का शरीर बना है, थोड़ा भोजन करना चाहिए। यदि मनुष्य की भूख अच्छी हो तो साधारण भोजन करना चाहिए। यदि मनुष्य अस्वस्थ हो, तो कारण ढूँढ़ना चाहिए; जब रोग का कारण मालूम हो जाय तब विश्राम करना चाहिए। नीरोग होने पर मनुष्य को भूख लगेगी, और उसे अगले हलके भोजन पर खाना खाना चाहिए। उषा-काल प्रायः 'कफ का समय' कहलाता है, जब कि रात के भोजन का रस, अभी बिखरा न होने के कारण, छाती के गिर्द लटक रहा होता है। इस समय खाया हुआ कोई भी भोजन अनुकूल नहीं बैठता।

उदाहरणार्थ, यदि मनुष्य उस समय ईंधन डालता है जब कि आग पहले से भड़क रही है, तो यह डाला हुआ ईंधन जल जायगा, परन्तु यदि मनुष्य उस आग पर घास डाल देता है जो अभी भभक नहीं रही है, तो घास वैसी की वैसी पड़ी रहेगी, और आग जलेगी तक नहीं।

साधारण भोजन के अतिरिक्त हलके भोजनों की आज्ञा बुद्ध ने दी है; चाहे चावलों का पानी हो या चावल ही, भोजन अपनी भूख के अनुसार करना चाहिए।

---

* अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु।

धर्म्म का पालन करते हुए यदि कोई केवल चावलों के पानी पर निर्वाह कर सके, तो और कोई वस्तु नहीं खानी चाहिए; परन्तु यदि मनुष्य को शरीर के पोषण के लिए चावल की रोटियों की आवश्यकता हो तो उनके खाने मे उसे कोई दोष नहीं। जब मनुष्य के शिर-पीड़ा होती है और वह शय्या पर लेट जाता है तब यह न केवल रोग ही कहलाता है, वरन् जब खाने से मनुष्य को दुःख होता है तब रोग का कारण भी उत्पन्न हो जाता है। जब ओषधि से रोग की शान्ति न हुई हो तब वैद्य की आज्ञा से किसी भी अनिर्दिष्ट समय मे भोजन किया जा सकता है। बुद्ध कहता था कि 'ऐसी दशा में भोजन किसी एकान्त स्थान मे देना चाहिए।' अन्यथा अनुचित समय में भोजन का निषेध है। आयुर्वेद, जो कि भारत की पाँच विद्याओं में से एक है, बतलाता है कि वैद्य, रोगी के कण्ठस्वर और मुखमण्डल को देखने के अनन्तर, चिकित्साशास्त्र के आठ प्रकरणों के अनुसार उसके लिए उपचार करता है।

यदि वह इस विद्या के मर्म को नहीं समझता तो, उचित रीति से कार्य करने की इच्छा रखते हुए भी, भूलें कर बैठेगा। चिकित्साशास्त्र के आठ प्रकरण* ये हैं;—पहले मे, सब प्रकार के व्रणों का वर्णन है; दूसरे में, गले से ऊपर प्रत्येक रोग के लिए शस्त्रक्रिया से इलाज करने का, तीसरे में, शरीर के रोगों का; चौथे में, भूतावेश का; पाँचवे मे, अगद ओषधि (अर्थात्, प्रतिविष) का; छठवें में, बालकों के रोगों का; सातवें में आयु को बढ़ाने के उपायो का; आठवें मे, शरीर और टाँगों को पुष्ट करने की रीतियों का वर्णन है। 'व्रण' (१) दो प्रकार के हैं, भीतरी और बाहरी। गले के ऊपर का रोग (२) सारा वही है जो सिर और मुख पर होता है; कण्ठ से नीचे का प्रत्येक रोग 'शारीरिक' रोग कहलाता है (३)।

---

* ये आयुर्वेद के आठ विभागों से पूर्णतः मिलते हैं।

'भूतावेश' (४) आसुरी आत्माओं का आक्रमण है, और 'अगद' (५, परन्तु आयुर्वेद का ६) विषों के प्रतिकार के लिए ओषधि है। 'बालकों' (६, परन्तु आयुर्वेद के ५) से तात्पर्य भ्रूणावस्था से लेकर लड़के के सोलहवे वर्ष के बाद तक है; 'आयु को बढ़ाना' (७) शरीर को बचाना है जिससे वह चिरकाल तक जीवित रहे, और 'शरीर और टाँगों को पुष्ट करने' (८) का अर्थ शरीर और अवयवों को दृढ़ और नीरोग रखना है। ये आठ कलाएँ पूर्व काल में आठ पुस्तकों में थां; परन्तु पीछे से एक मनुष्य ने उन्हें संक्षिप्त करके एक गट्ठा बना दिया। भारत के पाँच खण्डों के सभी वैद्य इस पुस्तक के अनुसार उपचार करते हैं, और इसमें भली भाँति निपुण प्रत्येक वैद्य को अवश्य ही सरकारी वेतन मिलने लगता है। इसलिए भारतीय जनता वैद्यों का वड़ा सम्मान और व्यापारियों का बहुत आदर करती है, क्योंकि वे जीव-हिंसा नहीं करते, और वे दूसरों का उद्धार और साथ ही अपना उपकार करते हैं। मैंने भैषज-विद्या का भली भाँति अध्ययन किया था, परन्तु मेरा यह उचित व्यवसाय न होने के कारण मैंने अन्त को इसे छोड़ दिया है।

फिर हमे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि भारत की भेषजीय जड़ी-बूटियाँ वही नहीं जो कि चीन (पूर्वी हिमया) की हैं; जो एक देश मे पाई जाती हैं वे दूसरे मे नही मिलतीं, और व्यवहृत सामग्रियों का एक ही रीति से वर्णन नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, गिनसेङ्ग (Aralia quinquefolia), चीनी कुकुरमुता (Pachyma Cocos), तङ्ग-कुएइ (Aralia cordata), यूअन-चिह (Polygala Sibirica), माहुर की गाँठे (Aconitum Fischeri), फूट्सूज़े (Aconitum variegatum), मा-हुअङ्ग (काल साक या हरावह Carchorus Capsularis), हिस-हिसन (Asarum Sieboldii), इत्यादि दिव्य भूमि (अर्थात् चीन) को

सर्वोत्तम बूटियाँ हैं, और पश्चिम (अर्थात् भारत) मे कभी नहीं पाई जातीं। हरीतकी भारत में बहुतायत से होती है; उत्तर (भारत) मे कभी-कभी यू-चिन-ह्सिअङ्ग* (कुङ्कुम), होता है, और अ-वेइ† (हींग Assafœtida) भारत की पश्चिमी सीमा मे प्रचुरता से पाई जाती है। कर्पूर दक्षिणी सागर के द्वीपों मे थोड़ा-थोड़ा होता है, और तीनों प्रकार‡ की दारचीनी द्वार (-वती)§ मे पाई जाती है; दो प्रकार की लौंगें|| पूलो कोण्डोर में उत्पन्न होती हैं। केवल ऊपर लिखी बूटियाँ ही (चीन के सदृश) भारत मे बर्ती जाती हैं; शेष सब बूटियाँ बटोरने योग्य नहीं।

साधारणतः जो रोग शरीर मे होता है वह बहुत अधिक खाने से होता है, परन्तु कभी-कभी यह अति परिश्रम, या पहला भोजन

* यू-चिन-ह्सिअङ्ग (जापानी—सुनहरी हल्दी) अभी चीनी मूल से पहचानी नहीं गई। काश्यप, चिकित्सा की एक पुस्तक के प्रमाण से, कहता है कि यह पौधा शाम देश (ता-चिन) में उगता है और दूसरे और तीसरे महीने के बीच इस पर फूल आते हैं। ये फूल चौथे और पाँचवें मासों के बीच चुन लिये जाते है। संस्कृत में यह कुङ्कुम, 'केशर' है।

† अ-वेइ फारस मे उगता और आठ-नौ फुट ऊँचा होता है। इसकी छाल नीलिमा लिये पीले रंग की होती है। पत्ते तीसरे मास में निकलते, और चूहे के कान के सदृश होते हैं। इसका न फूल होता है और न फल। (काश्यप)

‡ टीकाकार के अनुसार, तीन प्रकार ये हैं, (१) 'घास' दारचीनी, जो कि लिङ्ग-नन (अर्थात् बेर-चौगान = कङ्ग-तुङ्ग तथा कङ्ग-ह्सी के दक्षिण) मे बहुत होती है, (२) 'सफ़ेद' दारचीनी जो ककोरा (?) देश मे पाई जाती और 'अनेक हड्डियाँ' भी कहलाती है, और (३) 'मांस' दारचीनी, जो (काशगर के पश्चिम) सुलि देश में पैदा होती और ककूलोक कहलाती है। यह चीन मे नहीं पाई जाती।

§ भूमिका देखिए।

|| दो प्रकार की लौंग तिङ्ग-त्जू-ह्सिअङ्ग और मो-तिङ्ग-ह्सिअङ्ग हैं। (काश्यप)

पचने के पूर्व ही दुबारा खा* लेने से उत्पन्न हो जाता है; जब रोग इस प्रकार उत्पन्न होता है तब इसका परिणाम विषूचिका होता है, जिसके कारण मनुष्य को कई रातों तक लगातार पीड़ा-बुद्धि से दुःख उठाना पड़ता है, और पेट दस से अधिक दिन तक फूला रहता है। ऐसी दशा मे, धनाढ्य लोग गुर्दे से बनाई हुई बहुमूल्य वटिका या ता-चिन (शाम देश) से आनेवाला बहुमूल्य सरेश ख़रीद सकते हैं, परन्तु जो लोग निर्धन हैं वे कुछ नही कर सकते, और प्रातःकालीन ओस के साथ ही मर जाते हैं। जब रोग दबा ले तब मनुष्य क्या कर सकता है ? प्रत्येक यत्न निष्फल होगा, चाहे लू का वैद्य सबेरे आकर गोलियाँ और चूर्ण दे, या पिएन-चि'एओ साँझ को आकर काढ़ा या लेप दे। आग के साथ झुलस-कर या छेदकर, रोगी मनुष्य के शरीर के साथ लकड़ी या पत्थर का सा बर्ताव किया जाता है; टाँगों के काँपने और सिर को हिलाने के सिवा, रोगी और शव मे कुछ भेद नहीं होता।

वास्तव मे ऐसे परिणाम रोग के कारण को न जानने और औषध करने (मूलार्थतः, शान्त करने और रक्षा करने) की विधि को न समझने से पैदा होते हैं। कहा जा सकता है कि लोग बिना हेतु के रोगमुक्त होने की आशा करते हैं, ठीक उन लोगों के सदृश जो, जलधारा को बन्द करने की इच्छा रखते हुए, इसके सोते पर बाँध नहीं बाँधते; या उन लोगों के सदृश जो वन को काट डालने की कामना करते हुए, वृक्षों को उनकी जड़ों से नहीं गिराते, किन्तु धारा या कोंपलों को अधिक और अधिक बढ़ने देते हैं।

जो लोग सूत्र ही सूत्र सीखते रहे हैं वे अधिक अध्ययन करने में असमर्थ होने के कारण, त्रिपिटक को देखते ही, सदा दुःखित

---

* मूलार्थतः—'रात का भोजन पचने के पहले सवेरे का भोजन, और सवेरे का भोजन चले जाने के पहले दोपहर का भोजन खाने से।'

होंगे और जो लोग ध्यान का अभ्यास करते रहे हैं वे, समाधि के आठ मण्डलों (अर्थात् चार ध्यानों और अरूप धातुओं) का विचार करके चिरकाल तक निःश्वास छोड़ते रहेंगे। जो लोग 'अभिजात वाङ्मय के पारङ्गत' (मिङ्ग-चिङ्ग) तक पहुँचना चाहते हैं उन्हे 'सुनहले घोड़े के द्वार'* पर लगामे काट डालनी होंगी, और जो लोग 'उत्कृष्ट विद्वान्' (चिनशिह) से स्पर्धा करते हैं वे अन्त को 'पत्थर की पनाली के आँगन†' की ओर चलना बन्द कर देंगे। क्या यह खेद की बात नहीं कि रोग मनुष्य को उसका कर्तव्य और व्यवसाय करने से रोक देता है? मनुष्य के लिए अपने गौरव तथा प्रसाद को खो बैठना वास्तव मे कोई छोटी बात नही, इसलिए मैं उपर्युक्त बातो का वर्णन कर रहा हूँ, जिन्हें मुझे आशा है कि पाठक एक सुदीर्घ पुनरावृत्ति बताकर आपत्ति नही करेंगे। मैं चाहता हूँ कि एक पुराना रोग बहुत-सी ओषधियाँ खर्च किये बिना ही शान्त हो जाय, और नया रोग रुक जाय, और इस प्रकार वैद्य की आवश्यकता न हो;—तब शरीर (अर्थात् चार भूतों) की स्वस्थ अवस्था और रोग के अभाव की आशा की जा सकती है। यदि लोग, चिकित्सा-शास्त्र के अध्ययन से दूसरों का तथा अपना हित कर सके तो क्या यह उपकार की बात नही है?

परन्तु विष खाना, या मृत्यु और जन्म, प्रायः मनुष्य के पूर्व कर्म का फल होता है; फिर भी इसका यह तात्पर्य नही कि मनुष्य उस दशा को दूर करने या बढ़ाने से सङ्कोच करे जो वर्तमान जीवन मे रोग को उत्पन्न करती या उसे हटाती है।

---

* चीनी मे, चिन-मा-मेन; यह विद्वानों, हन-लिन, के लिए राजकीय भवन है। हन वंश के वू-ती ने वहाँ काँसे का एक घोड़ा रक्खा था, उसी से इसका यह नाम हुआ।

† चीनी में, शिह-च'ऊ-शू, राजकीय पुस्तकालय और संग्रह का कार्यालय कहते हैं, आरम्भ मे इसे हन-वंश के संस्थापक के मंत्री, हिसआओ-हो, ने चिन वंश की बची हुई पुस्तकों को रखने के लिए बनवाया था।

अट्ठाईसवाँ परिच्छेद

ओषधि देने के नियम

प्रत्यंक प्राणी चार महाभूतों के शान्त कार्य अथवा दोष के अधीन है। आठ ऋतुओं के एक दूसरे के बाद आने से, शारीरिक दशा मे विकास और परिवर्तन कभी बन्द नहीं होता। जब किसी को कोई रोग हो जाय, तत्काल विश्राम और रक्षा करनी चाहिए।

इसलिए लोकज्येष्ठ (= बुद्ध) ने स्वयं चिकित्सा-शास्त्र पर एक सूत्र* का उपदेश दिया था, जिसमें उन्होंने कहा था—"चार महाभूतों के स्वास्थ्य (शब्दार्थ, परिमितता) का दोष इस प्रकार है—

१. चू-लु, अर्थात् पृथ्वी-तत्त्व के बढ़ने से, शरीर को आलसी और भारी बनाना।

२. ह्रि-सएह-पो, अर्थात् जल-तत्त्व के इकट्ठा हो जाने से, आँख में मैल या मुँह मे राल का बहुत अधिक होना।

३. पि-तो, अर्थात् अग्नि-तत्त्व से उत्पन्न हुए अतिप्रबल ताप के कारण सिर और छाती का ज्वरग्रस्त होना।

४. प'ओ-तो' अर्थात् वायु-तत्त्व के जंगम प्रभाव के कारण श्वास का प्रचण्ड वेग† ।"

---

* इस सूत्र का अभी तक चीनी मे अनुवाद नहीं हुआ। (काश्यप)

† (चीनी)	(जापानी)	(संस्कृत)
१. चू-लु	गो-रो	गुल्म (या गुरु, अथवा गौरव हो सकता है)।
२. हि-सएह-पो	शो-हा	श्लेष्मन् (= कफ)। पाली सेम्हो।

ये वही हैं जिन्हें हम चीन मे (१) डूबता हुआ भारीपन, (२) श्लेष्मल रोग, (३) पीतज्वर, (४) उठता हुआ श्वास या वायु (सिर का घूमना, श्वास-रोग या ठण्ढ) कहते हैं। परन्तु यदि हम प्रचलित रीति के अनुसार रोग पर विचार करें तो (चार के स्थान में) केवल तीन प्रकार हैं; अर्थात् वात से उत्पन्न हुआ रोग, ज्वर (पित्त), और श्लेष्मल रोग (कफ), और 'डूबते हुए भारीपन' (१)

(चीनी)	(जापानी)	(संस्कृत)
३. पि-तो	हित्त	पित्त।
४. प 'ओ-तो	बा-त	वात।

इनमें से केवल चू-लु (१) का ही मूल ढूँढ़ना कठिन है। गुल्म 'रोग से पेट की सूजन' या 'तिल्ली की पुरानी बाढ़' है। यद्यपि चू-लु इसे भली भाँति दर्शा देता है, फिर भी शब्दशास्त्र की दृष्टि से 'गुरु' या उसकी कोई व्युत्पत्ति ही अधिक सम्भव जँचती है। शायद संस्कृत या पाली मूल से इसका अधिक निश्चय हो सके।

पिछले तीन (२, ३, ४) के मूल का पता लगाने में कोई कठिनाई नहीं, क्योंकि ये 'त्रिदोष', अर्थात् कफ, पित्त और वात के दोष को दिखलाते हैं। बुद्धघोष का तात्पर्य, अपने 'अभिसन्नकाया' (चुल्लवग्ग ५, १४, १) शब्दों के समाधान में, 'सेम्हादि-दोस-उस्सन्न-काया' कहने से इन्हीं तीन(या चार) दोषों से जान पड़ता है; सेम्ह अवश्य ही 'श्लेष्मन्' के लिए आया है। वात से तात्पर्य 'वायु से उत्पन्न हुए रोग' से है, जैसे कि 'उदरवाताबाध', अर्थात् 'आमाशय में वायु के होने से उत्पन्न हुआ रोग' (महावग्ग ६, १४, १)। उप-युक्त बातों की पुष्टि धन्वन्तरि के शिष्य सुश्रुत (जो शायद वही मनुष्य है जिसे इ-त्सिङ्ग आयुर्वेद के आठ विभागों का संक्षेप-कर्त्ता कहता है, परिच्छेद २७) से भली भाँति हो जाती है। सुश्रुत अपनी पुस्तक में कहता है—शारीरास्तु मूल अन्नपानमूला वातपित्तकफशोणितसन्निपातवैषम्यनिमित्ता, 'शरीरिक रोगों का खान-पान (का अनियम) है, और उनका वाह्य कारण वात, पित्त, कफ, रक्त-का, या इन सबका इकट्ठा उलट-पुलट होता है।

यहाँ 'शोणित-सन्निपात' इ-त्सिङ्ग के 'चू-लु' (१) का स्थानापन्न समझा जा सकता है; दोनों एक ही रोग को दिखलाते जान पड़ते हैं, यद्यपि नाम एक दूसरे से भिन्न है।

तथा 'श्लेष्मल' की दशा एक ही है, इसलिए पृथ्वी महाभूत का रोग जल महाभूत के रोग से भिन्न नहीं समझा जाता। रोग का कारण मालूम करने के लिए प्रातःकाल अपनी जाँच करनी चाहिए। यदि जाँच करने पर चार महाभूतों में कोई दोष जान पड़े, तब सबसे पहले उपवास करना चाहिए। भारी प्यास लगने पर भी शर्बत या जल न पीना चाहिए, क्योंकि इस विद्या में इसका सबसे कड़ा निषेध है। इस उपवास को, कभी-कभी एक दो दिन तक, कभी-कभी चार-पाँच दिन तक जारी रखना होता है, जब तक कि रोग बिलकुल शान्त न हो जाय। रोग की निवृत्ति अवश्य ही हो जायगी। यदि मनुष्य यह अनुभव करे कि आमाशय में कुछ भोजन रह गया है, तो उसे पेट को नाभि पर से दबाना या सहराना, जितना अधिक हो सके गरम जल पीना, और वमन लाने के लिए कण्ठ में उँगली डालना चाहिए; जब तक भोजन का अवशिष्टांश बिलकुल न निकल जाय पानी का पीना और फिर वमन द्वारा निकालना जारी रखना चाहिए।

यदि मनुष्य ठण्ढा जल पीवे तो भी कोई हानि नहीं, और गरम जल मे सोंठ मिलाकर पीना भी बहुत अच्छा है। कम से कम, उपचार आरम्भ करने के दिन रोगी को अवश्य उपवास करना चाहिए, और पहली बार भोजन दूसरे दिन सबेरे खाना चाहिए। यदि यह कठिन हो तो अवस्थाओं के अनुसार कोई और उपाय करना चाहिए। प्रचण्ड ज्वर की दशा में, जल-द्वारा ठण्ढक पहुँचाने का निषेध है; 'डूबते हुए भारीपन' (१) और 'काँपनेवाली सरदी' की अवस्था में सबसे उत्तम इलाज आग के निकट रहना है, परन्तु (यङ्-त्सज़े) नदी और (बेर) गिरिमाला के दक्षिण में अवस्थित गरम और गीले स्थानों में इस नियम का प्रयोग नहीं होना चाहिए। इन प्रान्तों में जब ज्वर होता है तब जल से ठण्ढा

करना गुणकारी होता है। जब फ़ेङ्ग-ची* हो रहा हो, तब सबसे उत्तम उपाय घायल और पीड़ायुक्त स्थान पर तेल मलना, और उसे गरम किये हुए बिछौने से गरम करना है। यदि मनुष्य उस पर गरम तेल मले तो भी अच्छा परिणाम होता है। कभी कभी हम देखते हैं कि लगभग दस दिन तक कफ कण्ठ मे भरा रहता है, मुँह और नाक से लगातार पानी बहता है, और इकट्ठा हुआ श्वास, वायु की नली में बन्द होने के कारण, कण्ठ मे तीव्र पीड़ा उत्पन्न करता है; ऐसी अवस्था मे, वाणी के अभाव से, बोलना कठिन होता है, और सब भोजन स्वादहीन हो जाते हैं।

उपवास एक बड़ी गुणकारी चिकित्सा है इसमे न तो सिर को गरम लोहे से दागने का कष्ट सहना पड़ता है और न कण्ठ को मलने का। यह भेषज-विद्या के साधारण नियम, अर्थात् बिना किसी क्वाथ या अन्य औषधि के प्रयोग के चङ्गा करने के अनुसार है। कारण यह है कि जब आमाशय ख़ाली होता है तब प्रचण्ड ज्वर कम हो जाता है, जब भोजन का रस सोखा जाता है तब श्लेष्मल रोग निवृत्त हो जाता है, और जब भीतरी इन्द्रियाँ विश्राम में होती हैं और बुरा साँस बिखर जाता है तब कड़ी ठण्ढ स्वभावतः ही दूर हो जाती है। यदि इस रीति का अवलम्ब किया जाय तो अवश्य ही रोग-शान्ति हो जाती है।

वास्तव मे, नाड़ी के देखने मे कोई कष्ट नहीं होता, तब फलित-ज्योतिषी से काल के विषय में पूछने से क्या लाभ ?

---

* फेङ्ग-ची, शब्दार्थ 'वायु का दबाव' बहुत स्पष्ट नहीं है। टीकाकार समझता है कि यह जबड़े के पट्ठों का 'सिमटाव' है। मै समझता हूँ कि यह 'वातावाध' है। (Childers)

प्रत्येक व्यक्ति स्वयं वैद्यराज है, और जो भी चाहे जीवक* बन सकता है। धर्म्म-गुरु त'अन-लन† ताप को शान्त करके रोग को निवृत्त किया करता था—यह बात केवल एक संन्यासी ही कर सकता है। ध्यान-गुरु, हुई-स्सू,‡ ने कमरे में बैठे-बैठे (ध्यान से) एक दुष्ट रोग को नष्ट कर दिया था—यह बात एक साधारण ज्ञान रखनेवाला व्यक्ति कदापि नहीं कर सकता। यदि पूर्वी राजधानी, लो-यङ्ग, में किसी प्रसिद्ध वैद्य का परामर्श लेना आवश्यक हो तो (व्यय के कारण) निर्धन और कङ्गाल जीवन-रूपी नदी से अलग हो जायँ; अब यदि पश्चिमी मैदान से सर्वोत्तम बूटियाँ इकट्ठी करने का मामला हो तो माता-पिता-हीन और निराश्रय लोग रास्ता भूल जायँगे। परन्तु जिस उपवास की बात हम अब कर रहे हैं वह सरल और अद्‌भुत है, क्योंकि निर्धन और धनवान् दोनों समान रूप से इसका अनुष्ठान कर सकते हैं। क्या यह महत्त्व की बात नहीं?

शेष सब रोगों मे—जैसा कि मुहासा या किसी छोटे फोड़े का सहसा निकल आना; रक्त के अकस्मात् वेग से ज्वर का होना; हाथों और पैरों में प्रचण्ड पीड़ा; आकाश के विकारों (जैसा कि बिजली), वायुगुण, या खड्ग तथा बाण से शरीर की हानि, गिर पड़ने से घाव हो जाना: तीव्र ज्वर या विषूचिका; आधे दिन की संग्रहणी, शिर-पीड़ा, हृदयव्याधि, नेत्र-रोग या दन्त-पीड़ा—भोजन से बचना चाहिए। सन-तेङ्ग (शब्दार्थतः तीन की समान मिलावट) नाम की

---

* बुद्ध के समय मे एक प्रसिद्ध वैद्य था। देखो महावग्ग ८,१,४।

† त'अन-लन सुखावती सम्प्रदाय का एक आदिपुरुष था।

‡ हुइ-स्सू (ए-शी) तिएन-थई सम्प्रदाय का तीसरा आचार्य्य है। इसका देहान्त ५७७ ईसवी में हुआ।

गोली भी अनेक व्याधियों को चङ्गा करने के लिए अच्छी है और इसका प्राप्त करना कठिन नहीं। हरीतक (या, की) की छाल, सोंठ, और चीनी लो, और तीनों को समान मात्रा मे तैयार करो: पहली दो को पीसकर जल की कुछ बूँदों से चीनी के साथ मिलाओ, और फिर गोलियाँ बना लो। प्रति दिन सबेरे, अधिक से अधिक कोई दस गोलियाँ एक मात्रा में खाई जा सकती हैं, और भोजन का प्रयोजन बिलकुल नहीं रहता। अतिसार की दशा मे, नीरोग होने के लिए कोई दो-तीन मात्राएँ पर्याप्त होती हैं। इस गोली से बहुत बड़ा लाभ होता है, क्योंकि यह रोगी को सिर के घूमने, ठण्ढ और अजीर्ण से मुक्त कर देती है; इसी लिए मैं यहाँ इसका उल्लेख कर रहा हूँ। यदि चीनी न हो तो लसलसी मिठाई या मधु से काम चल जाता है। यदि कोई मनुष्य प्रति दिन हरीतक का टुकड़ा दाँतों से काटे और उसका रस निगले तो जीवन-पर्यन्त उसे कोई रोग न होगा। ये बातें जिनसे भेषज-विद्या बनी है, शक्र देवेन्द्र से, भारत की पाँच विद्याओं मे से एक के रूप मे, चली आ रही हैं और इस देश के पाँचों भागों के लोग इसी पर चलते हैं। इसमे सबसे महत्त्व का नियम उपवास है। प्राचीन अनुवादक यह सिखाते थे कि यदि सात दिन तक उपवास करने से रोग-शान्ति न हो तो मनुष्य को अवलोकितेश्वर से सहायता लेनी चाहिए। बहुत से चीनियों को ऐसे अनुष्ठान का अभ्यास न था, और वे इसे एक अलग धार्मिक उपवास समझते थे। इस प्रकार उन्होंने इसका विद्या के रूप मे अध्ययन या अनुष्ठान करने का कभी यत्न नहीं किया। इस भूल का कारण पुराने अनुवादकों का चिकित्सा-शास्त्र के विषय मे ज्ञानाभाव है। 'लाल पत्थर' (तन-शिह) को निगल जाने से उत्पन्न हुए रोग, पुरानी बीमारी या आमाशय के फूल जाने की दशा मे मनुष्य उपर्युक्त विधि का प्रयोग कर सकता है।

(इ-त्सिङ्ग की टीका)—मुझे डर है कि कुछ लोग ऐसे हैं जो 'लाल पत्थर'* (तन-शिह) खाते हैं; खाने के लिए यह अच्छी चीज़ नहीं, यद्यपि यह भूख को दबाता है। फ़ेइ-तन ('उड़नेवाला लाल पत्थर†') चीन के अतिरिक्त और दूसरे देश मे कभी नही मिलता। पत्थर को खाने की रीति केवल दिव्य भूमि (अर्थात् चीन) मे प्रचलित है, परन्तु स्फटिक (मूलार्थतः 'सफ़ेद पत्थर') से कभी-कभी आग उत्पन्न होती है; यदि इसे खाया जाय तो मनुष्य का शरीर 'जल जाता और फट जाता' है। आजकल के लोग इस बात को नही समझते, और इस दोष से असंख्य मरते हैं। इस प्रकार मनुष्य को इसके डर से भली भाँति सावधान होना चाहिए।

विषों, जैसे कि साँप के काटे, की चिकित्सा उपर्युक्त रीति से नही करनी चाहिए। उपवास की अवस्था मे, घूमना और काम करना बिलकुल छोड़ देना चाहिए।

जो मनुष्य लम्बी यात्रा कर रहा है उसे उपवास मे चलने से कोई हानि नहीं; परन्तु जिस रोग के लिए वह उपवास कर रहा है जब वह निवृत्त हो जाय तब उसे अवश्य विश्राम करना चाहिए, और ताज़ा उबला हुआ भात खाना और भली भाँति उबला हुआ कुछ मसूर-जल किसी मसाले के साथ मिलाकर पीना चाहिए। यदि कुछ ठण्ढ मालूम हो तो शेषोक्त जल को कुछ काली मिर्च, अदरक या पिप्पली के साथ पीना चाहिए। यदि ज़ुकाम मालूम हो तो काशगरी प्याज़ (पलाण्डु) या जङ्गली राई लगानी चाहिए।

---

* टीकाकार काश्यप ने 'लाल पत्थर' को 'लाल रेत' (तन-शा) अर्थात शिङ्गरफ़ बताया है।

† 'उड़नेवाले शिङ्गरफ़' को खाने से मनुष्य उड़ने में समर्थ हो जाता है। —(काश्यप)

चिकित्सा-शास्त्र मे कहा है—'सोंठ के सिवा चरपरे या गरम स्वाद की कोई भी चीज़ सरदी को दूर कर देती है।' परन्तु यदि दूसरी चीज़ों के साथ मिला लिया जाय तो भी अच्छा है। जितने दिन उपवास किया हो उतने दिन शरीर को शान्त रखना और विश्राम देना चाहिए। ठण्डा जल न पीना चाहिए; दूसरे भोजन वैद्य के परामर्शानुसार करने चाहिएँ। यदि चावलों का पानी पिया जायगा तो कफ के बढ़ने का डर रहेगा। ठण्ढ के रोग में खाने से कुछ हानि न होगी, ज्वर के लिए वैद्यक का क्वाथ वह है जो कड़वे गिंसङ्ग (Aralia quinquefolia की जड) को भली भाँति उबालने से तैयार होता है।

चाय भी अच्छी है। मुझे अपनी जन्म-भूमि को छोड़े बीस से अधिक वर्ष बीत चुके हैं, और केवल यह और गिनसेङ्ग का क्वाथ ही मेरे शरीर की औषध रही है और मुझे कदाचित् ही कभी कोई घोर रोग हुआ है।

चीन में चार सौ से अधिक प्रकार की बूटियाँ, पत्थर, कंद और मूल हैं। इनमें से बहुत से रङ्गत और स्वाद मे अत्युत्तम और अनूठे हैं और उनमे बड़ी अच्छी सुगंधि है। उनके द्वारा हम किसी भी रोग को चङ्गा कर सकते और प्रकृति को संयम मे रख सकते हैं। सूई से नाड़ी को छेदने और जलाकर दागने और नाड़ी देखने की विद्या में जम्बुद्वीप का कोई भी देश कभी चीन से नहीं बढ़ा; जीवन को दीर्घ करने की औषध केवल चीन मे ही मिलती है। हमारे पर्वत हिमालय के साथ जुड़े हुए हैं और हमारे शैल गन्धमादन* की ही एक

---

* इस गिरिमाला, गन्धमादन, का अनुवाद प्राय. 'सुवासित गिरि', कभी-कभी अधिक पूर्ण रूप से 'ह्सिअङ्ग-त्सुइ', अर्थात् 'सुगन्धमय मतवाला करनेवाला पहाड़' किया जाता है। यह अनवतप्त सरोवर का प्रदेश है, जहाँ से चार नदियाँ—शिता, गङ्गा, सिन्धु और वक्षु (Oxus)—निकलती हैं। यह सरोवर शायद मानसरोवर है (अक्ष ३१° उत्तर, द्राघिमा ८१° ३) और

लड़ी है; वहाँ सब प्रकार के विचित्र और बहुमूल्य पदार्थ प्रचुरता से पाये जाते हैं। लोगों के चरित्र और वस्तुओं के गुण के कारण चीन 'दिव्य-भूमि' कहलाता है। क्या भारत के पाँचों खण्डों में कोई ऐसा व्यक्ति है जो चीन की प्रशंसा नहीं करता? चार समुद्रों के अन्तर्गत सभी लोग सम्मानपूर्वक अधिकार को स्वीकार करते हैं। वे (भारतीय लोग) कहते हैं कि मञ्जुश्री* इस समय उस देश (चीन) मे रहता है। ज्यों ही वे सुनते हैं कि अमुक मनुष्य देव-पुत्र का भिक्षु है, फिर जहाँ कहीं वह जाता है, सब उसका बड़ा सम्मान और सत्कार करते हैं। देव का अर्थ है 'देवता' और पुत्र का अर्थ है 'बेटा'; देव-पुत्र के भिक्षु का अर्थ अधिक पूर्ण रूप से हुआ 'वह मनुष्य जो उस स्थान से आया है जहाँ चीन के देवता का बेटा निवास करता है†।' हम देखते हैं कि बूटियाँ और पत्थर

ह्यू न-त्साङ्ग का इसे पामीर-अधित्यका पर अवस्थित सिरीकोल सरोवर (अक्ष ३८° २० उत्तर) समझना शायद सर्वथा भूल है (देखिए Eitel's hand-book, S.V. Anavatapta)। इसलिए हमें गन्धमादन को हिमालय के उत्तर की उच्च अधित्यका समझना चाहिए, जिस पर अनवतप्त सरोवर है। इ-त्सिङ्ग इस सरोवर का दुबारा उल्लेख परिच्छेद ३४ में करता है।

* ऐसा जान पड़ता है कि इ-त्सिङ्ग के समय में भारतीय लोगों को मञ्जुश्री का निवास चीन मे होने का कुछ संस्कार था। यही बात फिर परिच्छेद ३४ में मिलती है।

† पाठकों को स्मरण रहे कि चीन का राजा अब तक देव-पुत्र कहलाता था। इस नाम का प्रयोग कनफ्यूशस या उसके अपने निकटतम शिष्यों (ईसा पूर्व ५५१-४७८) ने किया था। देव-पुत्र 'तिएन-त्ज़े' का शब्दानुवाद है।

चीन, नाम, जिसका व्यवहार इ-त्सिङ्ग कर रहा है, संस्कृत से लिया गया है और सम्भवतः वही है जिसका भारतीय साहित्य में व्यवहार हुआ है। परन्तु यह नाम भारत में कितनी देर से प्रयुक्त हो रहा था या चीन देश के किस नाम से यह लिया गया था, इसका निश्चय नहीं। एक बार यह मान

सचमुच ही अत्युत्तम और उत्कृष्ट गुणोंवाले हैं। परन्तु शरीर की देख-भाल और रक्षा, और रोग के कारणों को जाँचने की बहुत उपेक्षा की जाती है। इसलिए समय की न्यूनताओं को पूरा करने के उद्देश से मैंने यहाँ भैषज्योपचार की साधारण विधियाँ वर्णन कर दी हैं। जब उपवास से बिलकुल कोई हानि न हो तब यथोचित विधि के अनुसार दवा-दारू शुरू कर देनी चाहिए। कड़वे गिन-सेङ्ग (Ginseng) से तैयार किया हुआ काढ़ा विशेष रूप से ज्वर को दूर करता है। घृत, तेल, मधु या आसव ठण्ढ को दूर कर देते हैं। पश्चिमी भारत के लाट* देश मे, जो लोग रोग-ग्रस्त होते हैं वे कभी कभी आधा मास और कभी-कभी पूरा मास उपवास करते हैं। जब तक वह रोग, जिससे वे कष्ट पा रहे हैं, पूर्ण रूप से शान्त नहीं हो जाता तब तक वे कभी भोजन नहीं करते। मध्य भारत में उपवास की दीर्घतम अवधि एक सप्ताह है, जब कि दक्षिणी सागर के द्वीपों में दो अथवा तीन दिन सीमा है। इसका कारण प्रदेश, रीति और शरीर की रचना के भेद हैं।

मैं नहीं जानता कि चीन में रोग की निवृत्ति के लिए उपवास करना चाहिए कि नहीं। परन्तु यदि एक सप्ताह तक भोजन न करना घातक सिद्ध हो तो इसका कारण यह है कि शरीर में रोग शेष नहीं रहता, क्योंकि जब तक शरीर में रोग रहता है, अधिक

लिया गया था कि यह चिं न वंश (ईसा पूर्व २२२) से लिया गया है, और भारतीय कालगणना मे एक सीमा बनाता है, परन्तु कई विद्वानों ने इस अनुमान को छोड़ दिया था। ह्वेन-थ्साङ्ग और इ-त्सिङ्ग के समय मे चीन का व्यवहार चीनियों के लिए किया जाता था, इसके अतिरिक्त और कोई भी बात निश्चित नहीं।

* बृहत्संहिता ६६, ११ मे मालव, भरोएच, सूरत (सुराष्ट्र), लाट और सिन्धु का उल्लेख एक ही समूह में है।

दिनों तक भी उपवास करने से मृत्यु नहीं होती। कुछ समय हुआ, मैंने एक ऐसा मनुष्य देखा था जिसने तीस दिन तक नहीं खाया और फिर रोगमुक्त हो गया। तब हम दीर्घ उपवास के गुण में क्यों सन्देह करें?

रोगी पर जब प्रचण्ड ज्वर का आक्रमण हो तब उसके रोग के कारण की जाँच न करके, केवल यह देखकर ही कि वह रुग्ण है, उसे भात का गरम पानी पीने अथवा भोजन खाने पर विवश करना ठीक नहीं। इतना ही नहीं, यह एक शङ्काजनक बात है।

हो सकता है कि इस चिकित्सा से किसी का रोग दूर हो जाय, फिर भी यह इस योग्य बिलकुल नहीं कि जनता को इसका अनुकरण करने की शिक्षा दी जाय। भेषज-विद्या में इसका भारी निषेध है। इसके अतिरिक्त, चीन में वर्तमान काल के लोग मछली और तरकारियाँ प्रायः बिना पकाये ही खा लेते हैं; कोई भी भारतीय ऐसा नहीं करता। सब तरकारियों को भलीभाँति पकाना और घी, तेल अथवा किसी मसाले के साथ मिलाकर खाना चाहिए।

(भारत में) लोग किसी प्रकार का प्याज़ नहीं खाते। मेरा मन ललचा जाता था और मैं उसे कभी कभी खा लेता था, परन्तु धार्मिक उपवास करते समय वह दुःख देता और पेट को हानि पहुँचाता है। इसके अतिरिक्त यह नेत्र-दृष्टि को ख़राब करता, रोग को बढ़ाता और शरीर को दुर्बल करता जाता है। इसी कारण भारतीय जनता उसे नहीं खाती। बुद्धिमान् मेरी बात पर ध्यान दें और जो बात सदोष है उसे छोड़कर जो उपयोगी है उसका अनुष्ठान करें, क्योंकि यदि कोई व्यक्ति वैद्य के उपदेशानुसार आचरण नहीं करता तो इसमें वैद्य का कोई दोष नहीं।

यदि उपर्युक्त पद्धति के अनुसार अनुष्ठान किया जाय तो इससे शरीर को सुख और धर्म्म-कार्य की पूर्णता प्राप्त होगी, और इस प्रकार अपना और दूसरों का उपकार होगा। यदि इस रीति को अस्वीकृत किया जायगा तो इसका परिणाम दुर्बल शरीर और संकुचित ज्ञान होगा, और दूसरों की तथा अपनी सफलता सर्वथा नष्ट हो जायगी।

उन्तीसवाँ परिच्छेद

दुःखदायक वैद्यक-चिकित्सा नहीं करनी चाहिए

कुछ ऐसे स्थान हैं जहाँ एक नीच रीति चिरकाल से प्रचलित है, अर्थात् जब कोई रोग उत्पन्न होता है तब लोग मूत्र और विष्ठा, और कभी कभी सूअरों या बिल्लियों की लीद को जो कि एक थाली पर या अमरतबान मे रक्खी जाती है—औषध के रूप मे बर्तते हैं। लोग इसे 'भुजंग क्वाथ' कहते हैं। इसका नाम यद्यपि सुन्दर है पर यह सबसे अपवित्र मैल है। प्याज़ खाने मे भी जिसके लिए (बुद्ध की) आज्ञा है, मनुष्य अपनी इच्छा से एक अलग कमरे में रहता है, और सङ्घ मे आने के पहले सात दिन तक स्नान और प्रचालन द्वारा अपने आपको पवित्र करता है। जब तक मनुष्य का शरीर अपवित्र रहता है वह समाज में कदापि नहीं आता, वह स्तूप की प्रदक्षिणा, और वन्दन या पूजन नहीं कर सकता।

प्याज़ मे दुर्गन्ध होती है और वह अपवित्र है इसलिए रोग की अवस्था को छोड़कर उसके खाने की आज्ञा नहीं*। 'सड़ी हुई और त्यागी हुई वस्तु' द्वारा चिकित्सा मे—जो कि भिक्षु की चार शरणों† में से एक है—सड़ी हुई और पुरानी चीज़, जो फेंकी जा

---

* ऐसा ही चुल्लवग्ग ५, ३४, १ तथा २ में।

† चार शरणें—जिन पर भिक्षु को रहना होता है—चतुर्वर्ग-विनय, अध्याय ३९ में वर्णित हैं, महावग्ग १, ३०,४ के चार निस्साय ये हैं—(१) पिण्डियालोपभोजनम्, (२) पंसुकूलचीवरम्, (३) रुक्खमूलसेनासनम् (४) पूतिमुत्तभेसज्जम्।

चुकी है, बर्ती जाती है, उद्देश यह है कि वस्तुओं में इतनी मित-व्ययता की जाय कि बाक़ी निर्वाह मात्र के लिए ही पर्याप्त रह जाय। उत्तम और महँगी औषध निस्सन्देह सबके लिए खुली है। इसके सेवन से कभी अहित नहीं होता।

'सड़ी हुई और त्यागी हुई ओषधि' के लिए संस्कृत शब्द 'पूति-मुक्त (या-मुक्ति)-भैषज्य'* हैं, जिनका अनुवाद 'सड़ी हुई या पुरानी-त्यागी हुई-ओषधि' शब्दों मे किया जाता है।

विनय मे पुरीष और मूत्र का व्यवहार औषध रूप मे करने की आज्ञा है, परन्तु ये बछड़े का गोबर और गाय का मूत्र† होते हैं। भारत मे, जो लोग नीचतम अपराधी समझे जाते हैं उनके शरीर पर गोबर लीपकर उन्हें उजाड़ मे निकाल दिया जाता है, क्योंकि वे मनुष्य-समाज से वहिष्कृत होते हैं। जो लोग पुरीष उठाते और

---

* चीनी व्याख्याताओं मे इन शब्दों के अर्थों के विषय में बड़ा विवाद है। कुछ लोग इसे पूति-मूत्र-भैषज्य, अर्थात् 'मूत्र को औषध के रूप में बर्तना' समझते है, निस्सन्देह यह ठीक है। इसके विपरीत, इ-त्सिङ्ग और दूसरे इसे पूति-मुक्त-भैपज्य समझते हैं, और उनका मत है कि इसका अर्थ है पुरानी ओपधि जिसे एक बार व्यवहार में लाकर फेंक दिया गया था, और यह मूत्र या पुरीष नहीं। मेरा अनुमान है कि क्योंकि मूल पाली शब्द 'पूति-मुत्त-भेसज्ज' (महावग्ग, १, ३०,४) दोनों 'पूति-मूत्र-भैषज्य' या 'पूति-मुक्त-भैपज्य' के लिए हो सकता है, इसी से यह मत्त-भेद उत्पन्न हुआ है। पूति-मुत्तम् का अर्थ है (गाय का) 'सड़ता हुआ मूत्र' (महावग्ग ६, १४, ७)। इसका उल्लेख भी नीचे हुआ है। महावग्ग १, ३०, ४ के अनुवाद से तुलना करो— 'धर्म का जीवन व्यतीत करने वाले लोग सड़े हुए मूत्र का औषध रूप में प्रयोग करते है।' The Vinaya text, part I, S B. E., vol. xiii.

† ऐसा ही बुद्धघोष महावग्ग ६, १४, ७ में कहता है—मुत्त-हरीतकं ति गोमुत्त परिभावितम् हरीतकम्।

मैल साफ़ करते हैं उन्हे चलते समय छड़ियाँ* बजाकर अपना परिचय कराना होता है; जब भूल से कोई उनसे छू जाता है तब वह अपने शरीर और वस्त्रों को पूरी तरह से धोता है।

हमारे गुरुदेव, अवस्थाओं के अनुसार कार्यों का प्रबन्ध करते समय, सबसे पहले लोगों की कुड़कुड़ाहट और अपवाद से बचा करते थे। तब भला वे अपने समय के लोगों की इच्छा के निश्चय ही विरुद्ध गन्दगी जैसी मैली चीज़ों के व्यवहार की आज्ञा देंगे? उनके ऐसा न करने के कारणों का विनय मे पूर्ण रूप से वर्णन है। वास्तव में, दूसरों को मूत्र या पुरीष जैसी मैली वस्तुएँ औषध रूप मे देना नीचता है। लोगों को ऐसा व्यवहार करने और इसे एक स्थिर रीति बनाने नहीं देना चाहिए। यदि विदेशी यह सुन पायेंगे तो हमारे देश का रूपान्तरकारी प्रभाव घट जायगा। और फिर, हम उन सब सुगंधमय बूटियों का व्यवहार क्यों न करें जिनकी बड़ी प्रचुरता है? अशुद्ध वस्तुओं को हम नापसन्द करते हैं, फिर हम उन्हे दूसरों को देना कैसे सहन कर सकते हैं? और साँप के काटे का प्रतिकार हमारे पास 'पत्थर' गन्धक, आँवलेसार गन्धक (flowers of sulphur), और रेवन्द (gamboge) है, और अपने पास एक टुकड़ा रखना बहुत कठिन नहीं है। ज्वर या दुर्वात (मलेरिया) की छूत में हमारे पास मुलहट्टी की जड़, हेङ्गशन,†

---

* इस वचन की फ़ा-हीएन पुष्टि करता है। वह अपने वृत्तान्त के सोलहवें अध्याय मे लिखता है—'चण्डाल उन लोगो का नाम है जो दुष्ट समझे जाते है और दूसरों से अलग रहते है। जब वे नगर के द्वार या मण्डी मे प्रवेश करते है तब अपने आपको प्रकट करने के लिए लकड़ी का टुकड़ा बजाते हैं, ताकि लोग जान जायँ और उनसे बचें, और उनसे स्पर्श न करें।' Legge's Travels of Fa-hien, p. 43.

† मूलार्थतः 'एकरूप पर्वत' काश्यप के अनुसार यह एक प्रकार की जंगली चाय होती है।

और कड़वे गिनसङ्ग के काढ़े हैं, जिनको तैयार रखना बहुत कठिन नहीं है। कुछ अदरक, काली मिर्च और पिप्पली का फल खानेसे ठण्ढ सदा दूर की जा सकती है। ठोस और सूखी चीनी खाने से भूख और प्यास तृप्त हो जाती है। यदि दवा का मूल्य देने के लिए कुछ सञ्चय न किया हो तो आवश्यकता के समय धनाभाव होना निश्चित है। यदि हम शिक्षा की उपेक्षा करते और यथोचित रीति से इस पर आचरण नहीं करते हैं तो क्या हम निर्दोष हैं? लोग धन को व्यर्थ उड़ाते हैं, और विकट प्रयोजन के लिए पहले से उपाय नहीं करते; यदि मैं न बतलाता तो इन बातों को स्पष्ट रूप से कौन समझ सकता? हा! लोग अच्छी ओषधि नहीं लेते, और, सस्ती से सस्ती ढूँढ़ते हुए, 'भुजङ्ग क्वाथ' का सेवन करते हैं। चाहे उनका हेतु ऐसी ओषधि से कुछ लाभ उठाना हो, पर उन्हें आर्य-शिक्षा के विरुद्ध अपने घोर अपराध का ज्ञान नहीं। आर्यसमिति निकाय के कुछ अनुयायी पूति-मुक्त-भैषज्य (को एक अशुद्ध वस्तु) बताते हैं, परन्तु अवश्य ही हमारे निकाय से यह एक भिन्न निकाय है, और हमारा इसके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं। यद्यपि विनयद्वाविंशति-प्रसन्नार्थ शास्त्र (नञ्जियो की ग्रन्थ-सूची सं० ११३९) मे भी ऐसी ओषधि का कुछ उल्लेख है, परन्तु यह पुस्तक वह नहीं जिसका अध्ययन आर्यसर्वास्तिवाद निकाय मे किया जाता है।

तीसवाँ परिच्छेद

पूजा में दाईं ओर को फिरना

'दाईं ओर को घूमना' संस्कृत में प्रदक्षिणा कहलाता है। उपसर्ग 'प्र' के अनेक अर्थ हैं; और अब, इस शब्द के अंश के रूप में, यह 'गिर्द घूमना' प्रकट करता है। दक्षिण का अर्थ है 'दायाँ', और यह प्रायः प्रत्येक पूज्य और उचित बात को बतलाता है। इसलिए वे (भारतीय लोग) दायें हाथ को दक्षिण कहते हैं, जिससे सूचित यह होता है कि दायें के पीछे चलना उचित और सम्मानयुक्त है। इसलिए यह प्रदक्षिणा की प्रक्रिया के योग्य है। दक्षिणा का (स्त्रीलिङ्ग संज्ञा के रूप में) अर्थ 'दान' भी है। उस अवस्था मे यह (आशय मे) उपर्युक्त से, जैसा कि मैं पहले बता चुका हूँ (देखो परिच्छेद ९), भिन्न है। भारत के पाँचों खण्डों मे सर्वत्र सब लोग पूर्व को 'सामने' और दक्षिण को 'दायाँ' कहते हैं, यद्यपि मनुष्य इसी रीति से दायाँ और बायाँ नहीं कह सकता (अर्थात्, उत्तर के लिए बायाँ नही कहा जा सकता)। हम सूत्रों मे यह पद पढ़ते हैं—'तीन बार प्रदक्षिणा करना*', परन्तु इसका अनुवाद केवल 'बुद्ध के पार्श्व के गिर्द घूमना' करना भूल है। सूत्रों मे यह पद—'दाईं ओर को तीन बार गिर्दागिर्द घूमना', प्रदक्षिणा की पूरी व्याख्या है; और एक दूसरा संक्षिप्त वर्णन भी है—'दाईं ओर' को न कहकर, 'लाख बार गिर्द घूमना'।

---

* अर्थात् महापरिनिब्बान, अ० ६,४६: पदक्खिणम् कत्वा।

परन्तु, दाईं ओर को या बाईं ओर को चलना क्या है, इसका निश्चय करना कुछ कठिन होगा। यदि मनुष्य अपने दायें हाथ की ओर चलता है, तो क्या यह दाईं ओर को चलना है? अथवा क्या यह अपने बायें हाथ की ओर को चलना है? एक बार मैंने चीन में एक विद्वान् का समाधान सुना था, कि 'दाईं ओर को इर्द गिर्द घूमने' का अर्थ यह है कि मनुष्य अपना दायाँ हाथ (उस) चक्र के भीतर रक्खे (जो कि वह बनाता है*), और 'बाईं ओर को इर्द-गिर्द घूमने' का अर्थ है अपना बायाँ हाथ उस चक्र के भीतर रखना, और इसलिए, वास्तव में, जब मनुष्य अपने बायें हाथ की ओर इर्द-गिर्द घूमता है, तब 'प्रदक्षिणा' हो जाती है। यह केवल उस विद्वान् की सम्मति है, और बिलकुल ठीक नहीं है। इसने अनजानों को उचित विधि के विषय में हैरान कर दिया है, और कुछ प्रसिद्ध लोगों को भी, जो अत्यनुरोध से इससे सहमत हो गये हैं, भटका दिया है। अब केवल सिद्धान्तों से अनुमान करके, हम इस विषय का निर्णय कैसे करें? यह बात तभी हो सकती है

१. निस्सन्देह भारतीय रीति के अनुसार यह ठीक समाधान है, परन्तु इ-त्सिङ्ग इसके विरुद्ध कहता है।

काश्यप निम्नलिखित व्याख्या देता है—
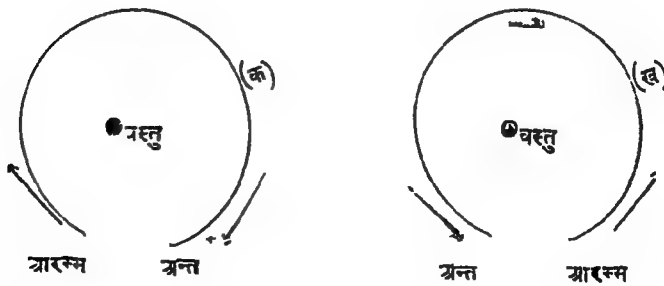
(क) प्रदक्षिणम् कृ, अर्थात् 'वस्तु की ओर अपना दायाँ हाथ करो'।

(ख) प्रसव्यम् कृ, अर्थात् 'वस्तु की ओर अपना बायाँ हाथ करो'।

जब, व्यक्तिगत प्रवृत्तियों को छोड़कर, केवल संस्कृत पुस्तकों पर ही विश्वास किया जाय। दायें हाथ की ओर चलना (अर्थात् दाईं ओर को न फिरना) प्रदक्षिणा है,* और बायें हाथ की ओर चलना बाईं ओर को इर्द-गिर्द घूमना है। यह नियम बुद्ध का नियत किया हुआ है, और हमारे विवाद से परे है।

इसके आगे (हम) 'उचित समय' और 'अनुचित समय' (का वर्णन करेंगे)। जिस सूत्र मे 'उचित समय'† का वर्णन है उसमे विविध अवस्थाओं के अनुरूप समयों के विषय में भिन्न-भिन्न ढंग हैं। परन्तु, चार निकायों के विनय-ग्रन्थों मे यह एकमत से कहा गया है कि दुपहर (मूलार्थतः अश्व-समय, अर्थात् बारह बजे भोजन के लिए) उचित समय है। यह (सूर्य की घड़ी की) छाया एक धागे जितनी थोड़ी भी गुज़र जाय, तो (भोजन के लिए) यह समय अनुचित कहलाता है। जो मनुष्य (समय के व्यतिक्रम के) दोष से अपने आपको बचाता है वह यदि ठीक दिग्भाग लेना चाहता है तो उसे रात को ध्रुव नक्षत्र को जाँचना, और तत्काल

---

* इ-त्सिङ्ग के अनुसार, प्रदक्षिणम् का अर्थ है 'अपने ही दाईं ओर को चलना,' अर्थात् 'अपना बायाँ हाथ वस्तु की ओर करना'। काश्यप फिर इसे इस प्रकार दिखलाता है —

इ-त्सिङ्ग के अनुसार, प्रदक्षिणम् कृ।
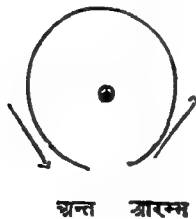
† उचित और अनुचित समय पर सूत्र (Nanjio's Catal., No. 750)।

दक्षिण ध्रुव (अर्थात् 'दक्षिणी नक्षत्र' की दिशा)* को ध्यान-पूर्वक देखना होगा; और, (ऐसा करने के पश्चात्), वह (दक्षिण और उत्तर की) ठीक रेखा† का निश्चय करने में समर्थ हो जाता है। फिर उसे एक उचित स्थान पर मिट्टी का एक छोटा-सा चबूतरा बनाना होता है। यह चबूतरा गोल बनाया जाता है। इसका व्यास एक फ़ुट और ऊँचाई पाँच इंच होती है। इसके मध्यवर्त्ती भाग में एक पतली-सी छड़ी गाड़ी जाती है। या, भोजन करने की बाँस की छड़ी-जैसी पतली, एक कील पत्थर के मञ्च पर गाड़ी जाती है, और इसकी ऊँचाई चार अङ्गुल लम्बी होनी चाहिए। अश्व-समय (दोपहर) की ठीक घड़ी में (मञ्च पर पड़ी हुई छड़ी की) छाया के साथ-साथ एक निशान खींच दिया जाता है। यदि छाया उस निशान से गुज़र गई हो तो मनुष्य को खाना नहीं चाहिए। भारत में ऐसी (घड़ियाँ) प्रायः सर्वत्र बनाई जाती हैं, और ये वेला-चक्र अर्थात् समय के पहिये, कहलाती हैं। छाया को मापने की रीति यह है कि छड़ी की छाया को उस समय देखा जाय जबकि वह छोटी से छोटी हो। इस समय मध्याह्न होता है। परन्तु जम्बुद्वीप में, स्थानों की स्थिति में भिन्नता होने के कारण, छायाओं की लम्बाई भिन्न-भिन्न होती है। उदाहरणार्थ,

---

* समय को हर बार देखने के लिए इन बातों को देखने की आवश्यकता है—(१) मध्याह्न की दिशा (जो ध्रुव नक्षत्र को देखकर मालूम होती है); (२) वह समय जब एक अधिक दक्षिणी (और अतः अधिक शीघ्रता से चलनेवाला) नक्षत्र ऊर्ध्वसीमा (meridian) में से गुज़रता है।

† वह समय जिसमें सूर्य स्सू (कन्या राशि में होता है, और हमारे प्रातःकाल के ६ बजकर ११ मिनट होते हैं। इसके अनुरूप दिङ्-निर्णय-यन्त्र का बिन्दु दक्षिण दक्षिण-पूर्व ½ पूर्व है।

लो* के प्रान्त मे कोई छाया नहीं होती; परन्तु अन्य स्थानों की अवस्था भिन्न है। फिर उदाहरणार्थ, श्रीभोज देश मे, आठवे मास के मध्य मे (अर्थात् जल-विषुव के लगभग), हम देखते हैं कि वेला-चक्र की छाया न लम्बो होती है न छोटी। उस दिन खड़े होने-वाले मनुष्य की कोई छाया नहीं पड़ती। वसन्त के मध्य में (अर्थात् महाविषुव के समय के लगभग) भी यही अवस्था होती है† । सूर्य एक वर्ष मे दो बार ठीक सिर के ऊपर से गुज़रता है। जब

---

*. लो-प्रान्त सम्भवतः मध्य भारत है। 'लो' चीन की राजधानी और 'जो कुछ आकाश के नीचे है उस सबका' केन्द्र था। शायद इ-त्सिङ्ग ने एक बार इसका व्यवहार मध्य भारत के लिए कर दिया हो, यद्यपि यह बात बड़ी विचित्र मालूम होती है।

† यदि इ-त्सिङ्ग का 'आठवें मास का मध्य' और 'वसन्त का मध्य (दूसरा मास)' क्रमशः ठीक जलविषुव और महाविषुव थे तो इस बात का निश्चय करना सुगम है कि श्रीभोज कहाँ था। पुराने जापानी पञ्चाङ्ग में, जो व्याव-हारिक रूप से वही है जो चीन का पंचाङ्ग है, 'आठवें मास का मध्य' या 'वसन्त का मध्य' का अर्थ क्रमश. आठवें और दूसरे मास का १५वाँ दिन नहीं. किन्तु केवल वह दिन है जब कि दिन और रात की लम्बाई बराबर होती है। परन्तु हमे इस बात का पता नहीं कि चीन में इ-त्सिङ्ग के समय में भी यह बात थी कि नहीं; उन्हे ठीक विषुवीय दिन मान लेना अच्छा न होगा। इसके अति-रिक्त सम्भव है कि इ-त्सिङ्ग सुमात्रा या भारत मे उस समय प्रचलित पञ्चाङ्ग के अनुसार लिख रहा हो। निश्चय-पूर्वक हम केवल इतना ही कह सकते है कि चीनी पञ्चाङ्ग के अनुसार, विषुव दूसरे और आठवें मासों के १५ वें दिन के या तो एक दिन पहले या एक दिन पीछे होते हैं। इ-त्सिङ्ग के अनुसार ८ वां मास कार्त्तिक है, जिसमें प्राय: जल-विषुव होता है।

अब श्रीभोज की स्थिति को लीजिए। यदि इ-त्सिङ्ग के समय में वर्तमान पेलम्बङ्ग ही श्रीभोज था तो 'आठवें मास का मध्य' सुमात्रा मे जल-विषुव के छः दिन बाद होगा। परन्तु यदि इसके विपरीत 'आठवें मास का मध्य' ठीक जल-विषुव का दिन था, तो श्रीभोज की तलाश कहीं भूमध्य-रेखा पर या पेलम्बङ्ग के कोई २ ५ अंश उत्तर में करनी चाहिए।

सूर्य दक्षिण में चलता है, तब (मनुष्य की) छाया उत्तर की ओर पड़ती है, और दो-तीन फ़ुट लम्बी हो जाती है, और जब सूर्य उत्तर में होता है, तब (मनुष्य के) दक्षिण पार्श्व में छाया उतनी ही होती है। चीन में उत्तर भाग मे छाया की लम्बाई दक्षिण भाग से भिन्न होती है; उत्तर-देश में द्वार सदा सूर्य के सामने बनाये जाते हैं। जब चीन के पूर्वी समुद्र-तट (है-तुङ्ग) पर मध्याह्न होता है तब अभी कन-हूसी (अर्थात् चीन के अन्तर्गत शेन-सी के पश्चिम के प्रदेश) में नहीं होता। इस प्रकार नैसर्गिक भेद होने के कारण एक ही अवस्था के सार्वत्रिक होने पर हठ नहीं किया जा सकता। इसलिए विनय में कहा है:—'प्रत्येक स्थान मे वहाँ के मध्याह्न के अनुसार समय का निश्चय किया जाता है।' क्योंकि प्रत्येक भिक्षु पवित्र नियमों के अनुसार आचरण करना चाहता है, और प्रति दिन खाना आवश्यक है, इसलिए नियत समय पर खाने के लिए उसे छाया को नापने में सावधान रहना चाहिए। यदि वह इसे (भी) पूरा नहीं कर सकता, तो दूसरी आज्ञाओं का कैसे पालन कर सकता है ? इसलिए विश्रुत मनुष्यो को, जो नियमो पर चलते और उनका प्रचार करते हैं, और जिन्हे जटिल और सूक्ष्म नियमों को देखकर आश्चर्य नहीं होता, समुद्र-यात्रा में भी अपने साथ सूर्य-घड़ी रखनी चाहिए, और स्थल पर तो इसे रखना और भी अधिक आवश्यक है। भारत मे कहावत है कि 'जो कीड़ों के लिए पानी को और मध्याह्न के लिए समय को देखता है वह विनय-उपाध्याय कहलाता है'।

इसके अतिरिक्त, भारत के बड़े-बड़े विहारों मे जल-घड़ियाँ बहुत वर्ती जाती हैं। ये और इन्हें देखते रहने के लिए कुछ लड़के अनेक पीढ़ियों के राजाओं के दिये दान होते हैं, ताकि भिक्षुओं को बताते रहे कि इतने बजे हैं। एक ताँबे के बासन में पानी भर दिया जाता

है, और उसमें एक ताँबे का प्याला तैरता रहता है। यह प्याला पतला और कोमल होता है, और इसमे दो शाङ्ग (प्रस्थ) जल आता है। इसकी पेंदी मे सुई के नाके जितना छोटा सा एक छेद कर दिया जाता है, जिसमे से पानी ऊपर आता है; वर्ष के समय के अनुसार यह छेद छोटा या बड़ा कर दिया जाता है। घण्टों (की लम्बाई) को माप कर इसे अच्छी तरह से बनाना चाहिए।

प्रातःकाल से आरम्भ करके, प्याले के पहली बार डूबने पर, डङ्के की एक चोट बजाई जाती है, और दूसरी डुबकी पर दो चोटें; तीसरी डुबकी पर तीन चोटें। परन्तु प्याले की चौथी डुबकी पर डङ्के की चार चोटों के अतिरिक्त, शङ्ख की दो फूँकें, और डङ्के की एक और धड़क की जाती है। यह पहला पहर कहलाता है, अर्थात् जब सूर्य पूर्व मे (खस्वस्तिक और दिङ्मण्डल के बीच) होता है। जब प्याले की चार डुबकियाँ दूसरी बार पूरी हो चुकती हैं, तब (डङ्के की) चार चोटें पूर्ववत् लगाई जाती हैं, और शङ्ख भी बजाया जाता है, जिसके पश्चात् (डङ्के की) दो और चोटें लगाई जाती हैं। यह दूसरा पहर कहलाता है, अर्थात् ठीक अश्व-समय (अर्थात् दोपहर का आरम्भ) है। यदि पिछली दो चोटें बज चुकी हों तो भिक्षु भोजन नहीं करते, और यदि कोई खाता हुआ पकड़ा जाय तो विहार की रीति के अनुसार उसे निकाल देना होता है। अपराह्न मे भी दो पहर होते हैं, जिनकी घोषणा पूर्वाह्न की तरह ही की जाती है। रात को चार पहर होते हैं। वे दिन के पहरों के सदृश होते हैं। इस प्रकार एक दिन और एक रात की बाँट से आठ पहर बनते हैं। जब रात का पहला पहर समाप्त होता है तब कर्मदान, विहार की एक अटारी में डंका बजाकर, सबको इसकी घोषणा करता है। यह नालन्द-विहार मे जलघड़ी का नियम है। सूर्यास्त और सूर्योदय के समय द्वार के बाहर

डङ्का ('एक गजल') बजाया जाता है। ये अनावश्यक काम सेवक ('शुद्ध मनुष्य'*) और द्वारपाल करते हैं। सूर्यास्त से लेकर उषाकाल तक, न तो भिक्षुओं को कभी घण्टा बजाने का काम करना पड़ता है और न यह उन सेवकों ('शुद्ध मनुष्यों') का काम है। यह काम तो कर्मदान का है। (घण्टे की) चार-पाँच चोटों का अन्तर है, जिसका विस्तारपूर्वक उल्लेख अन्यत्र किया गया है†।

महाबोधि और कुशिनगर के विहारों मे जल-घड़ियों की व्यवस्था कुछ भिन्न है। वहाँ सवेरे और दुपहर के बीच सोलह बार प्याला डुबाया जाता है।

दक्षिण समुद्र के पूलो कण्डोर (Pulo Condore) देश मे, पानी से भरा हुआ ताँबे का एक बड़ा बासन (या घड़ा) वर्ता जाता है। इसकी पेंदी मे एक छेद खोल दिया जाता है जिसमे से पानी बाहर निकलता है। हर बार जब घड़ा ख़ाली हो जाता है तब एक बार डङ्का बजा दिया जाता है, और जब चार चोटें लगाई जाती हैं तब दोपहर हो जाती है। यही क्रिया सूर्यास्त होने तक की जाती है। दिन के समय के सदृश रात के भी आठ पहर होते हैं, जिससे सब मिलकर सोलह पहर बन जाते हैं। यह जल-घड़ी भी उस देश के राजा का दान है।

उन जल-घड़ियों के प्रयोग के कारण, घने बादलों और अँधेरे दिन में भी, अश्व-समय (अर्थात् दोपहर) के विषय मे किसी प्रकार की भूल नहीं होती, और जब कई रातों तक बराबर वर्षा जारी रहती है, पहरों को भूल जाने का कोई डर नहीं होता। (चीन के विहारों में) ऐसी घड़ियाँ लगाने की ज़रूरत है। इसके लिए राजा से

---

* वे लोग जो चीज़ों को साफ़ करते है, देखो परि० ३२।

† काश्यप का अनुमान है कि यह अवतरण शायद विनय-संग्रह, पुस्तक ३ (Nanjio's Catal. No. 1127) का होगा।

सहायता माँगनी चाहिए, क्योंकि संघ के लिए यह एक बड़ी आवश्यक चीज़ है।

जल-घड़ी बनाने के लिए, पहले दिन और रात (की लम्बाइयों) को गिनना, और फिर उन्हें पहरों मे बाँटना होता है। प्रातःकाल से लेकर मध्याह्न तक प्याले की आठ डुबकियाँ हों। यदि ऐसा हो जाय कि (दुपहर तक) आठ से कम डुबकियाँ हों तो प्याले के छेद को थोड़ा सा और चौड़ा कर देना चाहिए। परन्तु इसे ठीक करने के लिए एक अच्छे कारीगर की आवश्यकता है। जब दिन या रात क्रमशः छोटी हो जाती है तब (पानी की) आधी डोई और मिला देनी चाहिए, और जब दिन या रात क्रमशः लम्बी हो जाय तब आधी डोई निकाल देनी चाहिए।

परन्तु इसका उद्देश 'समय' की घोषणा करना है, इसलिए कर्मदान के लिए अपने कमरे मे (उसी प्रयोजन के लिए) एक छोटे प्याले का व्यवहार युक्तिसङ्गत है और उसकी आज्ञा भी है।

यद्यपि चीन मे (रात के समय) पाँच पहर, और भारत में चार पहर होते हैं, परन्तु विनेता* की शिक्षा के अनुसार, केवल तीन ही पहर हैं, अर्थात् एक रात तीन भागों मे विभक्त की गई है।† पहले और तीसरे मे स्मरण, (प्रार्थनाओं का) जाप, और ध्यान किया जाता है, और मध्यवर्ती पहर में भिक्षुगण, अपने विचारों को बाँधकर (या, एकाग्रता के साथ) सोते हैं। रोग की अवस्था को छोड़कर, जो ऐसा नहीं करते वे नियम को भङ्ग करने के अपराधी ठहरते हैं, और यदि वे इसे पूजा-भाव से करते हैं तो इससे उनका अपना और दूसरों का भला होता है।

---

* बुद्ध का एक नाम, पूरा संस्कृत नाम यह है—पुरुष-दम्य-सारथि, अर्थात् 'मनुष्य रूपी घोड़े का सधानेवाला'।

† इसके अनुसार, रात और दिन के छः पहर बनते है।

इकतीसवाँ परिच्छेद

पूजा की पवित्र वस्तुओं को साफ करने में औचित्य के नियम

तीन पूज्यों (तीन रत्नों) की पूजा से बढ़कर और कोई पूजा विनीत और पूर्ण प्रज्ञा के लिए चार आर्य-सत्यों के ध्यान से उच्चतर और कोई सड़क (हेतु) नहीं। परन्तु इन सत्यों के अर्थ इतने गम्भीर हैं कि ये गँवार लोगों की समझ से दूर हैं, परन्तु पवित्र प्रतिमा (अर्थात् बुद्ध की मूर्त्ति) को सब कोई स्नान करा सकता है। यद्यपि गुरुदेव निर्वाण को प्राप्त हो चुके हैं, परन्तु उनकी प्रतिमा मौजूद है और हमे आस्था के साथ उसका पूजन करना चाहिए, जैसे कि हम उन्हीं के सामने हो। जो लोग उसे निरन्तर धूप और पुष्प चढ़ाते हैं उनके विचार पवित्र हो जाते हैं, और जो लोग उसकी मूर्ति को सदा स्नान कराते हैं वे अन्धकार* में लपेटनेवाले अपने पापों को दबाने मे समर्थ हो जाते हैं। जो लोग अपने आप को इस काम मे लगाते हैं उन्हें अदृश (अविज्ञप्त) पुरस्कार मिलेंगे, और जो लोग दूसरों को इसके करने का उपदेश देते हैं वे दृश्य (विज्ञप्त) कर्म से अपना तथा दूसरो का भला करते हैं। इसलिए जो लोग पुण्योपार्जन की कामना रखते हैं उन्हे अपने मन को इन कर्मों के करने मे लगाना चाहिए।

---

* मूलार्थतः 'आलस्य से उपजा हुआ कर्म'; संस्कृत, स्त्यानकर्म। स्त्यान एक परिभाषा है। इसका व्यवहार बौद्ध धर्म के आध्यात्मिक ग्रन्थों में हुआ है। इ-त्सिङ्ग यहां इसका प्रयोग अधिक खुले अर्थों मे करता है।

भारतीय विहारों में, जब भिक्षु लोग अपराह्न मे प्रतिमा को स्नान कराने जाते हैं, तब घोषणा के लिए कर्मदान घण्टा बजाता है। विहार के आँगन मे एक जड़ाऊ छत्र तानने, और मन्दिर के पार्श्व में सुगंधित जल के घड़े पंक्तियों मे रखने के पश्चात् सोने, चाँदी, ताँबे, या पत्थर की एक मूर्त्ति उसी धातु के बासन मे रक्खी जाती है, और लड़कियों का एक दल वहाँ बाजा बजाता है। फिर मूर्त्ति का सुगन्ध से अभिषेक करके उस पर सुगन्धित जल डाला जाता है।

[इ-त्सिङ्ग की टीका]—संस्कृत, 'कर्मदान', कर्म का अर्थ है 'काम', दान-'देना' अर्थात् 'जो दूसरों को नाना प्रकार के काम देता है।' इस परिभाषा का अनुवाद अब तक 'वेइ-न'* किया जाता

---

* 'वेइ-न' संस्कृत में कर्म-दान है; कर्मदान का आशय पहले शब्द, 'वेइ', से प्रकट किया गया है, जिसका अर्थ है 'प्रबन्ध करना' या 'आज्ञा देना', और पिछला 'न' इस बात को दिखलाने के लिए लगाया गया है कि मूल शब्द के अन्त में 'न' की ध्वनि थी।

इसी के अनुरूप दशा शन-तिङ्ग, संस्कृत, 'ध्यान', मे पाई जाती है। 'शन' 'ध्या' को प्रकट करता है, जिसमे दिखलाया यह गया है कि मूल में यह ध्वनि आरम्भ मे थी, और 'तिङ्ग' ध्यान शब्द का अनुवाद है। ऐसे अनेक शब्द हैं, और उनका सम्बन्ध बौद्ध शब्दों की सिनिको-संस्कृत श्रेणी से है।

कर्मदान वह भिक्षु है जिसका काम, घण्टा बजाकर, किसी पूजा या प्रक्रिया इत्यादि की घोषणा करना और भोजन बनवाना है। इ-त्सिङ्ग अपनी 'भारत में चीनी यात्रियों के वृत्तान्त' नामक पुस्तक में (Nanjio's Catal., No. 1491, vol. i) कहता है—'जो मनुष्य विहार बनवाता है वह "विहार-स्वामिन्" कहलाता है।' रखवाला, द्वारपाल, और सङ्घ के कामों की घोषणा करनेवाला विहारपाल कहलाते हैं, चीनी में, "घर के रक्षक"। परन्तु जो घण्टा बजाता और अपने तत्त्वावधान मे भोजन तैयार कराता है वह कर्मदान कहलाता है, जो चीनी मे "कामों का देनेवाला" (अर्थात् प्रबन्धक) है। वेई-न शब्द अपर्याप्त है (Chavannes, Memoirs, p. 89)। ह्यू न-त्साङ्ग की पुस्तकों मे हमें वेइ-न शब्द एक बार मिलता है (Julien's Vie de Hiouen Thsang, vol. i, p. 143; Beal's Life of

रहा है, जोकि ठीक नहीं है; वेइ चीनी है, जिसका अर्थ 'यथाक्रम करना' या 'प्रबन्ध करना' है, और 'न' संस्कृत है; और कर्मदान चीनी के 'वेइ' से प्रकट हो जाता है।

Hiuen Thsang, book iii, p. 106), और जिस समय नालन्द विहार में ह्यू एन-थ्साङ्ग का स्वागत किया जाता है तब वेइ-न घण्टा बजाता है। जूलियन ने वहां कर्मदान की ठीक व्याख्या की थी—'le Karmadana–le sous—directeur'. जूलियन की टीका का आधार सम्भवत. इ-त्सिङ्ग का दिया हुआ विवरण है। बील महाशय ने वेइ-न को शुद्ध संस्कृत समझ लिया है और बड़ी खींचा-तानी के अर्थ निकाले हैं। वह कहता है (Book iii page 106, note):—

'मूल में, वेइ-न अर्थात् वेन' प्रातःकाल उठनेवाला। वह विहार का छोटा अधिष्ठाता है। निकलते हुए सूर्य्य या तड़के उठनेवाले के अर्थों में वेन शब्द ऋग्वेद में पाया जाता है, देखो (Wallis, Cosmology of the Rig-veda, p. 35.) परन्तु वेन का अर्थ 'जाननेवाला' भी है और इसी से चीनी अनुवाद 'चि-स्से' हुआ अर्थात् "जो चीज़ों या काम को जानता है।" जूलियन के अनुसार वह कर्मदान भी कहलाता है, जो कि चीनी हिङ्ग (कर्म) के बराबर जान पड़ता है। इसका पालीपर्याय भत्तुद्देसको है।

ऐसा जान पड़ता है कि बील महाशय ने वेइ-न को मूल को मालूम करने के लिए एक पथ-प्रदर्शक मात्र समझा है। चीनी अनुवाद 'चि-स्से' अर्थात् 'जो चीज़ों को जानता है', बील के अनुमान की भली भांति पुष्टि नहीं करता क्योंकि चि-स्से अधिष्ठा के लिए एक सामान्य नाम है। कर्मदान शब्द ने इसी प्रकार कई चीनी भिक्षुओं को भी हैरान किया है। टीकाकार जिउन काश्यप कहता है कि कुछ लोगों ने वेइ-न को शुद्ध संस्कृत समझ कर इसकी व्याख्या 'व्यवस्था रखनेवाला (विनयिन् ?)' या 'सङ्घ को प्रसन्न करनेवाला (वेन्य ?)' की है।

इ-त्सिङ्ग के सिवा और किसी की व्याख्या मानना कठिन है, अर्थात् वेइ-न कर्मदान के लिए प्रयुक्त हुआ है और व्यावहारिक दृष्टि से यह वही है जो जूलियन और काश्यप की है। इसके अतिरिक्त, वेन बहुत ही अबौद्ध है, और विहारपाल या विहार-स्वामिन् के साथ नहीं आ सकता।

सुगन्ध इस प्रकार तैयार की जाती है—कोई सुगन्ध का वृक्ष, जैसा कि चन्दन की लकड़ी या एलवा की लकड़ी लेकर एक चिपटे पत्थर पर पानी के साथ पीसो, यहाँ तक कि इसका कीचड़ बन जाय, तब इसे मूर्त्ति पर मलकर उसे पानी से धो डालो।

धो चुकने के बाद, इसे साफ़ सफ़ेद कपड़े से पोंछ दिया जाता है; फिर यह मन्दिर में रख दी जाती है, जहाँ सब प्रकार के सुन्दर पुष्प जुटाये जाते हैं। यह प्रक्रिया विहार में रहनेवाले भिक्षु कर्मदान के प्रबन्ध मे करते हैं।

विहार के अकेले कमरों मे भी भिक्षु लोग प्रतिदिन मूर्त्ति को ऐसी सावधानी से स्नान कराते हैं कि कोई भी प्रक्रिया छूटने नहीं पाती। अब पुष्पों के विषय मे सुनिए। किसी भी प्रकार के फूल, वृक्षों से या पौधों मे लेकर चढ़ाये जा सकते हैं। सुगन्धित फूल सभी ऋतुओं मे निरन्तर खिलते हैं और अनेक लोग ऐसे हैं जो बाज़ारों मे उन्हें बेचते हैं। उदाहरणार्थ, चीन मे ग्रीष्म और शरत्काल में इधर-उधर कमल और गुलाबी फूल खिलते हैं; वसन्त मे 'स्वर्ण कण्टक', आड़ू और खुबानियाँ सर्वत्र फूलती हैं। गुलखैरा (Althea), अनार, लाल मकोय और बेर के फूलने की ऋतु एक दूसरे के बाद आती है।

वाटिका का सदाबहार वृक्ष गुलखैरा, वन की सुगन्धित घास, और ऐसी ही अन्य वस्तुएँ चुनकर ले आनी और ठीक करके चढ़ाने के लिए तैयार रखनी चाहिएँ। उन्हें केवल दूर से देखने के लिए ही फलोद्यानों मे न छोड़ देना चाहिए। परन्तु हेमन्त में कभी-कभी मनुष्य को फूल बिलकुल नहीं मिलते; ऐसी दशा मे वह रेशमी कपड़े को काटकर और सुगन्ध लगाकर कृत्रिम फूल बना ले, और इन्हें बुद्ध की प्रतिमा के सामने चढ़ा दे। यह बहुत अच्छी रीति है।

ताँबे की मूर्त्तियों को, चाहे वे बड़ी हों या छोटी, बारीक राख या ईंटों के चूर्ण के साथ रगड़कर और उन पर शुद्ध जल डालकर, चमकाना चाहिए, यहाँ तक कि वे दर्पण के सदृश पूर्ण रूप से स्वच्छ और सुन्दर हो जायँ। बड़ी मूर्त्ति को मास के मध्य और अन्त मे सारा भिक्षु-सङ्घ स्नान कराये और छोटी मूर्त्ति को, यदि सम्भव हो तो, प्रति दिन प्रत्येक भिक्षु अकेला नहलाये। ऐसा करने से, मनुष्य थोड़े व्यय से बड़ा पुण्य प्राप्त कर सकता है।

जिस जल में मूर्त्ति को स्नान कराया गया है उस जल को यदि दो उँगलियों पर लेकर सिर पर डाल दिया जाय तो यह 'शुभ शकुन का जल' कहलाता है, जिससे मनुष्य सौभाग्य की कामना कर सकता है। मूर्त्ति पर चढ़ाये हुए फूलो को न तो सूँघना चाहिए, और न, जब वे उठा भी लिये जायँ, उन्हें पाँव के नीचे रोंदना चाहिए, उन्हे तो एक स्वच्छ स्थान मे अलग रख देना चाहिए। भिक्षु के सारे जीवन मे ऐसा कभी न होना चाहिए कि वह मूर्त्ति को स्नान कराना भूल जाय और यदि वह उन सुन्दर पुष्पों को भी चढ़ाने की परवा नहीं करता, जो सब कही खेतों मे पाये जाते हैं, तो दोषी है। उसे फूलों को चुनने और मूर्त्तियों को नहलाने के कष्ट से बचकर, केवल उद्यानों और सरोवरों को देखते तथा विश्राम करते हुए ही, आलसी और शिथिल न हो जाना चाहिए और न उसे पूजा के कमरे को केवल खोलकर और साधारण उपासना करके अपनी पूजा को आलस्य-पूर्वक समाप्त कर देना चाहिए। यदि ऐसी अवस्था होगी तो गुरु और शिष्य की परम्परा टूट जायगी और पूजा की रीति आप्त-वचन के अनुसार न होगी।

भारत मे भिक्षु और साधारण लोग मिट्टी के चैत्य या मूर्त्तियाँ बनाते हैं, अथवा रेशम या काग़ज़ पर बुद्ध की प्रतिमा छापते हैं, और जहाँ कहीं वे जाते हैं, चढ़ावा चढ़ाकर उसका पूजन करते हैं।

कभी-कभी वे चिता बनाकर और उसे ईंटों के साथ घेरकर बुद्ध के स्तूप बनाते हैं। कभी-कभी वे इन स्तूपों को एकान्त मैदानों मे बनाकर छोड़ आते हैं और ये गिर-पड़कर खँडहर हो जाते हैं। इस प्रकार कोई भी मनुष्य पूजा की चीज़ें बनाने मे लग सकता है। फिर जब लोग सोने, चाँदी, ताँबे, लोहे, मिट्टी, लाख, ईंटों, और पत्थर की प्रतिमाएँ और चैत्य बनाते हैं, अथवा जब वे हिममय बालुका (मूलार्थतः बालु-हिम) का ढेर लगाते हैं तब प्रतिमाओं या चैत्यों मे दो प्रकार के शरीर रखते हैं। (१) गुरुदेव का अवशिष्टांश। (२) कारणत्व की शृङ्खला का गाथा।

वह गाथा इस प्रकार है :—

* 'सब बातें (धर्म्म) किसी हेतु से उत्पन्न होती हैं।
तथागत ने वह हेतु प्रकट कर दिया है।
यह हेतु निदान नष्ट किया जा चुका है;
महाश्रमण (बुद्ध) की ऐसी ही शिक्षा है।'

---

* काश्यप मूलपाठ इस प्रकार देता है :—

'ये धर्मा हेतुप्रभवास्तेषाम् हेतुम् तथागत उवाच।
तेषाम् च यो निरोध एवं वादी महाश्रमणः॥'

यह प्रसिद्ध वाक्य बरनोफ़-कृत 'कमल' (Burnouf's Lotus) मे (p. 522) दिया गया है। पाली-पाठ महावग्ग १, २३,५, तथा १० मे दिया गया है; और यह 'धम्मपरियाय' कहलाता है :—

'ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसम् हेतुम् तथागतो आह
तेसञ्च यो निरोधो एवंवादी महासमणो।'

प्रोफ़ेसर ओल्डनबर्ग और हाइस डेविड्स ने इसका अनुवाद इस प्रकार दिया है—

'हेतु से उत्पन्न होनेवाली सभी बातो का हेतु तथागत ने प्रकट कर दिया है, और उसने उनका अवसान भी बताया है; यह महासमण का सिद्धान्त है।'

अनुवादक कहते हैं कि निस्सन्देह इस वाक्य का संकेत बारह निदानों के सूत्र की ओर है, जिसमे, जिनको यहाँ 'धम्म हेतुप्पभव' कहा गया है उनकी,

यदि हम इन दो को मूर्त्तियों या चैत्यों मे रक्खेंगे तो हमे प्रचुर सुख प्राप्त होंगे। यही कारण है कि सूत्र दृष्टान्तों में मूर्त्तियाँ या चैत्य बनाने का पुण्य अकथनीय बताते हैं। यदि मनुष्य जौ के दाने के समान छोटी प्रतिमा, या छोटे उन्नाव के परिमाण का चैत्य बनाकर उस पर एक गोल प्रतिमा या एक छोटी सुई के सदृश छड़ी रख दे, तो भी उससे उत्तम जन्म के लिए एक विशेष हेतु प्राप्त हो जाता है, और यह सात समुद्रों के समान असीम होगा, और पुण्यफल अगले चार जन्मों तक बना रहेगा। इस विषय का सविस्तर वर्णन अलग सूत्रों* मे मिलता है।

अध्यापकों तथा दूसरे लोगों को इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए। पवित्र प्रतिमा को स्नान कराना एक ऐसा पुण्य कर्म है जिसके फल से प्रत्येक जन्म में बुद्ध से मिलाप होता है, और धूप तथा पुष्पों का चढ़ाना प्रत्येक आगामी जन्म मे सुख और सम्पत्ति का देनेवाला है। आप करो, और दूसरों को ऐसा करने की शिक्षा दो, तब तुम्हें अपरिमेय सुख मिलेंगे।

चौथे मास† के आठवे दिन, मैंने चीन मे कहीं अनेक भिक्षुओं और साधारण लोगों को सड़क पर मूर्त्ति लाते देखा; उन्होंने प्रतिमा को उचित रीति से स्नान कराया, परंतु वे उसे मलना नहीं जानते थे, और उन्होंने उचित नियमों पर ध्यान न देकर उसे धूप और वायु मे हो सूखने के लिए रख दिया।

उत्पत्ति और अवसान की व्याख्या है। देखो महावग्ग १, २३, ५, S. B. E. vol. xiii. स्तूप मे पत्थर पर इस वाक्य के दबे या खुदे होने के उदाहरण बरनोफ़ के नोट (Lotus, p. 522) मे मिलते हैं।

* मूर्त्तियों के निर्माण, इत्यादि, की सिफ़ारश करनेवाले सूत्र अनेक हैं। काश्यप ने इनमे से छ दिये है (उदाहरणार्थ, Nanjio, No. 523)।

† यह दिन बुद्ध का जन्म-दिवस मनाया जाता है। बुद्ध को स्नान कराने की रीति अभी तक जापान में है।

बत्तीसवाँ परिच्छेद*

स्तोत्रगान-प्रक्रिया

बुद्ध के नामों का उच्चारण करके उसकी पूजा करने की रीति दिव्य भूमि (चीन) में लोग जानते हैं क्योंकि यह प्राचीन समय से चली आ रही है (और इसका अनुष्ठान किया जा रहा है), परन्तु बुद्ध का गुणानुवाद करके उसकी स्तुति करने की रीति का प्रचार नहीं रहा। (शेषोक्त रीति प्रथमोक्त से अधिक महत्त्व की है), क्योकि वास्तव में, केवल उसके नामों का सुनना ही उसके ज्ञान की श्रेष्ठता का अनुभव करने में हमें सहायता नहीं देता; किन्तु वर्णनात्मक स्तोत्रों में उसका गुणानुवाद करने से हम समझ सकते हैं कि उसके गुण कितने बड़े हैं। पश्चिम (भारत) में भिक्षु लोग चैत्य-वन्दन और साधारण पूजा तीसरे पहर देर से या सायंकाल सन्ध्या-समय करते हैं। सभी एकत्रित भिक्षु अपने विहार के द्वार से बाहर निकलकर, धूप और पुष्प चढ़ाते हुए, स्तूप की तीन बार प्रदक्षिणा करते हैं। वे सब घुटनों के बल बैठ जाते हैं, और उनमें से अच्छा गानेवाला एक भिक्षु, अतिमधुर, शुद्ध, और मंजुल स्वर से गुरुदेव के गुणों का वर्णन करनेवाला स्तोत्र गाना आरम्भ करता है, और दस-बीस श्लोक गाता है। वे क्रमशः विहार के उस स्थान में लौट आते हैं जहाँ वे साधारणतया इकट्ठे हुआ करते हैं।

---

* म० फूजिशीमा नामक एक जापानी भिक्षु का किया हुआ फ्रांसीसी अनुवाद Journal Asiatique (Nov.—Dec). 1888, p. 416 में मिलेगा।

जब वे सब बैठ जाते हैं तब एक सूत्र-पाठी, सिंहासन पर चढ़कर, एक छोटा सा सूत्र पढ़ता है। यथोचित परिमाण का सिंहासन प्रधान भिक्षु के समीप रक्खा जाता है। ऐसे अवसर पर जो धर्म्मग्रन्थ पढ़े जाते हैं उनमें से 'तीन भागों में पूजा*' प्राय: उपयोग मे लाई जाती है। यह पूजनीय अश्वघोष का किया हुआ संग्रह है। पहले भाग मे, जो दस श्लोकों का है, तीन पूज्यों† (त्रिरत्न) की स्तुति का भजन है। दूसरा भाग बुद्ध-वचनों की बनी हुई कुछ पवित्र पुस्तकों का संग्रह है। स्तोत्र के बाद, और बुद्ध के वचनों के पाठ के बाद, पूजा के तीसरे भाग के रूप मे, दस से अधिक श्लोकों का एक अतिरिक्त भजन होता है। इसमे मनुष्य के पुण्य का परिपक्व करने की कामना प्रकट करनेवाली प्रार्थनाएँ होती हैं। ये तीनों भाग एक दूसरे के बाद अविच्छिन्न रूप से आते हैं। इसी से इसका नाम—तीन भागोंवाली पूजा—निकला है। जब यह समाप्त हो जाती है, तब सभी एकत्रित भिक्षु 'सुभाषित!' कहते हैं, अर्थात् 'अच्छा कहा', सु = अच्छा, और भाषित = कहा। ऐसे शब्दो द्वारा धर्म-पुस्तकों को उत्तम कहकर उनकी सराहना की जाती है। वे कभी-कभी इस शब्द के स्थान मे 'साधु!'‡ अर्थात् 'अच्छा किया!' कहते हैं।

---

* मूलार्थत. तीन बार खोली हुई पूजा।

† तीन पूज्य, जैसा कि म० फूजिशीमा ने मान लिया है, अमिताभ. अवलोकितेश्वर, और महास्थान नहीं (p. 417, Journal Asiatique, Nov.—Dec. 1888)।

‡ नये जापानी संस्करण में 'साधु' है; दूसरे संस्करणों में पो-तु है, जिससे मूल बुदु, या बदे हो जायगा, जैसा कि फूजिशीमा के अनुवाद में है। 'साधु' पाठ के पक्ष में हमारे पास कई बातें हैं:—(१) इसकी व्याख्या 'अच्छा!' या 'अच्छा किया!' हो सकती है, जो कि भारत में एक सामान्य

सूत्र-पाठी के उतर आने पर, प्रधान भिक्षु उठकर सिंहासन को नमस्कार करता है। यह कर चुकने के बाद वह पुण्यात्माओं* के आसनों को प्रणाम करता है, और तब अपने स्थान पर वापस आ जाता है। अब दूसरे दर्जे का भिक्षु उठकर पहले भिक्षु के सदृश ही उनको प्रणाम करता और पीछे से प्रधान भिक्षु को नमस्कार करता है।

जब वह अपने स्थान पर लौट आता है तब तीसरे दर्जे का भिक्षु वही प्रक्रियाएँ करता है, और उसी रीति से सारे भिक्षु क्रमशः करते हैं। परन्तु यदि एक बहुत बड़ा समूह उपस्थित हो तो बाक़ी भिक्षु सबके सब एक ही बार सभा को नमस्कार करके स्वेच्छानुसार वापस चले जाते हैं। उपर्युक्त वर्णन उन क्रियाओं का है जिनका अनुष्ठान पूर्वी आर्य देश (पूर्वी भारत) के अन्तर्गत ताम्रलिप्ति† के भिक्षु करते हैं।

घोषणा है। (२) इ-त्सिङ्ग अपने दूसरे अनुवादों में बार-बार उन्हीं अक्षरों और अर्थों का व्यवहार करता है, जैसे देखिए मूलसर्वास्तिवादैकशतकर्मन् का अनुवाद (Nanjio's Catal. No. 1131)। (३) 'स' या 'श' के लिए 'ब' या 'पो' लिखना चीनी बौद्ध पुस्तकों की बहुसंख्यक छापे की भूलों में से एक है। उदाहरणार्थ पो-लो-तु-लो संस्कृत के शलातुर के लिए लिखा है, जो कि पाणिनि का जन्म-स्थान है। यहाँ भूल से 'श' को 'पो' लिखना स्पष्ट है। देखिए Julien, Hiuen Thsang, tom i, 165; ii, 125; ii, 312. Quoted by Weber, p. 218, History of Sanskrit Literature (Trubner)

* काश्यप कहता है कि यहाँ 'पुण्यात्माओं' से अभिप्राय बोधिसत्वों और अर्हतों से है।

† एक प्राचीन राज्य और नगर (अब हुगली के मुहाने पर, तमलुक), इ-त्सिङ्ग के समय में यह भारत और चीन के बीच व्यापार का केन्द्र था।

नालन्द विहार में भिक्षुओं की संख्या बहुत बड़ी है, और तीन सहस्र* से अधिक है; एक स्थान मे इतने लोगों का इकट्ठे होना कठिन है। इस विहार में आठ महाशालाएँ (हॉल कमरे) और तीन सौ कोठरियाँ हैं। प्रत्येक भिक्षु के सुभीते के लिए पूजा केवल अलग-अलग ही हो सकती है। इसलिए रीति यह है कि प्रति दिन एक स्तोत्र गानेवाले को भेजा जाता है†। वह एक स्थान से दूसरे

---

* जापानी संस्करण में ३००० है, परन्तु शेष सब पुस्तकों में ५००० है; पहला पाठ ठीक है, क्योंकि इ-त्सिङ्ग दसवें परिच्छेद मे नालन्द के भिक्षुओं की संख्या '३००० से अधिक', और अपने 'वृत्तान्तों' में '३५००' देता है। देखो Chavannes' translation, p 97.

† (क) 'एक स्तोत्र गानेवाला भेजा जाता है' के मूल चीनी पाठ का शब्दार्थ है 'एक उपाध्याय भेजा जाता है जो स्तोत्र-गान में सबका अगुआ बनता है।' यह एक भिक्षु होता है। (ख) 'विहार के सामान्य सेवक', मूलार्थतः 'शुद्ध मनुष्य'। यह निश्चय है कि वे, जैसा कि जूलियन का विचार है, भिक्षु नहीं। ह्यू न-थ्साङ्ग एक अवसर पर 'एक शुद्ध मनुष्य' को 'एक नास्तिक की दी हुई दस्तावेज को गिराने और पैरों तले रोंदने के लिए' भेजता है; जब उस 'शुद्ध मनुष्य' से पूछा गया कि तुम कौन हो तो उसने उत्तर दिया कि 'मैं महायानदेव का सेवक हूँ' (Beal, Life of Hiuen Thsang, book iv, p. 161)। एक 'शुद्ध मनुष्य' भोजन कराने का काम करता है (Fa-hien, chap. iii)। इ-त्सिङ्ग के इस 'इतिहास' में ऐसे ही अनेक उदाहरण हैं। जब भिक्षु स्वागत के लिए जाता है तब एक 'शुद्ध मनुष्य' कुरसी और बर्तन ले जाता है। (परि० ६); वह भिक्षु का जूठा भोजन ले जाता है (परि० ६); वह संघ के लिए खेती करता है (परि० १०); वह समय बताने के लिए घण्टा बजाता है, परन्तु पूजा के आरम्भ की घोषणा का घण्टा बजाने की उसे आज्ञा नहीं (परि० ३०)। जब भिक्षु बहुश्रुत हो या उसने एक पिटक पढ़ लिया हो तब संघ उसे सबसे अच्छे कमरे और सेवक (मूलार्थतः 'उसकी सेवा के लिए शुद्ध मनुष्य') देता है (परि० १०)। उसका माना हुआ उपासक होना सम्भव है पर वह भिक्षु कभी नहीं हो

स्थान पर भजन गाता हुआ घूमता है। उसके आगे-आगे धूप और फूल लिये हुए विहार के साधारण सेवक और बच्चे जाते हैं। वह एक महाशाला से दूसरी मे जाता है, और प्रत्येक में पूजा के भजन गाता है। वह हर बार उच्च स्वर से तीन या पाँच श्लोक बोलता है और उसकी आवाज़ चारों ओर सुनाई देती है। सन्ध्या-समय वह इस कर्तव्य को समाप्त कर देता है। इस स्तोत्रगायक को विहार की ओर से प्रायः कोई विशेष पूजा (भेंट) दी जाती है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे मनुष्य हैं जो गन्धकुटी (मन्दिर) की ओर मुँह किये, अकेले बैठे हुए, हृदय मे बुद्ध का

सकता। 'शुद्ध मनुष्य' सम्भवतः 'शुद्ध करनेवाला मनुष्य' है। जापान मे विहार के माली को प्रायः इस नाम से बुलाया जाता है। इसका अर्थ, जैसा कि जूलियन ने मान लिया है (Mem., liv. ii, p. 78) किसी सूरत मे 'ब्राह्मण' नही; और लेग्गी (Legge) का सुझाया हुआ 'विमल' (Fa-hien, chap. iv, p. 18, note) बहुत सन्दिग्ध है। शायद पाली 'आरामिको' (चुल्ल० पृष्ठ २८२) हो।

(ग) 'बच्चे' शब्द, जिसके लिए ग्रन्थकार की अपनी व्याख्या है (परि० १६)—'वे उपासक जो भिक्षु के निवास पर मुख्यतः धर्म्म-ग्रन्थों के अध्ययन के लिए आते है, और जिनकी इच्छा अपने बाल मुँडाने और काला चोला पहनने की होती है,'बच्चे' (अर्थात् "मानव") कहलाते हैं।

अब प्रश्न यह है कि क्या ये शेषोक्त दो, अर्थात् 'शुद्ध मनुष्य' और 'बच्चे', जो धूप और पुष्प उठाते हैं, स्तोत्रगान में भाग लेते हैं ? इसका उत्तर हाँ या ना में दिया जा सकता है। सम्भवतः नहीं। 'जो स्तोत्रगान मे अगुआ होता है' का अर्थ यह नही कि वह व्यक्ति इस पूजा में स्तोत्रगान मे सबका अगुआ है, क्योकि यह नाम पारिभाषिक रूप से भी बर्ता जा सकता है। मैंने इसकी इसलिए व्याख्या की है कि फूजिशीमा के अनुवाद से यह टपकता है मानो एक भिक्षु दूसरे भिक्षुओं के जुलूस का अगुआ बनकर चलता है। इ-त्सिङ्ग केवल एक भिक्षु, 'शुद्ध मनुष्यों', और 'बच्चों' का उल्लेख करता है, और कोई दूसरे भिक्षु उनके साथ नहीं जाते।

गुण-गान करते हैं। कुछ दूसरे लोग ऐसे हैं जो, मन्दिर में जाकर, (एक छोटे से दल मे) अपने शरीरों को सीधा रखते हुए एक-दूसरे के साथ घुटनों के बल बैठ जाते हैं, और, अपने हाथों को पृथ्वी पर रखकर, अपने सिरों से पृथ्वी को छूते हैं, और इस प्रकार 'त्रिगुणित वन्दना' करते हैं। ये हैं पूजा की विधियाँ जो पश्चिम* में (अर्थात् भारत मे) प्रचलित हैं। बूढ़े और दुर्बल भिक्षुओं को पूजा करते समय छोटी-छोटा चटाइयों का उपयोग करने की आज्ञा है। यद्यपि (चीन में), बुद्ध की प्रशंसा के भजन चिरकाल से विद्यमान हैं, परन्तु व्यावहारिक प्रयोजन के लिए उनके उपयोग की रीति भारत† (मूलार्थतः 'ब्रह्मराष्ट्र') मे प्रचलित रीति से कुछ भिन्न है। जो शब्द 'बुद्ध के चिह्न धन्य हैं' के साथ आरम्भ होते और (चीन में) बुद्ध की पूजा के समय व्यवहार किये जाते हैं, वे एक लम्बे निर्विकार स्वर मे गाये जाने चाहिएँ और नियम यह है कि एक बार मे दस या बीस श्लोक इस प्रकार गाये जायँ। इसके

---

* इ-त्सिङ्ग में पश्चिम का अर्थ कभी पश्चिमी भारत नहीं होता, परन्तु इसका अभिप्राय संपूर्ण भारत से होता है। 'पश्चिम' को 'पश्चिमी भारत' समझना, जैसा कि म० फूजिशीमा ने समझा है, भारी भूल है। इस पुस्तक में भारत के लिए जितने नाम आये है यदि उन सबकी तुलना सावधानी-से की जाय, तो यह भूल उत्पन्न नहीं हो सकती। इस वचन में तो इसका अर्थ पश्चिमी भारत हो ही नहीं सकता, क्योंकि नालन्द विहार मध्य भारत में, प्रचीन राजगृह से सात मील उत्तर को है (Cunningham, Anc Geogr., vol. 1, p. 467)।

† पाठ में 'ब्रह्मराष्ट्र' के लिए, जिसका अर्थ सम्पूर्ण भारत है, फन = ब्रह्मन् है, वह परि० २९ में कहता है कि भारत के पाँच खण्डों का सारा प्रदेश 'ब्रह्मन् राज्य' कहलाता है; केवल मध्य भारत का ही यह नाम नहीं, जैसा कि फूजिशीमा ने समझ लिया है।

अतिरिक्त, 'हे तथागत !' के साथ आरम्भ होनेवाली गाथा की ऐसी गाथाएँ, वास्तव में बुद्ध की प्रशंसा के गीत हैं* ।

यह सच है कि, जब स्वर को बहुत लम्बा कर दिया जाता है, तब गाये हुए भजन का अर्थ समझना कठिन होता है। परन्तु एक निपुण व्यक्ति को 'एक सौ पचास श्लोकों का स्तोत्र†', 'चार सौ श्लोकों का स्तोत्र', या कोई और प्रशंसा का भजन रात को गाते सुनना बड़ी ही मनोरम चीज़ है। उस समय एकत्रित भिक्षु उपवास की रात को (जैसी कि उपोसथ की रात होती है) बहुत चुपचाप रहते हैं। भारत में पूजा के समय गाने के लिए अनेक स्तोत्र बड़ी सावधानता-पूर्वक परम्परा से चले आ रहे हैं, क्योंकि प्रत्येक सुधी विद्वान् ने जिस किसी व्यक्ति को सबसे अधिक पूजा के योग्य समझा है उसकी श्लोकों में प्रशंसा की है। ऐसा मनुष्य पूजनीय मातृचेट था, जो अपनी महान् साहित्यिक बुद्धि और सद्‌गुणों के कारण, अपने काल के सभी विद्वानों से बढ़ा हुआ था। उसके विषय में यह कथा सुनाई जाती है। अपने जीवन-काल मे, बुद्धदेव एक बार. अपने शिष्यों को उपदेश देते हुए एक वन में लोगों मे विचर रहे थे। वन की एक बुलबुल ने बुद्ध को, स्वर्ण-गिरि के समान प्रतापशाली और अपने पूर्ण लक्षणों से अलंकृत

---

* इ-त्सिङ्ग जिस बात को स्पष्ट करना चाहता है वह यह है:—बुद्ध की प्रशंसा चीन और भारत दोनों में की जाती है, परन्तु भारतीय इसे एक लम्बे गीत के ढङ्ग से गाते है, और चीनी पाठ या गाथा को साधारण रीति से पढ़ देते है। वह चाहता है कि चीन में पाठ या गाथा गाई जाय।

† डेढ़ सौ श्लोकों और ४०० श्लोकों के स्तोत्र मातृचेट के है। जिन दिनों इ-त्सिङ्ग नालन्द विहार में रहता था (सन् ६७५ ई० से सन् ६८५ तक) उसने १५० श्लोकों का चीनी में अनुवाद, और फिर पीछे से (सन् ७०८ ई०) उसका संशोधन किया। यह 'सार्धशतक-बुद्धप्रशंसागाथा' कहलाती है। ४०० श्लोकों का चीनी में अनुवाद नहीं हुआ था।

देखकर अपना मधुर स्वर निकालना आरम्भ किया, मानों वह उनकी स्तुति गा रही है। बुद्ध ने, अपने शिष्यों की ओर पीछे देखकर, कहा—'यह पक्षी, मेरे दर्शन से हर्षावेश में, बेसुध होकर सुरीले राग अलाप रहा है। इस उत्तम कर्म के कारण, मेरे प्रयाण (निर्वाण) के पश्चात् यह पक्षी मनुष्य-जन्म पायेगा, और इसका नाम मातृचेट* होगा। यह सच्ची चाह के साथ मेरे गुण गान करेगा।' पहले, एक दूसरे धर्म्म के अनुयायी के रूप मे जब वह मनुष्य-जन्म मे आया तब मातृचेट एक यति था, और महेश्वरदेव की पूजा करता था। इस देवता का पुजारी होने के दिनों मे, उसने उसकी प्रशंसा मे स्तोत्र बनाये थे। परन्तु इस बात का पता लग जाने पर कि उसके जन्म† की भविष्यद्वाणी हो चुकी है, वह रंगदार चोला पहनकर बौद्ध-धर्म्म का अनुयायी बन गया, और सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त हो गया। वह बहुधा बुद्ध की प्रशंसा तथा कीर्ति-गान मे ही लगा रहता और अपने पिछले पापों के लिए पश्चात्ताप करता था। तब से वह बुद्ध के उत्तम दृष्टान्त पर चलने का अभि-लाषी रहता था, और उसे खेद होता था कि मैं परम गुरु (बुद्ध) की केवल प्रतिमा ही देख सका हूँ, स्वयं उनके दर्शन नहीं कर सका। इस भविष्यकथन (व्याकरण) की संसिद्धि मे उसने अपने पूरे साहित्यिक बल से बुद्ध के सद्गुणों की प्रशंसा के भजन लिखे।

उसने पहले एक चार सौ श्लोकों का स्तोत्र बनाया, और तत्प-श्चात् एक दूसरा डेढ़ सौ श्लोकों का। वह प्रायः छः पारमितों का वर्णन और जगन्मान्य बुद्ध के उत्कृष्ट गुणों की व्याख्या करता है। ये मनोहर रचनाएँ सुन्दरता मे स्वर्गीय पुष्पों के समान हैं, और उनमें वर्णित उच्च सिद्धान्त माहात्म्य मे पर्वत के उच्च शिखरों की

---

* इ-त्सिङ्ग समझता है 'मातृ = माता, चेट = लड़का या बच्चा'।

† मूलार्थत 'उसके नाम की भविष्यद्वाणी हो चुकी है।'

प्रतियोगिता करते हैं। अतएव भारत में जो भी स्तोत्र बनाता है वह, उसे साहित्य का पिता समझकर, उसी की शैली का अनुकरण करता है। यहाँ तक कि बोधिसत्त्व असङ्ग और वसुबन्धु जैसे मनुष्यों ने भी उसकी बड़ी प्रशंसा की है।

सर्वत्र भारत में यह रीति है कि भिक्षु बननेवाले प्रत्येक मनुष्य को, ज्यों ही वह पाँच और दस शील सुना सकता है, मातृचेट के दो भजन सिखला दिये जाते हैं।

यह क्रम महायान और हीनयान दोनों सम्प्रदायों में प्रचलित है। इसके छः कारण हैं। पहले, इन स्तोत्रों से हमें बुद्ध के महान् और गम्भीर गुणों का ज्ञान हो जाता है। दूसरे, उनसे हमे श्लोक बनाने का ढङ्ग मालूम हो जाता है। तीसरे, उनसे भाषा* की शुद्धता निश्चित हो जाती है। चौथे, उनको गाने से छाती बढ़ती है। पाँचवें, उनका उच्चारण करने से मनुष्य को सभा में घबराहट नहीं होती। छठे, उनके उपयोग से नीरोग जीवन बढ़ता है। जब मनुष्य इन्हें सुनाने मे समर्थ हो जाता है, तब वह दूसरे सूत्र सीखने लगता है। परन्तु ये सुन्दर साहित्यिक रचनाएँ अभी तक चीन† मे नही लाई गई। अनेक लोगों ने उन पर टीकाएँ लिखी हैं, और उनके अनुकरण‡ भी कुछ थोड़े नही। स्वयं बोधिसत्त्व ने, जिस ने ऐसा ही एक अनुकरण रचा था, डेढ़ सौ श्लोकों मे से प्रत्येक के पहले एक-एक श्लोक बढ़ा दिया, जिससे वे सब तीन सौ श्लोक

* शब्दार्थतः 'वे बोलने की इन्द्रिय अर्थात् जीभ को शुद्ध कर देते है।'

† इ-त्सिंग ने १५० श्लोकों का अनुवाद, इस इतिहास के साथ, स्वदेश भेजा था। यह बात वह इसी परिच्छेद के अन्त में कहता है।

‡ यह अनुकरण, जैसा कि म० फूजिशीमा ने मान लिया है, 'समस्या-श्लोक' होगा। मूल पाठ में जो शब्द है उसका अर्थ चीन में 'मित्रांतर का अनुकरण' है।

हो गये, और 'मिश्रित' भजन (सम्भवतः संयुक्त प्रशंसा) कहलाते हैं। मृगदाव के शाक्यदेव* नामक एक विश्रुत भिक्षु ने 'जिन' के प्रत्येक श्लोक के साथ फिर एक-एक श्लोक और जोड़ दिया, इसलिए उनकी संख्या चार सौ पचास श्लोक हो गई। ये 'दुहरे संयुक्त' स्तोत्र कहलाते हैं।

जो लोग धार्म्मिक कविताएँ बनाते हैं वे इन्हीं का नमूना सामने रखते हैं। बोधिसत्त्व नागार्जुन ने कविता मे एक पत्र लिखा था। यह 'सुहृल्लेख†' अर्थात् 'घनिष्ठ मित्र के नाम पत्र' कहलाता है।

---

* हो सकता है कि यह शक्रदेव हो, जैसा कि म० फूजिशीमा ने माना है, परन्तु, जैसा कि इ-त्सिङ्ग ने लिखा है, इसके शाक्यदेव होने की अधिक सम्भावना है। इ-त्सिङ्ग प्रायः संस्कृत शब्दों मे बड़ा दृढ़ है। यह नहीं हो सकता था कि वह, पुराने अनुवादकों की तरह, शाक्य और शक्र एक ही अक्षरों में लिखे। See 'India, what it can teach us ?' note on 'Renaissance,' p 303 काश्यप भी अपनी टीका मे शाक्यदेव ही लिखता है।

† यह नागार्जुन की एक छोटी सी प्रसिद्ध कविता है। इसका एक तिब्बती अनुवाद, और तीन चीनी अनुवाद मिलते हैं। तिब्बती अनुवाद की तिथि निश्चित नहीं, परन्तु चीनी अनुवादों की तिथियाँ सर्वथा निश्चित हैं; पहला अनुवाद गुणवर्मन् ने सन् ४३१ ई० में (Nanjio's Catal, No. 1464) किया, दूसरा सन् ४३४ ई० मे सङ्घवर्मन् ने (No. 1440), और तीसरा सन् ६७३ ई० में स्वयं इ-त्सिङ्ग ने, जब वह पहले पहल भारत की ताम्रलिप्ति नगरी में आया था (No. 1441; यहाँ नञ्जिओ सन् ७००-७१२ तिथि देता है, क्योंकि इ-त्सिङ्ग की यात्रा-तिथि उसके समय में अभी मालूम नहीं हुई थी।

तिब्बती अनुवाद का एक अँगरेज़ी अनुवाद, कुछ वाद-प्रतिवाद सहित, डाक्टर वेञ्ज़ल ने पाली टेक्स्ट सोसायटी के जर्नल मे, (१८८६, पृष्ठ १-३१) छपवाया था। उन्होंने एक जर्मन अनुवाद भी निकाला है। एक दूसरा अँगरेज़ी अनुवाद, मूल चीनी पाठ सहित, श्रीयुत स० बील (१८९२, लूज़क एण्ड को०) ने प्रकाशित किया है। तिब्बती मे १२३ और चीनी में १९३ श्लोक है; सम्भवतः तिब्बती की संख्या संस्कृत-श्लोकों की संख्या को दिखलाती है।

यह उसके जि-इन-त-क (जेतक) नाम के बूढ़े दानपति* को सम-

---

* इस बात का अभी तक निश्चय नहीं हुआ कि राजा सो-तो-फो-हान-न जिसका निज नाम जि-इन-त-क था, और जिसके नाम नागार्जुन ने पत्र लिखा था, कौन था। उसके विषय में जो जानकारी मिलती है उसका सारांश यह है:—

१ चीनी स्रोत। ह्यू न-थ्साङ्ग उसे दक्षिण कोसल का राजा कहता, और नागार्जुन तथा राजा के विषय मे एक उपाख्यान देता है। उसके अनुसार, राजा का नाम सद्वाह है; इसके अनुरूप चीनी शब्द 'इन-चिङ्ग' हैं जिनका अर्थ 'अच्छे लोगों का नेता' है (Julien, Memoires, Liv X, p. 95)। इ-त्सिङ्ग, अपने सुहल्लेख के अनुवाद में, कहता है: 'यह एक कविता है जो नागार्जुन ने पत्र के रूप में अपने घनिष्ठ मित्र, शेङ्ग-शीह के राजा को लिखी थी'। शेङ्ग-शीह का अर्थ है 'पण्डितों पर सवार' या 'पण्डितों द्वारा उठाया हुआ'; यह शायद सद्वाहन हो जिसका व्यवहार यहाँ उसके देश के नाम के रूप में हुआ है। तुलना कीजिए, इ-त्सिङ्ग का जीमूत-वाहन, अर्थात् शेङ्ग-युन, या 'बादल का उठाया हुआ' का अनुवाद। यह सच है कि शेङ्ग-शीह के लिए एक दूसरा पाठ, अर्थात् शेङ्ग-तु, है, और बील महाशय ने इसे सिन्धु मान लिया है, परन्तु, जब हम देखते है कि इ-त्सिङ्ग सिन्धु शब्द को भिन्न-प्रकार से लिखता था, तब उसका यह अनुमान ठहर नहीं सकता। इसके अतिरिक्त, जहाँ तक मुझे मालूम है, उल्था करने के लिए शेङ्ग का कभी उपयोग नहीं हुआ; जूलियन को भी ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिला जहाँ किसी संस्कृत शब्द के उल्था मे इस अक्षर का उपयोग हुआ हो, क्योंकि वह अपनी 'विधि' मे इसका स्वरविज्ञान-सम्बन्धी मूल्य कहीं नहीं देता। परन्तु, चूँकि हमें भारत मे सद्वाहन कहलानेवाला कोई राजा नहीं मिलता, इसलिए अभी तक हम इसे अनिश्चित ही छोड़ते है।

२ तिब्बती स्रोत। तारनाथ के अनुसार (देखो Geschichte des Buddhismus, ubersetzt von Schiefner, pp. 2, 71, 303, and 304), राजा का नाम उदयन (या उन्नयन) था, और वह अान्तिवाहन भी कहलाता था, जिसे शेफ़नर (Schiefner) सन्देह से यूनानी नाम एण्टियोचोस से मिला देता है, परन्तु इसका एक दूसरा पाठ, अर्थात् शान्तिवाहन, भी है। फिर, उदयन उस समय जेतक कहलाता था जब,

र्पित किया गया था। यह दानपति दक्षिण भारत में एक बड़े देश का, जिसका नाम सो-तो-फो-हान-न (सद्वाहन, या शातवाहन) है,

---

उसके लड़कपन में, उसे नागार्जुन मिला था। देखिए प्रोफेसर मेक्समुलर का पत्र, 'जर्नल आव पाली टेक्स्ट सोसाइटी', १८८३, पृ० ७५।

ऊपर दी हुई जानकारी की सहायता से हम सो-तो-फो-हान-न को सद्वाहन, और जि-इन-त-क को जेतक ठहरा सकते हैं। और अधिक विवाद के लिए देखिए Max Muller's letter above referred to, Dr Wenzel's Suhrillekha (Journal of Pali Text Society, 1886), Nanjio's note (his Catal. No. 1464), and Mr Beal's Suhrillekha 1892, Luzac & Co). मैं यहाँ यह भी बता दूँ कि बील ने जि-इन-त-क को सिन्धुक का रूपान्तर ठहराने, और उसे एक पह्लव राजा बनाने का यत्न किया, परन्तु दुर्भाग्य से फिर इ-त्सिङ्ग सिन्धुक को इससे भिन्न प्रकार से लिखता है (देखिए उसका एकशत-कर्मन्, नञ्जियो की पुस्तक-सूची संख्या ११३१, जापानी संस्करण, पुस्तक ७, पृष्ठ ६५)।

क्योंकि अभी इस नाम के मूल का ठीक निश्चय नहीं हुआ, इसलिए यहा यह बता देना अच्छा होगा कि सो-तो-फो-हान-न (जापानी, श-त-ब-कन-न) सद्वाहन की अपेक्षा शातवाहन के अधिक निकट है। फिर, एक अनुमान भी गढ़ा जा सकता है कि वास्तव में यह शातवाहन था, और बिगड़कर, जैसे कि शातकर्णि पाली में सद्कणि हो गया है, सद्वाहन या सद्वाहन के सदृश कुछ बन गया है, और चीनियों ने, मूल को न जानने से, इस नाम को एक काल्पनिक व्युत्पत्ति देकर इसका अर्थ 'अच्छे लोगों का नेता' कर लिया है। तिब्बतियों ने शान्तिवाहन या आन्तिवाहन का कैसे उल्लेख कर दिया? हमें विलसन महाशय के ग्रन्थों (vol. iii, p. 181, as quoted by Prof Max Muller) से पता लगता है कि शातवाहन विक्रमादित्य के शत्रु शालिवाहन का पर्याय है। शकाब्द, जो सन् ७८ से आरम्भ होता है, शालिवाहन संवत् भी कहलाता है। 'ल' को भूल से 'न्त' पढ़ने से, शालिवाहन को शायद शान्तिवाहन पढ़ लिया गया हो; और पीछे से 'शा' के 'आ' पढ़े जाने से यह नाम आन्तिवाहन हो गया हो। एक ही व्यक्ति के इतने नाम होना बड़ी विलक्षण बात है। हमें किसी भारतीय स्रोत से इसकी पुष्टि की प्रतीक्षा करनी चाहिए। Compare nd. Ant. 1873I, 10

राजा था। उस रचना का सौन्दर्य आश्चर्यजनक है और सन्मार्ग के विषय में उसके उपदेश उत्साहवर्धक हैं। उसकी दया उसकी बन्धुता से बढ़ी हुई है, और लेख के अर्थ अनेक हैं। वह लिखता है कि हमें 'तीन पूज्यों*' (अर्थात् त्रिरत्न, तिब्बती सुहृल्लेख, श्लोक ४)

---

* इ-त्सिङ्ग इस परिभाषा का उपयोग इसे 'तीन बहुमूल्य वस्तुओं' अर्थात् त्रिरत्न से अभिन्न समझकर करता है। उसके इस इतिहास में यह सात बार आया है, और, दो जगहों के सिवा, उसका अर्थ स्पष्ट नहीं। इस स्थान में इसका अर्थ त्रिरत्न के सिवा और कुछ नहीं होना चाहिए, क्योंकि वह सुहृल्लेख का स्थूल संक्षेप दे रहा है, और हम देखते हैं कि उस पुस्तक के आरम्भ में तीन रत्नों, अर्थात् बुद्ध, धर्म्म, और संघ का उल्लेख है, और फिर, पैंतीसवें परिच्छेद में, पूर्वापर से प्रकट होता है कि इस परिभाषा का अर्थ त्रिरत्न है। म० फूजिशीमा ने इसका अर्थ अमिताभ, अवलोकितेश्वर, और महास्थाम समझा है (Journal Asiatique, Nov. 1888, p. 417)। परन्तु नागार्जुन या अश्वघोष के काल में इन तीन धर्म्मात्माओं की त्रिमूर्ति बनी थी और उसने प्रधान स्थान पाया था, इसमें सन्देह है। अमिताभ और अवलोकितेश्वर सुहृल्लेख में मिलते हैं, परन्तु महास्थाम नहीं। फ़ाहिएन अपने 'वृत्तान्त' में इस परिभाषा, 'तीन पूज्यों,' का उपयोग एक बार करता है। प्रोफ़ेसर लेग्गे ने ठीक तौर पर इसे 'त्रिरत्न' समझा है (Fa-hien, p. 116, note); वैसे ही बील ने अपने सुहृल्लेख (पृष्ठ १) में किया है।

ऊपर का लेख लिख चुकने के पीछे मुझे इ-त्सिङ्ग के किये हुए मूलसर्वास्तिवाद-निकाय के एकशतकर्मन् के अनुवाद में (Nanjio's Catal., No.-1131) अपने कथन की पुष्टि में एक बहुत ही सन्तोषजनक वचन मिला है। वह इस प्रकार है:—

(१) मैं बुद्ध की शरण लेता हूँ क्योंकि वह दो-पैरवालों में सबसे पूज्य है।

(२) मैं धर्म्म की शरण लेता हूँ क्योंकि वह कामना से मुक्ति दिलानेवाली चीज़ों में सबसे अधिक पूज्य है।

(३) मैं सङ्घ की शरण लेता हूँ क्योंकि वह सभाओं में सबसे अधिक पूज्य है। यही कल्पना दीपवंस ११, ३१ में मिलती है; वहाँ राजा अशोक कहता है —

का सम्मान और उनमे विश्वास करना चाहिए और अपने माता-पिता का पालन-पोषण करना चाहिए (श्लोक ६)। हमे शील (श्लोक ११) रखना, और पाप-कर्मों से बचना (श्लोक १०—१२) चाहिए।

हमे मनुष्यों को तब तक अपना सङ्गी नहीं बनाना चाहिए जब तक कि हम उनका चरित्र न जान लें। हमें धन और सौन्दर्य को अति मलिन वस्तुएँ समझना चाहिए* (श्लोक २५, इत्यादि)। हमे अपने गृह-कार्यों की भली भाँति व्यवस्था करनी चाहिए, और सदा स्मरण रखना चाहिए कि संसार स्थायी नहीं। वह प्रेतों, और तिर्यग्योनि की अवस्थाओं का पूर्ण रूप से वर्णन करता है, और वैसे ही देवों, मानवों, और नारकी आत्माओं की अवस्थाएँ बताता है। वह और लिखता है कि चाहे हमारे सिर पर आग जल रही हो, हमे इसे बुझाने मे कोई समय नष्ट नहीं करना चाहिए, किन्तु, 'कारणत्व की शृङ्खला' की सचाइयों का चिन्तन करते हुए, नित्य अपने मोक्ष पर दृष्टि रखनी चाहिए (बारह निदान†, श्लोक १०६—११२)।

वह हमे तीन प्रज्ञाओं‡ पर आचरण करने का उपदेश देता है ताकि हम अष्ट आर्य मार्गों को स्पष्ट रूप से समझ ले, और वह हमे

'बुद्धो दक्खिणेय्यान्' अग्गो, धम्मो अग्गो विरागिनम्।
सङ्घो च पुञ्ञक्खेत्तग्गो, तीणि अग्गा सदेवके।

'दक्षिणा दिये जाने योग्य मनुष्यों मे बुद्ध सबसे आगे है, विरागों मे धर्म्म सबसे उत्तम है, और पुण्यक्षेत्रों मे सङ्घ सबसे आगे है; मानवों और देवों के लोक मे ये तीन सर्वोत्तम हैं।'

* शब्दार्थ—'सारे धन और सौन्दर्य के विषय मे हमें मलिनता का ध्यान रखना चाहिए।'

† बारह निदानों के लिए देखो प्रोफेसर ओल्डनबर्ग का 'बुद्ध', अध्या० २, पृष्ठ २२३; आठ मार्गों के लिए पृष्ठ १२८, २११, चार सत्यों के लिए, पृ० २०६, और प्रोफेसर ह्राइस डेविड्स कृत 'बुद्धिज़्म' पृष्ठ १०६।

‡ अर्थात् (१) श्रुत से (२) चिन्ता से, (३) भावना से प्राप्त हुई प्रज्ञा। देखो कसावरा का धर्म्म-सग्रह।

चार आर्य-सत्यों की शिक्षा देता है ताकि हम सिद्धि की दुहरी* प्राप्ति का अनुभव कर लें। अवलोकितेश्वर की तरह हमे मित्रों और शत्रुओं मे कोई भेद नही रखना चाहिए (तुलना कीजिए श्लोक १२०)। तब हम, बुद्ध अमितायुस् (या अमिताभ, श्लोक १२१) के प्रताप से, परलोक मे सदा के लिए सुखावती† मे रहेंगे। वहाँ से मनुष्य मर्त्यलोक पर मोक्ष की श्रेष्ठ शक्ति का भी प्रभाव डाल सकता है।

भारत मे विद्यार्थी लोग शिक्षा आरम्भ करते ही इस पत्र को कविता मे याद कर लेते हैं, परन्तु बहुत पक्के भक्त आयु-पर्यन्त इसे अपने अध्ययन का एक विशेष विषय बना रखते हैं। जिस प्रकार, चीन मे, युवक भिक्षु गण अवलोकितेश्वर के विषय मे सूत्र (सद्धर्म-पुण्डरीक‡ मे अध्याय २४) और बुद्ध का अन्तिम उद्बोध (संक्षिप्त महापरिनिर्वाणसूत्र§) पढ़ते हैं, जिस प्रकार सामान्य विद्यार्थी 'एक सहस्र (चीनी) अक्षरों की रचना,' (चीन-तू-वेन)|| और 'पितृभक्ति की पुस्तक' (हि्सयाओ किङ्ग)¶ याद करते हैं, ठीक उसी प्रकार ऊपर लिखी रचना का अध्ययन (भारत मे) बड़े उत्साह के साथ किया

---

* काश्यप कहता है कि सिद्धि की दुहरी प्राप्ति उस बड़ी प्रज्ञा और बड़ी दया की प्राप्ति है जो कि एक बुद्ध में होती है।

† आनन्द-धाम; इस पर देखिए मेक्स मुलर (भूमिका, सुखावती-व्यूह)।

‡ अर्थात्, समन्तमुख-परिवर्त अवलोकितेश्वर-विकुर्वण निर्देश; कर्न (Kern) का अध्याय २४, कुमारजीव की सामान्य चीनी पुस्तक का अध्याय २५ Nanjio's Catal., No. 137-अभी तक भी पूर्व मे इसका बहुत पाठ होता है।

§ Nanjio's Catal, No 122।

|| चीनी की एक स्कूली पुस्तक, जिसे चोऊ हिसङ्ग-स्सू ने सन् ५०४ ई० के लगभग लिखा था।

¶ शिक्षा की एक और सामान्य पुस्तक। इसका अनुवाद प्रोफ़ेसर लेग्गे ने किया है (Prof Legge, S B. E., vol. iii)।

जाता है, और इसे आदर्श साहित्य समझा जाता है। जातक-माला* नामक इसी प्रकार का एक दूसरा ग्रन्थ है। जातक का अर्थ है 'पूर्व जन्म', और 'माला' का 'हार'; भाव यह है कि बोधि-सत्त्व (पीछे से बुद्ध) के पूर्व जन्मों मे किये हुए कठिन कार्यों की कथाएँ एक स्थान मे पिरोई (इकट्ठी की) गई हैं। यदि इनका (चीनी मे) अनुवाद किया जाय तो दस से अधिक ग्रन्थ† बन जायँगे। जन्म-कथाओं की रचना पद्य मे करने का उद्देश्य एक सुन्दर शैली मे, जो सर्वसाधारण को प्यारी और पाठकों को चित्ताकर्षक मालूम हो, सार्वत्रिक मोक्ष की शिक्षा देना है। एक बार राजा शीलादित्य‡ ने, जिसे साहित्य से अत्यंन्त प्रीति थी, आज्ञा दी—'हे कविता के अनुरागियो, कल सबेरे अपनी कुछ कविताएँ लाकर मुझे दिखलाओ।' जब उसने उन्हें इकट्ठा किया तब उनकी पाँच सौ

---

* आर्य्य शूर की जातकमाला का संस्कृत पाठ प्रोफेसर कर्न ने हार्वर्ड ओरियण्टल सीरीज़ (Vol. I प्रोफेसर लनमैन द्वारा सम्पादित, १८९१) मे प्रकाशित किया था।

इसका चीनी त्रिपिटक मे अनुवाद मिलता है, पर यह मूल पाठ के साथ बहुत नही मिलता। देखो नञ्जिओ की पुस्तक-सूची सं० १३१२; इसका चीनी मे अनुवाद सन् ९६०—११२७ ई० मे हुआ था।

† प्रोफेसर कर्न के संस्करण मे १३४० श्लोक और चौंतीस जातक हैं, परन्तु चीनियों के चार ग्रन्थखण्ड और केवल चौदह जातक है (Nanjio's Catalogue, No. 1312)। इस पाठ की पालि और चीनी पाठों के साथ तुलना बड़े महत्त्व की होगी।

‡ कनौज का राजा शीलादित्य युङ्ग हुई काल (सन् ६५०—६५५ ई०) के अन्त के लगभग (सन् ६५० ई० नहीं, सन् ६५५ ई०) मर गया। See Beal, Life of Hiuen Thsang, P. 156; Julien, Vie, iv, P. 215, and Max Muller, India, what can it teach us ? P 286

गठरियाँ* बनी, और परीक्षा करने पर, जान पड़ा कि उनमें से बहुत सी जातकमालाएँ हैं। इस वृत्तान्त से मनुष्य समझता है कि जातकमाला प्रशंसात्मक कविताओं के लिए सबसे सुन्दर (प्रिय) विषय है। दक्षिणी सागर में दस से अधिक द्वीप हैं; यहाँ भिक्षु और सामान्य लोग दोनों, जातकमाला और उपर्युक्त श्लोक† पढते हैं; परन्तु जातकमाला का अभी तक चीनी मे अनुवाद‡ नही हुआ। राजा शीलादित्य ने बोधिसत्त्व जीमूतवाहन§ (चीनी 'बादल पर सवार')

---

* चीनी शब्द का अर्थ है 'पटरियों के बीच तह किया हुआ'। संस्कृत हस्तलेख इस प्रकार रक्खे जाते थे। म० फूजिशीमा का इसका अर्थ श्लोक समझना ठीक नहीं।

† अर्थात् १५० श्लोक, ४०० श्लोक, और सुहृल्लेख।

‡ उसके बाद सन् ९६०—११२७ मे इसका अनुवाद हो गया था। क्योंकि आर्य्यशूर की तिथि का अभी तक निश्चय नही हुआ। मैं यहाँ बता देता हूँ कि उसकी एक पुस्तक का चीनी में अनुवाद सन् ४३४ ई० में हुआ था, इसलिए हम उसे इसके बाद का नहीं ठहरा सकते।

§ निस्सन्देह यह बौद्ध नाटक नागानन्दम् है, इसका सम्पादन सन् १८६४ मे कलकत्ता में चन्द्र घोष ने, और बम्बई मे सन् १८९३ में गोविन्द ब्रह्मे और परांजपे ने किया था। इसका एक अनुवाद सन् १८७२ में श्रीयुत बोयड ने किया, और प्रो० कोवल ने उसकी भूमिका लिखी। यद्यपि नान्दी मे, रत्नावली की तरह, यह नाटक श्रीहर्षदेव (= शीलादित्य) का ठहराया गया है, परन्तु अनेक कारणों से प्रोफेसर कोवल इसे धावक का मानता है। वह इसकी तिथि भी पहले मानता है। अब हमें मालूम है कि यह नाटक इ-त्सिङ्ग के प्रवास (सन् ६७१–६९५) के बाद का नहीं हो सकता, और शीलादित्य की मृत्यु सन् ६५५ ई० के लगभग हुई। प्रोफेसर वीबर ने इस विषय पर Literarisches Cen tralblatt, 8 Juni, 1872, No. xxiii, p 614 मे विचार किया है। एकैडेमी (Academy, Sept. 29, 1883, No. 595, pp. 217, 218) मे इन वाक्यों के विषय में श्रीयुत स० बील का पत्र-व्यवहार केवल एक भूल है। वह बताता है कि शीलादित्य

की कथा को, जिसने एक नाग के स्थान मे अपने आपको सौंप दिया था, श्लोकबद्ध किया था। इस अनुवाद को सङ्गीत (शब्दार्थ, तार और बाँसुरी) का रूप दिया गया था। वह इसे बाजों के साथ गवाता था और साथ-साथ नृत्य और अभिनय भी होता था। इस प्रकार उसने इसे अपने समय मे सर्वप्रिय बनाया। महासत्त्व चन्द्र (मूलार्थत: 'चन्द्र अधिकारी', सम्भवत: चन्द्र दास) ने, जो पूर्वी भारत मे एक विद्वान् मनुष्य था, राजा विश्वान्तर (चीनी, पि-यु-अन-त-र)* के विषय मे, जिसे अब तक सुदान कहा जाता है, एक

स्वयं नाटक में जीमूतवाहन बना करता था—यह सर्वथा असम्भव है। जीमूतवाहन की कहानी कथा-सरित-सागर में वर्णित है। विवाद के लिए देखिए M. S. Levi, Le Theatre Indien, 1890, pp 190—195, 319, 320.

* निस्सन्देह यह विश्वान्तर (=विश्वन्तर, Kern)-जातक के विषय में, जो बुद्ध का एक के सिवा अन्तिम जन्म था, गीत है। यह जातक कर्न महाशय की जातकमाला (९ वीं) और मौरिस के चरियापिटक (९ वां) में मिलता है। See Childer's, S V Vessantara यह बौद्धों मे सबसे अधिक प्रसिद्ध जान पड़ता है, क्योंकि यह भारत के सभी बौद्ध यात्रियों के मुखों से सुनाई देता है :—(१) फ़ाहियन अपने भ्रमण में सुदान (=वेसन्तर) की ओर संकेत करता है (Legge's, ch xxxviii,p 106); (२) सुङ्ग युन कहता है कि जब हमें वरुप के निकट 'श्वेत गज-मन्दिर' में इस राजा की व्यथाओं का चित्र दिखलाया गया, तब मैं और मेरे साथी आँसुओं को न रोक सके (Beal, Catena, p. 4); ह्यून-त्साङ्ग उसका उल्लेख करता है (Julien, Memoires, liv. ii, p. 122)। देखो श्री० र० ल० मित्र कृत 'नेपालीज़ बुद्धिस्ट लिटरेचर', पृष्ठ ४०, और हार्डी-कृत 'मैनुयल आँव बुद्धिज़्म', पृष्ठ ११६—१२४)।

म० फूजिशीमा के फ्रांसीसी अनुवाद में इन वाक्यों का सर्वथा अशुद्ध अर्थ समझ लिया गया था; देखो Journal Asiatique, Nov. 1888, p. 425. उसने पि-यु-अन-त-र को विश्वान्तर समझने के स्थान में, पि-यु को अवदानशतक, और अन-त-र को आन्ध्र समझ लिया जान पड़ता है। मैं

काव्यमय गीत की रचना की और भारत के पाँचों देशों मे सभी लोग इसे गाते और नाचते हैं। अश्वघोष ने भी कुछ काव्यमय गीत और सूत्रालङ्कार शास्त्र* लिखा था। उसने बुद्धचरितकाव्य भी रचा था। इस विस्तीर्ण ग्रन्थ का यदि अनुवाद किया जाय तो इसके दस से अधिक पुस्तक-खण्ड† बन जायँगे। इसमे तथागत के

नहीं जानता कि हमारे पाठ के पि-यु का अर्थ अवदान, और उससे भी कम अवदानशतक, कैसे हो सकता है। यह सच है कि जूलियन अपने 'ह्यू नत्साङ्ग' (Index, p. 494, last volume) में 'पि-यु', 'लस अवदान' देता है; परन्तु उस पि-यु को हमारे ग्रन्थ के पि-यु के साथ कभी नहीं मिला देना चाहिए, क्योंकि पूर्वोक्त अवदान का, जिसका अर्थ दृष्टान्त है, अनुवाद है, और शेषोक्त केवल किसी संस्कृत शब्द का रूपान्तर है, जिस का अर्थ तब तक मालूम नहीं हो सकता जब तक मूल संस्कृत शब्द का पता न लग जाय। पि-यु-अन-त-र विश्वान्तर के सिवा और किसी के लिए नहीं हो सकता। यह राजा, चीनी लेखकों के अनुसार, सुदान भी कहलाता था। See Koppen, Religion des Buddhas, i, 325, note. विश्वान्तर-जातक के संस्कृत पाठ मे सुदान राजा के नाम के रूप में नही मिलता।

* इस ग्रन्थ का चीनी में अनुवाद कुमारजीव ने सन् ४०५ के लगभग किया था (See Nanjio's Catal., No 1182)। म० फूजिशीमा अलङ्कारलिक-शास्त्र (अलङ्कार-टीका ?) लिखता है, पर शायद उसका अभिप्राय 'अश्वघोष के सूत्रालङ्कार-शास्त्र' से है। अलङ्कार-टीका असंग की रचना है (Nanjio's Catal., No 1190)।

† यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रो० कोवल ने Anecdota Oxoniensia में प्रकाशित किया था, और उन्होंने इसका अनुवाद भी किया था। इस महा-काव्य के चीनी और तिब्बती अनुवाद, दोनो अठाईस अध्यायों में, मिलते है। सङ्घवर्मन् के चीनी उल्था (सन् ४१४-४२१ ई०) का अनुवाद बील ने (S. B E., vol. xix) किया है; बील की बाँट के अनुसार, चीनी उल्था पांच भागो में है और इसमे लगभग २३१० श्लोक हैं, परन्तु प्रोफ़ेसर कोवल के संस्कृत पाठ में कोई १३६८ श्लोक हैं (यद्यपि पिछला भाग पीछे से लिखा गया है)। इ-त्सिङ्ग कहता है कि इसके दस से अधिक ग्रन्थखण्ड बन जायँगे। साधारणतः एक न्थखण्ड से उसका तात्पर्य ३०० श्लोकों से होता है; यदि

जीवन के—उस समय से लेकर जब वह अभी राजभवन मे ही था, शाल वृक्षों की पंक्ति के नीचे उसके अन्तिम समय तक—मुख्य सिद्धान्तों और कार्यों का वर्णन है। इस प्रकार सभी घटनाएँ एक ही कविता मे बता दी गई हैं।

यह भारत के पाँचों भागों और दक्षिणी सागर के देशों मे सर्वत्र पढ़ा या गाया जाता है। वह थोड़े से शब्दों मे अनेक प्रकार के अर्थ और भाव भर देता है, जिससे पाठक के मन को बड़ा आनन्द प्राप्त होता है और वह कविता को पढ़ते-पढ़ते थकता नहीं। इसके अतिरिक्त, इस पुस्तक को पढ़ना एक पुण्य कार्य समझना चाहिए, क्योंकि इसमे श्रेष्ठ सिद्धान्त संक्षिप्त रूप मे दिये हुए हैं। मैं आपके पास 'डेढ़ सौ श्लोकों का स्तोत्र' और 'नागार्जुन का पत्र' (सुहृल्लेख) भेज रहा हूँ। इन दोनों का विशेष प्रयोजनों के लिए अनुवाद किया गया है और मुझे विश्वास है कि जो लोग प्रशंसात्मक गीतों को पसन्द करते हैं वे बहुधा इनको पढ़ेंगे और इनका अनुष्ठान करेंगे।

इस दशा मे भी वैसा ही हो तो जिस बुद्धचरित्र काव्य का उल्लेख इ-त्सिङ्ग करता है उसमे २०० × १० = २००० श्लोक होगे। ऐसा जान पडता है कि इ त्सिङ्ग धर्मरक्ष के उस समय मिलनेवाले अनुवाद को भूल गया था। संस्कृत की चीनी मूल पाठ के साथ सूक्ष्म तुलना से दोनो पाठो की अनेक संदिग्ध बातों पर प्रकाश पड़ेगा. हम देख लेंगे कि बील का अनुवाद कहाँ तक युक्तिसंगत है। उसके उल्था ने कुछ विद्वानों के बताये हुए अनेक संशोधनों को प्रमाणित करने में पहले ही काम दिया है; विशेष रूप से देखिए कीलहार्न-कृत अश्वघोष का बुद्धचरित (Aus den Nachrichten der K. Gesellschaft der Wissenschaften zu Gottingen, Philologischhistor. Klasse, 1894,No 3); पिछले भाग का बील के अनुवाद के साथ सम्बन्ध है।

तैंतीसवाँ परिच्छेद

विधिविरुद्ध वन्दना

वन्दन के विषय मे स्पष्ट नियम हैं। दिन और रात में छः बार उपासना-विषयक अभ्यास करना ठीक है। इसके लिए या तो फुर्ती से हाथ-पैर हिलाने चाहिएँ, या एक कमरे में चुपचाप निवास करते हुए भिक्षा लाना, धूताङ्गों को पूरा करना और आत्म-सन्तोष के सिद्धान्त पर आचरण करना चाहिए। और उचित यह है कि केवल तीन कपड़े (त्रिचीवर) धारण किये जायँ और विलास की कोई वस्तुएँ न रक्खी जायँ; संसार के प्रलोभनों से भागते हुए, मनुष्य को सदा मोक्ष (शब्दार्थ, 'जन्म न लेने') का ही ध्यान रखना चाहिए। सम्प्रदाय के एक ही नियमों और प्रक्रियाओं को विविध रीतियों से करना ठीक नही है। भिक्षु का चोला पहनने-वाले मनुष्य के लिए बाज़ार जैसे स्थानों मे साधारण भक्तजनों को प्रणाम करना भी ठीक नहीं। जाइए, और विनय-पुस्तकों को देखिए; उनमे ऐसे आचरणों का निषेध है। बुद्ध ने कहा—"केवल दो समूह ऐसे हैं जिनको तुम्हें प्रणाम करना चाहिए। एक तो, तीन रत्न, दूसरा, बड़े भिक्षु।" कुछ लोग ऐसे हैं जो लोगों से रुपया लेने के लिए बुद्ध की मूर्त्ति को राजमार्ग में ले आते हैं और इस प्रकार पूजा की पवित्र चीज़ों को मैल और धूल से अपवित्र करते हैं। फिर कुछ दूसरे लोग ऐसे हैं जो अपने शरीर को झुकाते, मुख को घायल करते, जोड़ों को काट डालते या खाल को हानि पहुँचाते हैं

और इस प्रकार मानो किसी अच्छे उद्देश के लिए (इन्द्रिय-संयम के चिह्नों का) झूठा दिखलावा करके उपजीविका पैदा करना चाहते हैं। ऐसी रीतियाँ भारतवर्ष में नहीं हैं। भविष्य में ऐसे व्यापारों से लोगों को भटकने मत दो!

चौंतीसवाँ परिच्छेद

पश्चिम में शिक्षा की रीति

महामुनि (बुद्ध) के एक ही वाक्य मे 'तीन सहस्र' लोकों (की सभी भाषाओं) का समावेश है। यह 'पाँच मार्गों*' पर चलनेवालों की योग्यता के अनुसार, सात विभक्ति और नौ पुरुष प्रत्ययों† (के साथ समाप्त होनेवाले शब्दों) मे सिखला दिया जाता है, और मोक्ष का एक साधन है। यह केवल विचार पर ही असर करनेवाले सिद्धान्त का भण्डार है और स्वर्ग का राजा (देवानाम्-इन्द्र) अनिर्वचनीय भावों की इस पवित्र पुस्तक की रक्षा करता है। परन्तु जब सिद्धान्त को शब्दों मे प्रकट कर दिया जाय, और उसका अर्थ (उदाहरणार्थ, चीनी मे) कर दिया जाय, तब चीन के लोग मूल शब्द‡ के अक्षरों (मे समाये हुए अर्थों) को समझ सकते हैं।

---

* पाँच जातियाँ—देव, मानव, पशु, प्रेत, और नरक।

† सात विभक्तियों को व्याकरण में 'सुप्' कहते हैं। देसी वैयाकरण केवल सात विभक्तियाँ मानते हैं, और सम्बोधन को प्रथमा विभक्ति के अन्तर्गत कर देते हैं। नौ प्रत्ययों को व्याकरण मे 'तिङ्' कहते हैं, जिसका अर्थ है धातु की रूप-सिद्धि मे सारे पुरुष प्रत्यय। म० फूजिशीमा इसका अनुवाद 'विभक्ति' करता है, जो कि भूल है।

‡ यह वाक्य सरल नहीं। 'मूल शब्द के अक्षर' कहना वही बात है जो 'संस्कृत भाषा' कहना। कसावरा ने इसका अनुवाद 'धातु-शब्द के अक्षर' किया है परन्तु उसे अभी इसमें सन्देह है; फूजिशीमा ने इसका अनुवाद 'les lettres qui produisent des sons' दिया है, परन्तु वह 'चीन' छोड़ गया है, जो कि पाठ में है। मेरा अनुवाद टीकाकार काश्यप के अर्थ के अनुसार है।

शब्दों से प्रकट करने से मनुष्य की बुद्धि उसकी विविध अवस्थाओं और मानसिक क्षमताओं के अनुसार विकसित होती है। यह मनुष्य को घबराहट से निकालकर सत्य के अनुरूप बनाता और उसे निर्वाण प्राप्त कराता है।

परमार्थ-सत्य शब्द या वाणी की पहुँच से परे है, परन्तु छिपे हुए सत्य (संवृति-सत्य) की व्याख्या शब्दों या वाक्यों-द्वारा की जा सकती है।

[इ-त्सिङ्ग की टीका*]—परमार्थ-सत्य, 'सबसे बड़ी सचाई', संवृति-सत्य, 'गौण या छिपी हुई सचाई'। पुराने अनुवादकों ने शेषोक्त का अर्थ 'सांसारिक सचाई' किया है, परन्तु इससे मूल के अर्थ पूर्ण रूप से प्रकट नहीं होते। अर्थ यह है कि साधारण बातें वास्तविक अवस्था को छिपा लेती हैं, उदाहरणार्थ, घड़े जैसी प्रत्येक वस्तु में, वास्तव में केवल मिट्टी होती है, परन्तु लोग झूठे विशेषण से उसे घड़ा समझते हैं। शब्द की अवस्था में सब मधुर स्वर शब्द ही हैं, पर लोग भूल से उसे गीत समझते हैं। केवल आन्तरिक बुद्धि ही काम करती है, और कोई व्यक्त विषय नहीं है। परन्तु अविद्या बुद्धि को ढँक देती है, और एक विषय के अनेक रूपों की मायामयी सृष्टि होती है। ऐसी अवस्था होने से मनुष्य नहीं जानता कि मेरी अपनी बुद्धि क्या है, और वह समझता है कि वस्तु का अस्तित्व मन से बाहर है। उदाहरणार्थ, मनुष्य अपने सामने पड़ी हुई रस्सी को साँप समझ सकता है। इस प्रकार साँप की कल्पना भ्रान्ति से रस्सी के साथ लगा दी जाती है, और सच्ची बुद्धि चमकने से बन्द हो जाती है। इस प्रकार यथार्थता या सच्ची अवस्था

---

* म० फूजिशीमा अपने अनुवाद में इस टीका को छोड़ गया है। क्योंकि सभी टीकाएँ इ-त्सिङ्ग की अपनी हैं इसलिए मैंने उन सब पर समान ध्यान दिया है, और उन्हें मूल पाठ के साथ सर्वत्र जोड़ दिया है।

का (भ्रान्त सम्बन्ध से) ढँक जाना 'संवृति' कहलाता है। चीनी अक्षर 'फूह-त्सो' का व्यवहार, जो संस्कृत शब्द संवृति के भाव को प्रकट करनेवाला एक संयुक्त शब्द है, कर्मधारय (वर्णनात्मक)* के रूप मे होना चाहिए। इन दो सचाइयों को 'चेन-ती' और 'फ़ूह-ती' कह सकते हैं† ।

परन्तु पुराने अनुवादकों ने हमे संस्कृत भाषा के नियम बहुत कम बताये हैं। जिन लोगों ने हाल ही मे हमारे सामने सूत्र रक्खे हैं उन्होंने केवल पहली सात विभक्तियों का वर्णन किया है। इसका कारण (व्याकरण की) अज्ञता नहीं, किन्तु वे (आठवीं अर्थात् सम्बोधन का सिखाना) व्यर्थ समझकर चुप रहे हैं। मेरा विश्वास है कि अनुवाद करते समय जो कठिनाइयाँ उपस्थित हुआ करती हैं वे अब संस्कृत व्याकरण के सम्पूर्ण अध्ययन से साफ़ हो जायँगी। इस आशा से, मैं, निम्नलिखित प्रकरणों मे व्याकरण की भूमिका के रूप में कुछ बातों का संक्षेप से वर्णन करूँगा।

[इ-त्सिङ्ग की टीका]—पूलो कोण्डोर के द्वीप (दक्षिण में) और सूलि देश मे (उत्तर मे) भी लोग संस्कृत-सूत्रों की प्रशंसा करते हैं, तब दिव्य भूमि (चीन) और स्वर्गीय कोषागार (भारत) के लोगों को इस भाषा के सच्चे नियमों को कितना अधिक सिखाना चाहिए! भारत के लोग (चीन की) प्रशंसा में इस प्रकार कहते थे—'विज्ञ मञ्जुश्री इस समय पिङ्ग-चोऊ‡ में है, जहाँ के

---

* यहाँ वह संस्कृत व्याकरण चीनी संयुक्त शब्दों पर लगा रहा है।

† 'वास्तविक सचाई' और 'ढकी हुई सचाई'।

‡ यह एक बड़ी विचित्र बात है कि मञ्जुश्री कुमारभूत, जिसका महायान की पुस्तकों के आरम्भ में प्रायः आह्वान किया जाता है, किसी प्रकार से चीन से सम्बन्ध रखता है। ऐसा जान पड़ता है कि भारत में यह ऐतिह्य प्रचलित था कि उस समय वह चीन में विद्यमान है। इ-त्सिङ्ग इसकी ओर दो बार

लोग उसकी उपस्थिति से प्रायः सुखी रहते हैं। इसलिए हमें उस देश का सम्मान और प्रशंसा करनी चाहिए, इत्यादि'।

उनका सारा वृत्तान्त इतना लम्बा है कि यहाँ नहीं दिया जा सकता।

व्याकरण को संस्कृत में शब्द-विद्या* कहते हैं। यह पाँच विद्याओं† मे से एक है; शब्द का अर्थ है 'वाणी', और विद्या, 'विज्ञान'। साधारण साहित्य का नाम भारत मे व्याकरण‡ है

संकेत करता है; एक तो परि० २८ में वह कहता है कि लोग कहते हैं कि मंजुश्री चीन मे रहता है; और फिर, यहाँ, वह कहता है कि मंजुश्री इस समय पिङ्ग-चोऊ मे (चीन के अन्तर्गत ची-ली प्रान्त में, जो अब चेङ्ग-तेन फू कहलाता है) है। कहते हैं कि प्रज्ञ नाम का भारतीय भिक्षु, जो सन् ७८२ में चीन में आया, यही सुनकर चला था कि इस समय मञ्जुश्री पूर्व में है। यह वही प्रज्ञ है जो महायानबुद्धि शत्पारमिता-सूत्र (No 1004) का अनुवाद, किङ्ग-चिंग (ऐडम) के साथ कर रहा था। यह किङ्ग-चिङ्ग एक नस्टोरियन पादरी, और चीन में ईसाई धर्म्म के प्रसिद्ध स्मारक का बनानेवाला था। हमें मालूम नहीं कि प्रज्ञ को चीन में मंजुश्री मिला कि नहीं। ऐसा जान पड़ता है कि मञ्जुश्री भारत में एक परदेसी था। बर्नोफ़ के कमल (Lotus) में इसकी ओर कुछ संकेत मिलते हैं, p. 502, App. III :—'Il est entrunger au Nepal, car il vient de Sirsha, ou plus exactement de Circha, "la tete," lieu que le Svayambhu Purana et le Commentaire Newari du traite en vingt-cinq stances *(Pankavimsa tika)* comme une montagne de Mahatchin, sans aucun doute Mahatchina, "le pays des grands Tchinas.",

* इसे 'शब्दानुशासन' भी कहते है।—भ० दत्त।

† पाँच विद्याएँ ये है—(१) शब्दविद्या, अर्थात् 'व्याकरण और अभिधान-रचना', (२) शिल्पस्थानविद्या, (३) चिकित्साविद्या, (४), हेतुविद्या, (५) और अध्यात्मविद्या।

‡ बौद्धसाहित्य में व्याकरण के पारिभाषिक अर्थों के लिए देखिए Burnouf, Introduction, p. 54. ह्यूनत्साङ्ग में लिखा है कि

जिसके, दिव्य भूमि (चीन) के पाँच अभिजात वाङ्मयों* के सदृश कोई पाँच ग्रन्थ हैं।

१. नवच्छात्रों के लिए सी-त 'न-चङ्ग (सिद्ध-रचना)†

ब्राह्मणों की पुस्तकें व्याकरण कहलाती हैं; वे विस्तीर्ण है और १००००० श्लोकों मे हैं; देखो Julien, Vie, liv. iii, p. 165.

*शिह-किङ्ग, शु-किङ्ग, यि-किङ्ग, चु'न-चि'ऊ, और ली की, see S. B. E., vols. iii, xvi, xxvii, xxviii, and also Legge's separate edition, She-King, the Book of Poetry (Trubner).

† चीनी पुस्तकों के अनुवादको को सी-त'न-चङ्ग का अनुवाद सिद्ध-वस्तु करने का अभ्यास है, परन्तु मुझे आश्चर्य है कि इस अनुवाद के लिए कोई प्रमाण नहीं। मैंने व्याकरण पर अनेक चीनी पुस्तकों का अनुशीलन किया है परन्तु मुझे एक भी ऐसा वचन नहीं मिला जिससे यह सिद्ध हो कि सी-त'न-चङ्ग का 'सिद्ध-वस्तु' अनुवाद करना युक्तिसंगत हो। ह्यूनथ्साङ्ग प्रारम्भिक पुस्तक के रूप मे बारह 'भागों' की एक पुस्तक देता है (Julien, Memoires, liv. ii, p. 73); फ़न-इ-मिन-इ-ची, खण्ड १४, १७ क, जिसका कुछ अवतरण जूलियन ने अपनी टीका मे दिया है, हमें बहुत सहायता नहीं देती। ह्यूनथ्साङ्ग के अनुरूप प्रकरण में, अँगरेज़ी अनुवादक, श्रीयुत बील अपनी टीका में 'बारह भागों की पुस्तक' को सिद्ध-वस्तु कहता है, और भूल से समझता है कि इ-रिसङ्ग की सी-ती-र-सु-तु ने सी-त-व-सुन्तु को भूल से सी-ती-र-सु-तु लिख दिया है। इसके विपरीत, 'सी-त-व-सु-तु' का सी-ती-र-सु-तु (सिद्धिरस्तु, जो कि एक साधारण मङ्गल है, देखो हितोपदेश का आरम्भ, और प्रो० मेक्समुलर की काशिका. पृष्ठ १०) होना सम्भव है। हमारे पास ये चार नाम हैं—

(१) 'सी-त'न-चङ्ग', अर्थात् 'सिद्ध-रचना'। फूजिशीमा, बील, और प्रत्युत जूलियन ने भी इसका अनुवाद 'सिद्ध-वस्तु' किया है।

(२) 'बारह चङ्ग' (Hiuen Thsang, liv. ii, p. 73), जो 'बारह अक्षर-विभाग' या 'भाषा के प्राचीन अक्षरों की बारह भागों में सूची' होगी। सम्भवतः यह अक्षर-ग्रन्थ को प्रकट करती है।

(३) 'सिद्धिरस्तु'। यह, पुस्तक के आरम्भ मे होने के कारण, शायद पीछे से उसका नाम हो गया हो।

यह सिद्धिरस्तु* भी कहलाती है, जिसका अर्थ है 'सिद्धि हो'

इनमें से, संख्या २ सख्या ३ से ज़रूर भिन्न होगी, क्योंकि ३ अठारह भागों में है और २ बारह भागों में। परन्तु २ और ३ दोनों सी-त'न-चङ्ग भी कहलाते हैं, जो ऐसी प्रारम्भिक पुस्तकों के लिए एक साधारण नाम जान पड़ता है। इसे प्रोफेसर कीलहार्न ने 'मातृका-विवेक' (Ind. Ant. xii. 226), और प्रोफेसर बूहलर ने (ब्रह्म वर्ण-माला पर) एक सिद्ध-सूची पहचाना है।

* इस पुस्तक के विषय में शायद हमे टीकाकार काश्यप से सहायता मिल सके। वह कहता है—'यह पुस्तक चीन में विलुप्त हो गई थी, और यहाँ अब इसकी शिक्षा नहीं मिल सकती; परन्तु सौभाग्य से जापान मे अभी तक इसका अध्ययन जारी है, किन्तु कठिनता और सूक्ष्मता के कारण इस का सीखना एक मुश्किल काम है।' वह सिद्धिरस्तु देवनागरी में देता है, और कहता है कि सिद्धम् (पुल्लिङ्ग मे) का अर्थ है "वह जो सिद्ध करता है," और सिद्धि (स्त्रीलिङ्ग में) का अर्थ है 'वह चीज़ जो सिद्ध की जाती है'। यदि इसका अध्ययन जापान में होता था, तो अब भी हमें यह पुस्तक मिलनी चाहिए। बोडलियन लायब्रेरी के संग्रह (जापान १६) में 'सिद्ध के अठारह भाग' नाम की एक पुस्तक है, परन्तु एक जापानी द्वारा उसकी रचना का काल केवल सन् १२६६ ई० है। सिद्ध-पिटक या 'सिद्ध-कोष' नाम की एक और उससे पुरानी पुस्तक है। यह एन्नन की रचना है, और इसकी भूमिका की तिथि सन् ८८० ई० दी गई है। इस पुस्तक के एक भाग (आठवां खण्ड) में सिद्ध के अठारह भागों का वर्णन है; इसका आरम्भ—'ओम् नमः सर्वज्ञाय, सिद्धाम्' से होता है, और इसकी विषय-सूची यह है;—

१. सिद्धाम् (अर्थात् स्वर), सोलह। अं, अः सहित सारे चौदह स्वर। ज़िओगान का हस्तलेख (Ziogon's M. S.) जिसकी एक प्रति Anecdota Oxoniensia (Aryan Series, vol. i, pt. iii) में देखी जा सकती है, इन चौदह (या सोलह) स्वरों को 'सिद्धाम्' कहता है।

२. शरीर वर्ण (अर्थात् व्यञ्जन), पैंतीस।

३. उत्पन्न किये हुए वर्ण (अर्थात अक्षर)। यहाँ इस शीर्षक के नीचे, अठारह विभाग आते हैं: (१) कख विभाग, (२) क्यख्य विभाग, और इसी प्रकार चलते हुए, यहाँ तक कि (३) क्क्ष्व विभाग।

(चीनी का शब्दार्थ, 'सौभाग्य-पूर्ण हो !') क्योंकि विद्या (की इस) छोटी (पुस्तिका) के पहले भाग का ऐसा नाम है।

(वर्णमाला के) उञ्चास अक्षर* हैं, जो कि एक-दूसरे के साथ संयुक्त और अठारह भागों में व्यवस्थित हैं; अक्षरों का कुल जोड़ १०००० से अधिक, या ३०० श्लोकों से अधिक है। साधारणतया, प्रत्येक श्लोक में चार पाद और प्रत्येक पाद में आठ अक्षर होते हैं; इसलिए प्रत्येक श्लोक मे बत्तीस अक्षर हैं।

फिर दीर्घ और ह्रस्व श्लोक हैं; इनका यहाँ सूक्ष्म वृत्तान्त देना असम्भव है।

बालक इसे छः वर्ष की आयु मे सीखते हैं और छः मास मे समाप्त कर देते हैं। कहते हैं, सबसे पहले महेश्वर देव (शिव) ने इसकी शिक्षा दी थी।

अठारह विभागों मे कोई १०००० (मेरी गिनती से ६६१२) अक्षर हैं, यद्यपि स्वयं पुस्तक उनकी संख्या १६५५० बताती है। ये बातें इ-त्सिङ्ग के कथन के साथ अच्छी तरह मिलती हैं, अर्थात् अं और अः के सिवा वर्णमाला के उञ्चास वर्ण, अठारह विभाग, १०००० या अधिक अक्षर, ३०० या अधिक श्लोक (केवल अक्षरों की संख्या गिनने के लिए इस शब्द का बहुत बार उपयोग होता है)। फिर भी इन बातों से कोई परिणाम निकालना अभी तक ठीक नहीं। सम्भव है, इ-त्सिङ्ग का संकेत शिव-सूत्र की ओर हो। सिद्धम् का अर्थ, जिसे बहुत बार सिद्धाम् लिखा है, अशुद्ध आशय मे, वर्णमाला है। पुरानी पुस्तकों में इसका व्यवहार केवल स्वरों को दिखलाने के लिए ही किया गया है। ज़िओगान के हाशिये के नोट के अनुसार, होरियूजी हस्तलेख की प्रति में पहले चौदह (स्वरों) को सिद्धम् कहा गया है, यद्यपि पहले इनका अर्थ मङ्गल-प्रार्थना रहा हो। सिद्धम् के लिए देखो मेक्समुलर का नोट, सुखावती-व्यूह, Introd vii S. B. E. vol. xlix.

* इसके बाद एक लम्बा अवतरण है जो सिद्ध-कोश (Jap. 15) में मिलता है। मैं इसे अपनी भूमिका में दूँगा।

२ सूत्र

सारी शब्द-विद्या का आधार सूत्र है। इस नाम का अनुवाद 'छोटा वचन'* किया जा सकता है; और यह इस बात का द्योतक है कि महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की एक संक्षिप्त रूप में व्याख्या की गई है। इसमे १००० श्लोक हैं,† और यह पाणिनि की रचना है, जो प्राचीन काल में एक बहुत बड़ा विद्वान् था। कहते हैं कि उसे दैवी-ज्ञान था, महेश्वर देव उसे सहायता देते थे, और उसके तीन नेत्र थे; आजकल के भारतवासियों का प्रायः इसमे विश्वास है। बच्चे आठ वर्ष की आयु मे इस सूत्र को सीखना आरम्भ करते हैं, और आठ मास में इसे रट सकते हैं।

३ धातु पर पुस्तक ‡

यह १००० श्लोकों की है और इसमे विशेष रूप से व्याकरण की धातुओं का वर्णन है। यह उतनी ही उपयोगी है जितना कि उपर्युक्त सूत्र।

४ तीन खिलों पर पुस्तक

खिल का अर्थ है 'ऊजड़ भूमि'। इसका यह नाम इसलिए है कि (व्याकरण का) यह (भाग) उस रीति के सदृश है जिस

---

* अधिक मूलार्थतः, 'जा बोलने में छोटा और अर्थ मे स्पष्ट है।'

† तुलना कीजिए पाणिनि के प्रकाशित पाठ (Bohtlingk) के साथ जिसमें लगभग ६९६ श्लोक हैं।

यह वही सूत्र है जिसे ह्यून-थ्साङ्ग ने '१००० श्लोकों मे पाणिनि की शब्द-पुस्तक' कहा है, देखो Julien, Memoires, liv. ii, p 126; ह्यून-थ्साङ्ग के जीवन-चरित में भी इस पुस्तक का उल्लेख '१००० श्लोकों में संक्षिप्त सूत्र' के रूप मे हुआ है, देखो Julien, Vie, liv. iii, p. 165, 'Il y a un livre, en mille Slokas, qui est l'abrégé du Vyakaranam.'

‡ तुलना कीजिए, धातुपाठ। म० फूजिशीमा धातुवस्तु लिखता है जो केवल कल्पित है।

से किसान अनाज के लिए अपने खेत तैयार करता है। इसे हम ऊजड़ भूमि के तीन टुकड़ों पर पुस्तक कह सकते हैं। (१) अष्ट-धातु*, १००० श्लोक हैं; (२) वेन-च (मण्ड या मुण्ड),† इसमें भी १००० श्लोक हैं; (३) उणादि‡ भी १००० श्लोकों का है।

१. अष्टधातु। इसमे सात विभक्तियों (सुप्) दस, लकारों§ और अठारह अन्तिमों (तिङ्, २×६ पुरुष-सम्बन्धी प्रत्ययो) का वर्णन है।

---

* अष्टधातु, मण्ड, और उणादि इन सबका ह्यू न-थ्साङ्ग में उल्लेख है। Julien की Vie, liv. iii, p. 166 में वह अनुवाद इस प्रकार करता है—'Il existe un Traite des huit limites (terminations) en huit cents Slokas'. इसका संकेत इ-त्सिङ्ग के अष्टधातु की ओर है। तुलना कीजिए, चीनी में लोकधातु, धर्म्म-धातु। ह्यू न-थ्साङ्ग में आठ सौ श्लोक।

† वेन-च शायद संस्कृत के मण्ड, मुण्ड, मन्त या ऐसे ही किसी दूसरे शब्द को दिखलाता है; निस्सन्देह यह ह्यू न-थ्साङ्ग का मेन-त्से-किश्रा है, जिसे जूलियन संस्कृत का मण्डक ठहराता है, यथा 'nom d'une classe de mots dans Panini.' (Vie, liv. iii. p. 166) परन्तु पाणिनि मे इसका इस प्रकार व्यवहार नहीं हुआ, और इस बात का अभी तक निश्चय नहीं कि यह मण्डक या मुण्डक या मन्तक क्या है। ह्यू न-थ्साङ्ग में कहा गया है कि इसमें प्रत्ययों का वर्णन है, यद्यपि जूलियन के अनुवाद से यह बात इतनी स्पष्ट नही जितनी कि मूल चीनी से है। ह्यू न-थ्साङ्ग मे ३००० श्लोक। देखो, 'India, what can it teach us.?' 1883, p. 344. क्या यह मण्डूकी शिक्षा हो सकता है ?

‡ इ-त्सिङ्ग के १००० श्लोकों के विपरीत ह्यू न-थ्साङ्ग में उणादि सूत्र के २५०० श्लोक बताये गये है।

§ इसका संकेत पाणिनि के लट्, लङ्, लिट्, लिङ्, लुट्, लुङ्, लृट्, लृङ्, लेट्, लोट् की ओर है।

क. सात विभक्तियाँ* । प्रत्येक संज्ञा की सात विभक्तियाँ, और प्रत्येक विभक्ति के तीन वचन होते हैं, अर्थात् एकवचन, द्वि-वचन, और बहुवचन; इसलिए प्रत्येक संज्ञा के सब मिलाकर इक्कीस रूप होते हैं। उदाहरणार्थ, शब्द 'पुरुष' को लीजिए। यदि एक पुरुष से तात्पर्य हो तो यह 'पुरुषः' होता, दो हों तो 'पुरुषौ', और तीन (या अधिक) हों तो 'पुरुषाः'। संज्ञा के इन रूपों को गुरु और लघु (सम्भवतः, 'स्वरयुक्त और स्वरहीन'), या खुले साँस† से और बन्द साँस से उच्चारण किये जानेवाले (शायद 'खुली स्वरवाली या बन्द स्वरवाली संज्ञाएँ') भी कहा जाता है। सात विभक्तियों के अतिरिक्त आठवीं–सम्बोधन (आमन्त्रित)–भी है, जो आठ विभक्तियाँ पूरी कर देती है। जैसे पहली विभक्ति के तीन वचन हैं, वैसे ही बाक़ी सबके हैं। इनके रूप बहुत ज़ियादह होने से यहाँ नहीं दिये गये। संज्ञा सुबन्त‡ कहलाती है, और (पदसिद्धि से) इसके (३ × ८) चौबीस रूप होते हैं।

ख. दस लकार। (क्रिया के कालों के लिए) ल के साथ दस चिह्न हैं; क्रिया की रूपसिद्धि (मूलार्थतः उच्चारण) में तीन

---

* काश्यप सात (या आठ) विभक्तियों के नाम इस प्रकार देता है—

१ निर्देश के लिए नृदेश।	५ अपादत्ति. (?)
२ उपदेशन।	६ स्वामिभावादिः (?)
३ कर्तृकरण।	७ सन्निधानादि (?)
४ दत्तिक के लिए सम्प्रददिक।	८ आमन्त्रण।

† इन वाक्यों का शब्दार्थ दिया गया है, परन्तु यह बात सर्वथा स्पष्ट नहीं कि यहाँ किस प्रकार की संज्ञाओं से तात्पर्य है। कुछ हो, इन वाक्यों का संकेत किसी संज्ञा की ओर है, क्योंकि इ-त्सिङ्ग इन्हें 'संज्ञा की सात विभक्तियाँ' (क) शीर्षक के नीचे लिख रहा है। म० फूजिशीमा का अनुवाद, 'Dans la conjugation, il y a une double voix (Atmanepada et Parasmaipada,') सर्वथा अग्राह्य है।

‡ सुबन्त, अर्थात् 'जिसके अन्त में सुप् है'।

कालों, अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य का भेद प्रकट किया जाता है।

ग. अठारह तिङ्। ये (क्रिया के तीन वचनों के) उत्तम, मध्यम, और प्रथम पुरुष के रूप हैं, और योग्य और अयोग्य, या इस और उस* के भेद दिखलाते हैं। इस प्रकार (एक काल मे) प्रत्येक क्रिया के अठारह भिन्न-भिन्न रूप हैं, जो तिङन्त कहलाते हैं।

२. वेन-च (मण्ड या मुण्ड) मे (धातु को एक या अनेक प्रत्ययों से) संयुक्त करके शब्दों के बनानेका वर्णन है। उदाहरणार्थ, संस्कृत में पेड़ के अनेक नामों मे से एक नाम 'वृक्ष'† है। इस प्रकार किसी वस्तु या विषय के लिए नाम, सूत्र के नियमों के अनुसार, जो बीस से अधिक श्लोकों के बने हैं, (अक्षरों को) इकट्ठा जोड़कर बनाया जाता है‡।

३. उणादि। यह प्रायः वही है जो कि उपर्युक्त (मण्ड) है। भेद केवल इतना है कि जिस बात की एक मे पूर्ण रूप से व्याख्या की गई है वह दूसरे मे संक्षेप से लिखी गई है, और व्युत्क्रमम्।

---

* यहां 'आत्मनेपद और परस्मैपद' होना चाहिए था। 'यह और वह' शायद 'आत्मने' और 'परस्मै' को प्रकट करने की एक अस्पष्ट रीति हो; क्योंकि चीनी मे इन परिभाषाओं के लिए कोई पर्याय नहीं। फिर भी, 'योग्य और अयोग्य' बहुत विचित्र है।

† वृक्ष एक उणादि शब्द है जो व्रश्च् के साथ स् और कित् लगाने से बना है।

‡ म० फूजिशीमा इसका अनुवाद यह देता है—Le Manda (?) est un ensemble de mots. Cest ainsi que l'arbre est l'agglomeration d'un nombre plus ou moins grand de fibre et de canaux (le nom de l'arbre en Skt. est Vriksha)' (Journal Asiatique, Nov.1888, p.429). मेरी सम्मति मे म० फूजिशीमा इ-त्सिङ्ग का अर्थ नहीं समझा; उसने कोष्ट मे वही महत्वपूर्ण उदाहरण 'वृक्ष' रख दिया है जो इ-त्सिङ्ग ने अपनी पुस्तक में दिया है। इसके अतिरिक्त 'On forme ce qu'on appelle un Manda' मूल पाठ में नहीं है।

तीन खिलों की पुस्तक को लड़के दस वर्ष की आयु में सीखना आरम्भ करते हैं, और तीन वर्ष तक परिश्रम के साथ पढ़ने से उन्हे अच्छी तरह समझ जाते हैं।

५ वृत्ति-सूत्र (काशिका वृत्ति)

यह ऊपर के सूत्र (अर्थात् पाणिनि के सूत्र) की टीका है। पहले समयों मे अनेक टीकाएँ रची गई था, और यह उन सबमें उत्तम है।

यह सूत्र का पाठ देती और इसके अनेक प्रकार के अर्थों की बड़ी बारीकी से व्याख्या करती है। इसमें सारे १८००० श्लोक हैं। यह ब्रह्माण्ड* के नियमों, और देवताओं तथा मनुष्यों की मर्यादाओं को प्रकट करती है। पन्द्रह वर्ष के लड़के इस वृत्ति को पढ़ना आरम्भ करते हैं, और पाँच वर्ष में इसे समझ लेते हैं।

यदि चीन के मनुष्य भारत में अध्ययन के लिए जायँ, तो उन्हें सबसे पहले (व्याकरण के) इस ग्रन्थ का अध्ययन करना पड़ता है, फिर दूसरे विषय; यदि ऐसा न होगा तो उनका परिश्रम फेंक दिया जायगा। ये सब ग्रन्थ कण्ठस्थ होने चाहिएँ। परन्तु यह नियम उच्च बुद्धि के लोगों के लिए ही लागू है। मध्यम या थोड़ी योग्यता के मनुष्यों के लिए उनकी इच्छाओं के अनुसार एक भिन्न उपाय (विधि) का अवलम्बन करना चाहिए। उन्हें दिन-रात घोर परिश्रम के साथ अध्ययन करना, और एक पल भी व्यर्थ के विश्राम मे न खोना चाहिए। उन्हें पिता कुं‘ङ्ग (अर्थात् कन्फ्यूशस) के

---

* व्याकरण की एक टीका के लिए ‘विश्व ब्रह्माण्ड में जो कुछ है उस सारे के नियम’ कहना विचित्र जान पडता है, और यह बात काशिका पर घटती नहीं। इस वाक्य का अर्थ ‘सूत्र में जो कुछ है उस सारे के नियम’ लिया जा सकता है, जैसा कि म० फूजिशीमा ने लिया है। मेरा अनुवाद काश्यप और कसावरा से मिलता है।

सदृश होना चाहिए, जिसके कठिन परिश्रम-पूर्वक अध्ययन करने के कारण उसके यि-किङ्ग* की चमड़े की जिल्द तीन बार फट गई थी; या सुई-शिह† का अनुकरण करो, जो एक पुस्तक को सौ बार पढ़ा करता था। बैल के बालों की गिनती सहस्रों में होती है, परन्तु गैंड़े का एक ही सींग‡ होता है। उपर्युक्त ग्रन्थों को पढ़ने का परिश्रम या पुण्य अभिजात-वाङ्मय के पारदर्शी पण्डित ('मिङ्ग-चिङ्ग' की पदवी) को प्राप्त होने के समान है।

यह वृत्ति-सूत्र पण्डित जयादित्य§ की रचना है। वह बहुत

---

* चीनी चरित-लेखक, स्सु-म चि,एन के अनुसार, जब कन्फ्यूशस यि-किङ्ग अर्थात् भविष्यत्सूचन की पुस्तक पढ़ रहा था, तब उसकी पुस्तक की चमड़े की जिल्द तीन बार फट गई थी। (See S. B. E. vol xvi.)

† इसका संकेत वेइ वंश के तुङ्ग-यू की कथा की ओर जान पड़ता है। वह अपने शिष्यों से कहा करता था–'पुस्तक को सौ बार पढ़ो, तब तुम अपने आप उसे समझ जाओगे'। परन्तु इ-त्सिङ्ग ने तुङ्ग-यू के स्थान सुई-शिह लिखा है। क्या उसका दूसरा नाम सुई-शिह था?

‡ इसका अर्थ है कि 'थोड़े मनुष्य चतुर हैं'।

§ इसने वामन के साथ मिल कर काशिका वृत्ति की रचना की थी। काशिका का मूल पाठ बनारस संस्कृत कालेज में हिन्दू धर्म्म-शास्त्र के महोपाध्याय पण्डित बालशास्त्री ने (१८७६,१८७८) प्रकाशित किया था। बालशास्त्री ने १,२,५, और ६ जयादित्य के, और शेष वामन के ठहराये हैं। प्रोफेसर बूहलर का काश्मीर में मालूम किया हुआ काशिका का हस्तलेख पहले चार जयादित्य के और पिछले चार वामन के ठहराता है। अधिक विवादों के लिए, देखिए Max Muller's 'India, what can it teach us?' p. 341; कीलहार्न का कात्यायन और पतञ्जलि, पृष्ठ १२. नोट। तुलना कीजिए पीटरसन की दूसरी रिपोर्ट, पृष्ठ २८, भण्डारकर; दूसरी रिपोर्ट, पृष्ठ ५८.

[वामन काशिका वृत्ति का प्रतिसंस्कर्ता है। जयादित्य ने सारी ही अष्टाध्यायी पर वृत्ति लिखी थी। देखो Sir Asutosh Mookerjee Silver Jubilee Volumes. Vol. III. Orientalia—Part 1. 1922. पृ० १६०-१६२.— भगवद्दत्त]

बड़ी योग्यता का मनुष्य था; उसकी साहित्यिक शक्ति बहुत आश्चर्य-जनक थी। वह बात को एक ही बार सुनकर समझ लेता था, उसे दुबारा सिखाने का प्रयोजन नहीं होता था। वह तीन पूज्यो (अर्थात् त्रिरत्न) का आदर करता था और सदा पुण्य-कर्म्म किया करता था। उसकी मृत्यु हुए आज कोई तीस वर्ष हुए हैं* (सन् ६६१–६६२)। इस वृत्ति का अध्ययन कर चुकने के पश्चात्, विद्यार्थी गद्य और पद्य की रचना सीखना आरम्भ करते हैं और हेतु-विद्या तथा अभिधर्म्म-कोष मे लग जाते हैं। न्याय-द्वार-तारक-शास्त्र† के अध्ययन से वे ठीक तौर पर अनुमान करते हैं; और जातकमाला

---

* जयादित्य की मृत्यु सन् ६६१-६६२ ई० में ठहरती है, क्योंकि इ-त्सिङ्ग की रचना की तिथि अवश्य सन् ६६१ ई० के ११ वें मास और सन् ६६२ के ५ वें मास के बीच होगी। इ-त्सिङ्ग ने यह इतिहास पूजनीय ता-त्सिन के द्वारा, तिएन-शोऊ काल के तीसरे वर्ष, अर्थात् सन् ६६२, में ५वें मास के १५वें दिन भेजा था। उसकी यह पुस्तक अवश्य इससे पहले की, परन्तु सन् ६६२ (के ११ वें मास) के बाद की होगी, क्योंकि वह २८ वें परिच्छेद में कहता है कि सन् ६७१ (के ११ वें मास) मे स्वदेश छोड़ने के बाद उसे बीस से अधिक वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त वह इस परिच्छेद (३४) की समाप्ति के निकट कहता है कि भारत से आने के पश्चात् मुझे भोज में चार वर्ष बीत चुके हैं, यह कथन उपर्युक्त तिथियों से पूरी तरह मिलता है। सन् ६६१-६६२ से चार वर्ष पहले सन् ६८८-६८६ होते हैं, और हमे मालूम है कि सन् ६८६ के ६ठे मास में वह भोज में था। प्रो० मेक्समुलर ने जयादित्य की मृत्यु का समय सन् ६६० स्थिर किया है (India, etc., p. 346) जो कि इस के यथेष्ट निकट है। म० फूजिशीमा सन् ६५०–६७० लिखता है। यह अधिक से अधिक सीमा है जो हम ठहरा सकते हैं (Journal Asiatique, Nov. 1888, p 430)

† यह नागार्जुन की बनाई हुई हेतुविद्या की भूमिका है। इ-त्सिङ्ग ने सन् ७११ में इसका चीनी में अनुवाद किया था। देखो Nanjio's Catal., Nos. 1223, 1224.

के अध्ययन से उनकी ग्रहण-शक्ति बढ़ती है। इस प्रकार अपने उपाध्यायों से शिक्षा पाते और दूसरों* को शिक्षा देते हुए वे प्रायः मध्य भारत के नालन्द विहार मे, या पश्चिमी भारत के वल्लभी (वला) देश में दो-तीन वर्ष व्यतीत करते हैं। ये दो स्थान चीन के चिन-मा, शिह-चू, लुङ्ग-मेन, और चूए-ली† के सदृश हैं और वहाँ प्रसिद्ध और प्रवीण मनुष्य दल के दल इकट्ठे होकर सम्भव और असम्भव सिद्धान्तों पर विवाद करते हैं और जब ज्ञानियों द्वारा उन्हें अपने मतों की विशिष्टता का निश्चय हो जाता है तब वे अपने पाण्डित्य के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो जाते हैं। अपनी बुद्धि की तीक्ष्णता (मूलार्थतः 'खड्ग की तीक्ष्ण नोक') की परीक्षा के लिए वे राजा की सभा में जाकर (अपनी योग्यताओं का) तीक्ष्ण शस्त्र उसके सामने रख देते हैं; वहाँ वे व्यावहारिक शासन में अधिकार पाने के उद्देश से अपनी कल्पनाएँ उपस्थित करते और अपनी (राजनैतिक) योग्यता प्रदर्शित करते हैं। जब वे विवाद-भवन में उपस्थित होते हैं तब

---

* 'अध्यापक से शिष्यों में पहुँचने' के लिए एक पारिभाषिक कथन।

† ये चीन के विद्यापीठ हैं।

(१) चिन-मा (मूलार्थतः धातु का अश्व-द्वार)। यह हन-लिन या राजकीय पाठशाला है। इसका यह नाम एक काँसी के घोड़े के कारण पड़ गया है। यह घोड़ा हन-वंश (सन् १४२ ई० पूर्व —८७) के राजा वूती ने वहाँ रखवाया था।

(२) शिह-चू एक पुस्तकालय और वह स्थान था जहाँ राजाज्ञा से नियुक्त हुए विद्वान् इकट्ठे होते हैं।

(३) चूए-ली, कन्फ्यूशस की जन्म-भूमि, चू-फ़ु, में है, इसलिए विद्वानों का एक केन्द्र है। यह शन-तुङ्ग में है।

(४) लुङ्ग-मेन (मूलार्थतः नाग-द्वार) प्रसिद्ध चरित-लेखक, स्सू-मा चिएन, की जन्म-भूमि है, और यह वह स्थान है जहाँ कन्फ्यूशस का एक शिष्य, त्सूज़े हिसया, (होन-नन में) रहा करता था।

अपने आसन* को उठाकर अपनी आश्चर्य-जनक चतुराई प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं।

जब वे नास्तिकवाद का खण्डन करते हैं तब उनके सभी प्रतिपक्षी विस्मित हो जाते हैं और अपनी हार स्वीकार करते हैं। तब उनकी कीर्त्ति-ध्वनि से (भारत के) पाँचों पर्वत गूँज उठते हैं और उनकी प्रसिद्धि मानो चारों सीमाओं के ऊपर से बहने लगती है। उन्हें भूमि मिलती है और उनकी पदोन्नति की जाती है; उनके विख्यात नाम, पुरस्कार के रूप में, उनके ऊँचे द्वारों† पर सफेदी से लिखे जाते हैं। इसके पश्चात् जो व्यवसाय उन्हें पसन्द हो उसे वे कर सकते हैं।

६ चूर्णि

इसके अनन्तर वृत्ति-सूत्र पर चूर्णि नाम की एक टीका है, जिसमे २४००० श्लोक हैं।

यह पण्डित पतञ्जलि की रचना है। फिर, इसमे भी पहले सूत्र (पाणिनि) देकर अस्पष्ट बातों की व्याख्या (मूलार्थतः 'खाल

---

* मूलार्थत 'आसनों को बढ़ाना या दुगना करना'। यह बहुत स्पष्ट नहीं। काश्यप कहता है कि यह एक भारतीय रीति थी कि जब एक मनुष्य शास्त्रार्थ में हार जाता था तो उसको अपना आसन विजेता के लिए छोड़ देना पड़ता था, जो उसे लेकर अपने आसन में मिला लेता था। इ-त्सिङ्ग इस परिभाषा का व्यवहार अपने 'प्रसिद्ध भिक्षुओं के वृत्तान्त' मे भी करता है। देखो Chavannes, p. 127. (Cf. Note 3).

† चीनी पाठ स्पष्ट नहीं है। मेरा अनुवाद केवल परीक्षात्मक है। म० फूजिशीमा इस प्रकार अनुवाद करता है। 'Alors ceux dont la rèputation a ètc oınsi consacrèe recoivent du roi quelque domaine et ıls sont pourvaus de plus d'un tıtre qui leur donne acces a la cour, ou bieu le prince leur accorde une certaine recompense; apres quoi ces hommes d'elite emploient leur temps a leur volonté' (pp. 431-432).

को छेदना') और इसमें वर्णित नियमों का विश्लेषण किया गया है, और यह अनेक कठिनाइयों को साफ़ करके (मूलार्थतः 'अनाज की दाढ़ी और केशों को तोड़ और दूर करके')* पिछली' वृत्ति† की व्याख्या करती है। प्रौढ़ विद्यार्थी इसे तीन वर्ष मे सीख लेते हैं। परिश्रम या पुण्य वैसा ही है जैसा कि चीन में चुन-चिऊ और यि-किङ्ग के पढ़ने का।

७ भर्तृहरि-शास्त्र

इसके अनन्तर भर्तृहरि-शास्त्र है।‡ यह पूर्वोल्लिखित चूर्णि की टीका है और भर्तृहरि नाम के एक परम विद्वान् की रचना है। इसमें २५००० श्लोक हैं और मानव-जीवन तथा व्याकरण-शास्त्र के नियमों का पूर्ण रूप से वर्णन है। यह अनेक वंशों के उत्थान और पतन के कारण भी बताती है। ग्रन्थकार विद्यामात्र के सिद्धान्त से भली भाँति परिचित था और उसने हेतु तथा उदाहरण पर बड़ी कुशलता से विचार किया है। यह विद्वान् भारत के पाँचों खण्डों

---

* यहाँ इत्सिङ्ग चूर्णि के अर्थ घुसेड़ता जान पड़ता है। चूर्णि का अर्थ है पीसना और उसका व्यवहार पतञ्जलि की टीका के नाम के रूप में होता है। निस्सन्देह इसका संकेत पतञ्जलि के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, महाभाष्य, की ओर है, और, जैसा प्रो० मेक्समुलर बताता है, पतञ्जलि चूर्णिकृत या चूर्णिकार कहलाता है। See 'India, what can it teach us?' 1833, p.347 महाभाष्य के लिए, देखिए Weber's History, pp. 219-226, and Kielhorn's note, Indian Antiquary, March 1886, p. 80.

† क्या यहाँ कात्यायन के वार्त्तिक को 'वृत्ति' कहा गया है, अथवा व्याडि-प्रणीत सग्रह को? यह विद्वानों को विचारना चाहिए। हो सकता है, महाभाष्य से पहले भी कोई वृत्ति पाणिनि के अष्टक पर हो।—भगवद्दत्त।

‡ इस ग्रन्थ का वास्तविक नाम त्रिपदी है। इसमें महाभाष्य के प्रथम तीन पादों की ही विस्तृत व्याख्या है। इसके कुछ भाग का एक पुराना लिखित ग्रन्थ वर्लिन के पुस्तकालय में है। उसी का फोटो मद्रास के राजकीय हस्त-लिखित ग्रन्थों के संग्रह में है।—भगवद्दत्त।

में सर्वत्र बहुत प्रसिद्ध था और उसकी विशिष्टताओं को लोग सब कहीं (मूलार्थतः 'आठों दिशाओं में') जानते थे। उसका 'तीन रत्नों' (अर्थात् रत्नत्रय) मे अगाध विश्वास था और वह 'दुहरे शून्य*' का बड़ी धुन से ध्यान करता था। सर्वोत्कृष्ट धर्म्म के आलिङ्गन† की इच्छा से वह परिव्राज हो गया, परन्तु सांसारिक वासनाओं के वशीभूत होकर वह फिर गृहस्थी में लौट गया। इसी रीति से वह सात बार परिव्राजक बना और सात ही बार फिर गृहस्थी में लौट गया। जब तक कारण और कार्य की सचाई मे मनुष्य का पूरा-पूरा विश्वास न हो, वह उसके सदृश उत्साह-पूर्वक कार्य नहीं कर सकता। उसने आत्म-निन्दा से भरे हुए ये श्लोक लिखे हैं—

संसार के प्रलोभन के द्वारा मैं गृहस्थी में लौट आया।

सांसारिक सुखों से मुक्त होकर मैं फिर परिव्राजक का चोला पहनता हूँ।

ये दो मनोवेग किस प्रकार

मुझे बालक समझकर मेरे साथ खेल रहे हैं?

वह धर्म्मपाल‡ का समकालीन था। एक बार जब वह मठ मे प्रव्रजित (बनकर रहता) था, सांसारिक कामनाओं से तंग

---

* 'दुहरा शून्य', अर्थात् 'आत्मा और धर्म्म दोनों खाली दिखलावा हैं।'

† इ-त्सिङ्ग भर्तृहरि के आचरण की प्रशंसा करता जान पड़ता है।

‡ एक के सिवा बाकी सब संस्करणों में 'धर्म्मपाल' है, परन्तु एक मे 'धर्म्म के अनेक उपाध्याय' हैं, जो कि लेख की भूल जान पड़ती है, क्योंकि पहले उपाध्यायों का उल्लेख किये बिना कोई मनुष्य ऐसा नहीं कह सकता कि 'वह धर्म्म के अनेक उपाध्यायों का समकालीन था'। इ-त्सिङ्ग ने पहले कभी कहीं 'धर्म के उपाध्यायों' का उल्लेख नहीं किया। उसने ऊपर जिन वैयाकरणों (अर्थात् पाणिनि, जयादित्य, और पतञ्जलि) का उल्लेख किया है उनमें से केवल एक जयादित्य को ही बौद्ध लिखा गया है, परन्तु भिक्षु नहीं। इसलिए वह 'धर्म्म का उपाध्याय' नहीं। इसलिए पूर्वापर से हम कोई दूसरा

आकर उसकी रुचि गृहस्थी मे लौट जाने की हुई। परन्तु वह दृढ़ रहा और उसने एक विद्यार्थी को मठ के बाहर एक गाड़ी लाने को कहा। कारण पूछने पर उसने उत्तर दिया—'यह वह स्थान है जहाँ मनुष्य पुण्य-कर्म करता है और यह उन लोगों के निवास के लिए है जो शील रखते हैं। अब मेरे भीतर मनोराग पहले ही प्रबल हो चुका है और मैं सर्वोत्तम धर्म्म पर चलने मे असमर्थ हूँ। मेरे जैसे मनुष्य को प्रत्येक प्रदेश से यहाँ आये हुए परिव्राजकों की सभा मे घुसना नही चाहिए'।

तब वह उपासक की अवस्था मे वापस चला गया, और मठ मे रहते हुए, एक श्वेत वस्त्र पहनकर, सच्चे धर्म्म की उन्नति और वृद्धि करता रहा। उसकी मृत्यु हुए चालीस वर्ष हुए हैं (सन् ६५१—६५२)।

८ वाक्य-पदोय

इनके अतिरिक्त वाक्य-पदीय* है।† इसमे ७०० श्लोक हैं, और इसका टीकाभाग ७००० श्लोकों का है। यह भी भर्तृहरि की ही

पाठ ग्रहण करने पर विवश हैं। अनेक पाठों से मिलाने के बाद, जापानी संस्करण ने 'धर्म्मपाल' रक्खा है, और एक ही पुस्तक में मिलनेवाले 'धर्म्म के अनेक उपाध्याय' पाठ को छोड़ दिया है। 'धर्मपाल' पाठ के विषय में किसी प्रकार का भी सन्देह नहीं। दुर्भाग्य से म० फूजिशीमा के पास एक बुरी पुस्तक थी, और उसने अनिश्चित रूप से अनुवाद किया है। ऊपर का लेख लिख चुकने के बाद मैंने देखा है कि काश्यप के पाठ में 'शास्त्र का एक उपाध्याय, धर्मपाल' है। इससे भी हमारे पाठ धर्मपाल की पुष्टि होती है, और किसी सन्देह की गुञ्जायश नहीं रह जाती।

* बनारस के पण्डित मनवल्लि द्वारा सम्पादित, १८८४-१८८७, Ind. Ant. xii, 226.

† वाक्यपदीय का काशी में छपा संस्करण अशुद्धियों से परिपूर्ण है। हमारे मित्र पं० चारुदेव एम० ए० इसका शुद्ध संस्करण बहु-देश-संगृहीत कोषों

रचना है। यह पवित्र शिक्षा के प्रमाण-द्वारा समर्थित अनुमान पर, और व्याप्तिनिश्चय की युक्तियों पर, एक प्रबन्ध है।

८ पेइ-न

इसके अनन्तर पेइ-न (सम्भवतः संस्कृत 'बेड़ा' या 'वेड़ा') है*।† इसमें ३००० श्लोक हैं, और इसका टीका-भाग १४००० श्लोकों में है। श्लोक-भाग भर्तृहरि की रचना है, और टीका-भाग शास्त्र के उपाध्याय, धर्म्मपाल, का माना जाता है। यह पुस्तक आकाश और पृथ्वी के गम्भीर रहस्यों की थाह लेती है, और इसमे मनुष्य-दर्शन (मूलार्थतः 'मानवी नियमों के तात्विक सौन्दर्य') का वर्णन है। जो मनुष्य इस (पुस्तक) तक पढ़ लेता है उसे व्याकरण-शास्त्र का पूर्ण पण्डित कहा जाता है, और उसकी तुलना उस मनुष्य से की जा सकती है जिसने चीन के नव अभिजातवाङ्मयों और दूसरे सब लेखकों के ग्रन्थों को सीख लिया हो। उपर्युक्त सभी पुस्तकों का अध्ययन भिक्षु और उपासक दोनों करते हैं; यदि ऐसा न करें तो वे 'बहुश्रुत' होने की प्रतिष्ठा नहीं पा सकते।

इनके अतिरिक्त भिक्षु लोग सारे विनय-ग्रन्थ पढ़ते, और सूत्रों तथा शास्त्रों का निरूपण करते हैं। वे नास्तिकों का विरोध इस

से बड़े परिश्रम से कर रहे हैं। यह शीघ्र ही पूना में छपेगा। उसकी भूमिका में भर्तृहरि-सम्बन्धी ऐतिहासिक गवेषणा का समावेश होगा।—भगवद्दत्त।

* इस नाम की एक पुस्तक, अर्थात् वेड़ा-वृत्ति, डेक्कन कालेज, बम्बई, में श्री० स. क. भण्डारकर की हस्तलेखों की सूची मे (1888, p. 146, No. 381) मिलती है; (Aufrecht's Catalogus Catalogorum, p. 198, under Ganmambhodhi (जन्माम्भोधि)।

† यह ग्रन्थ प्रकीर्णक प्रतीत होता है। काशी-संस्करण मे हस्तलेखाभाव से यह सारा नहीं छप सका। पूर्वोक्त संस्करण मे यह समग्र छपेगा। इस पर काश्मीरी पण्डित हेलाराज की बृहत् टीका है। धर्मपाल की टीका अभी तक नहीं मिली।—भगवद्दत्त।

प्रकार करते हैं जैसे मैदान के मध्य में पशुओं (मृगों) को भगा रहे हों और विवादों का समाधान इस प्रकार करते हैं जैसे उबलता हुआ पानी पाले को पिघला देता है। इस प्रकार वे सारे जम्बुद्वीप (भारत) में प्रसिद्ध हो जाते हैं, मनुष्यों और देवताओं से बढ़कर उनका सम्मान होता है, बुद्ध की सेवा तथा उसके धर्म्म की वृद्धि करते हुए वे सब लोगों को (निर्वाण तक) पहुँचा देते हैं। प्रत्येक पीढ़ी मे ऐसे मनुष्यों में से केवल एक या दो ही प्रकट हुआ करते हैं। उनकी उपमा सूर्य और चन्द्र से होती है, या उन्हें नाग और हाथी* की तरह समझा जाता है। पहले समय मे नागार्जुन, देव, अश्वघोष†; मध्यकाल में वसुबन्धु, असङ्ग, सङ्घभद्र और भवविवेक; और अन्तिम समय में जिन, धर्मपाल, धर्मकीर्ति, शीलभद्र, सिंहचन्द्र, स्थिरमति, गुणमति, प्रज्ञागुप्त ('मतिपाल' नहीं), गुणप्रभ, जिनप्रभ (या 'परमप्रभ') ऐसे मनुष्य थे‡।

---

* काश्यप कहता है कि यह 'नाग और हाथी' नहीं, किन्तु यह 'नाग-हाथी' है, क्योंकि सबसे अच्छे प्रकार का हाथी 'नाग' कहलाता है। उसका कथन ठीक जान पड़ता है; ऐसा ही पालि में 'एते नागा महापञ्ञा' (समन्तपासादिका; पृष्ठ ३१३) है।

† इस प्रकार इ-त्सिङ्ग पहले नागार्जुन, फिर देव और अश्वघोष लिखता है। म० फूजिशीमा के फ्रांसीसी अनुवाद मे यह क्रम बदल दिया गया था (Journal Asiatique Nov. Dec. 1888, p. 434), जैसा कि प्रोफेसर कोवल ने अपने बुद्ध-चरित (Preface; p. 5, Aryan Series Anecdota Oxoniensia) में उद्धृत किया है। इ-त्सिङ्ग अश्वघोष को प्रथम स्थान पर और नागार्जुन के पहले नहीं रखता। परन्तु उत्तरीय बुद्ध-धर्म्म का आचार्य होने के कारण अश्वघोष का स्थान बाकियों की अपेक्षा पहले है, क्योंकि वह बारहवाँ आचार्य है, और नागार्जुन और देव का स्थान क्रम से चौदहवाँ और पन्द्रहवाँ है।

‡ पाठ में दूर का (१), मध्यकालीन (२), और आधुनिक (३) है। म० फूजिशीमा ने (१) 'dans les temps anciens,' (२) 'dans

इन महोपाध्यायों मे से किसी में उपर्युक्त प्रकार के सद्गुणों में से किसी एक की भी, चाहे वह सांसारिक हो या धार्म्मिक, कमी न थी। ये मनुष्य लोभ से रहित होकर, आत्मसन्तोष का अभ्यास करते हुए, अनुपम जीवन बिताते थे। ऐसे चरित्र के मनुष्य नास्तिकों अथवा दूसरे लोगों मे बहुत कम पाये गये हैं।

[इ-त्सिङ्ग की टीका]—इनके जीवन-चरित 'भारत के दस धर्म्मशील मनुष्यों (या भदन्तों) की जीवनी' (जिन—जिनप्रभ) मे सविस्तर दिये गये हैं।

धर्म्मकीर्त्ति ने ('ज़िन' के पश्चात्) हेतुविद्या को और सुधारा; गुणप्रभ ने विनय-पिटक के अध्ययन को दुबारा लोकप्रिय बनाया; गुणमति ने अपने आपको ध्यान-सम्प्रदाय के अर्पण कर दिया, और प्रज्ञागुप्त (मतिपाल नहीं) ने सभी विपक्षी मतों का खण्डन करके सच्चे धर्म्म का प्रतिपादन किया। जिस प्रकार अमूल्य रत्न अपने सुन्दर वर्णों का प्रकाश विस्तीर्ण और अथाह सागर मे करते हैं, जहाँ केवल ह्वेल मछलियाँ ही रह सकती हैं; और जिस प्रकार औषधीय जड़ी-बूटियाँ अपने सर्वोत्तम गुण अपरिमेय ऊँचाईवाले गन्धमादन पर्वत पर उपस्थित करती हैं, उसी तरह सब प्रकार के योग्य मनुष्य उन लोगों मे पाये जाते हैं जो विशाल और व्यापक बुद्ध-धर्म्म के अनुयायी हैं। चाहे जिस विषय की आवश्यकता हो, ये लोग उसी

---

les temps modernes,' और '(३) *parmi nos contemporains,'* दिया है। प्रोफेसर वस्सीलीफ (Wassilief) ने म० फूजिशीमा के अनुवाद की शुद्धता के विषय में Petersburg Archæological Society के Zapiski, IV, 32 में सन्देह प्रकट किया है। मुझे उसके अनुवाद (२) पर कुछ आपत्ति नहीं, परन्तु 'parmi nos contemporains' कुछ भटका देनेवाला है।

स्थान पर ग्रन्थ रच सकते थे। तब उनके लिए चौदह 'सोपानों'* का क्या प्रयोजन है? ऐसे मनुष्य केवल एक ही बार सुनकर, दो ग्रन्थों† के विषयों को कण्ठस्थ कर सकते थे। तब उन्हें एक पुस्तक को सौ बार पढ़ने का (जैसा कि सुई शिह करता था) क्या प्रयोजन था?

[इ-त्सिङ्ग की टीका]—एक नास्तिक ने ६०० श्लोक बनाये और उनके साथ वह धर्म्मपाल से विवाद करने लगा; धर्म्मपाल ने अपने विपक्षी के श्लोकों को, सभा के सामने केवल एक बार सुनकर, समझ और याद कर लिया था‡।

भारत के पाँचों भागों मे ब्राह्मण सर्वत्र सबसे अधिक माननीय (वर्ण) समझे जाते हैं। जब वे एक स्थान में एकत्र होते हैं तब दूसरे तीन वर्णों के साथ नहीं मिलते, और मिश्रित वर्णों के लोगों का मेल-जोल तो उनके साथ और भी कम है। जिन धर्म्म-ग्रन्थों का वे पूजन करते हैं वे वेद हैं, जिनमें कोई १,००,००० मन्त्र हैं;§अब तक 'वेद' को चीनी अक्षरों मे भूल से 'वेई-तो' लिखा जाता

---

* इसका संकेत सम्भवतः इस कथा की ओर है कि त्सो-ची को उसके भाई (वेईके) वेन-ती ने सात सोपानों में एक चीनी कविता बनाने की आज्ञा दी थी; उसने ऐसा ही किया। भारतीय उपाध्याय तत्काल कविता कर सकते हैं। उन्हें सात 'सोपानों' के अन्तर का प्रयोजन नहीं। परन्तु 'चौदह' क्यों?

† 'दो ग्रन्थ', सम्भवत. नास्तिक के ६०० श्लोक दो ग्रन्थों में थे। इ-त्सिङ्ग का एक ग्रन्थ से तात्पर्य प्राय: ३०० श्लोक होता है।

‡ यह कथा ह्यू न-थ्साङ्ग के वृत्तान्त में पूर्ण रूप से दी गई है।

§ यह जनोक्ति बहुत पुरानी प्रतीत होती है। पुराणों में भी ऐसा ही उल्लेख है। इस समय ऋग्वेद में १०५८९, यजुर्वेद में १९७५, सामवेद में लगभग १८०० और अथर्ववेद में लगभग ६००० मन्त्र हैं। कुल मिलाकर कोई २०,००० मन्त्र बनते हैं। शतपथ ब्राह्मण १०।४।२।२३।२४॥ में ऋग्, यजु और साम मन्त्रों की संख्या २४००० बृहति छन्द के परिमाण की कही है।—भगवद्दत्त।

रहा है; इस शब्द के अर्थ 'स्वच्छ बुद्धि' या 'ज्ञान' हैं। वेद एक मुख से दूसरे मुख में चले आ रहे हैं। वे कागज़ या पत्तों पर नहीं लिखे गये।* प्रत्येक पीढ़ी में कुछ ऐसे ब्राह्मण रहते हैं जो १००,००० मन्त्रों को सुना सकते हैं। प्रबल मानसिक शक्ति प्राप्त करने के लिए भारत मे दो परम्परागत रीतियाँ हैं। एक तो, बार-बार कण्ठस्थ करने से बुद्धि विकसित हो जाती है; दूसरे, वर्णमाला मनुष्य के विचारों को स्थिर कर देती है। इस रीति से, दस दिन या एक मास के अभ्यास के अनन्तर, विद्यार्थी अनुभव करता है कि उसके विचार झरने के सदृश उठ रहे हैं, और जिस बात को उसने एक बार सुन लिया है उसे वह कण्ठस्थ कर सकता है (उसे दुबारा पूछने की आवश्यकता नहीं रहती)। यह कोई कल्पित कथा नहीं, क्योंकि मैंने स्वयं ऐसे मनुष्य देखे हैं।

पूर्वी भारत में चन्द्र नाम का (मूलार्थतः, 'चन्द्र-अधिकारी', शायद यह 'चन्द्रदास' हो) एक महापुरुष (महासत्त्व) रहता था। वह बोधिसत्त्व के सदृश महामति था। जब मैं, इ-त्सिङ्ग, उस देश मे गया था तब वह अभी जीता ही था। एक दिन एक मनुष्य ने उससे पूछा—'कौन सा अधिक हानिकारक है, प्रलोभन या विष?' उसने तत्काल उत्तर दिया—'वास्तव में, इन दो में बड़ा भेद है; विष केवल उसी समय हानिकारक होता है जब उसे खा लिया जाय, परन्तु दूसरे के चिन्तनमात्र से ही मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो (जल) जाती है'।

काश्यप-मातङ्ग और धर्म्मरक्ष† ने पूर्वी राजधानी लो (होनन-फू)

---

* कम से कम उत्तरीय भारत मे अलबेरूनी के काल से कुछ पहले तक यही प्रथा जारी थी। देखो अलबेरूनी—भगवद्दत्त।

† ये चीन में पहले दो भारतीय बौद्ध थे; वे चीन में सन् ६७ में आये और उन्होंने अनेक सूत्रों का अनुवाद किया। Nanjio's App. ii, 1 and 2.

मे सुसमाचार का प्रचार किया; परमार्थ* की कीर्ति दक्षिणी सागर (अर्थात् ननकिङ्ग) तक पहुँची थी, और पूजनीय कुमारजीव† ने विदेश (चीन) के सामने धर्म्मशीलता का आदर्श उपस्थित किया था। पीछे से भदन्त ह्यू न-श्साङ्ग स्वदेश मे अपना व्यवसाय करता रहा। इस रीति से, भूत और वर्तमान मे, आचार्यों ने बुद्ध-धर्म्म की ज्योति (या 'बुद्ध के सूर्य') को दूर-दूर तक फैलाया है।

जो लोग 'भाव' और 'अभाव' के सिद्धान्तों को सीखते हैं उनके लिए स्वयं त्रिपिटक ही उनका गुरु होगा, और जो लोग ध्यान और प्रज्ञा का अभ्यास करते हैं उनके पथदर्शक सात बोधि-अङ्ग‡ होंगे।

पश्चिम मे इस समय रहनेवाले (सबसे विख्यात) आचार्य ये हैं;—ज्ञानचन्द्र, जो धर्म्म का एक गुरु है, (मगध में) तिलढ§ विहार में रहता है; नालन्द विहार में, रत्नसिंह; पूर्वी भारत मे दिवाकर मित्र||, और अति दक्षिणी प्रान्त मे, तथागतगर्भ रहता

---

* परमार्थ चीन मे सन् ५४८ में आया, और उसने इकतीस ग्रन्थों का अनुवाद किया।

† कुमारजीव चीन मे सन् ४०१ के लगभग आया, और उसने पचास संस्कृत पुस्तकों का चीनी मे अनुवाद किया। Nanjio's App. ii 59, 104—105

‡ बोधि के सात अङ्ग, अर्थात् स्मरण, निरूपण, उत्साह, हर्ष, प्रशान्ति, चिन्तन और समचित्तता। देखो Childers, S. V. बोज्झङ्गो; Burnouf कमल, ७९६; Kasawara, धर्मसंग्रह, ४९, महाव्युत्पत्ति ३९.

§ तिलढ विहार ह्यू नश्साङ्ग का तिलढक है (Julien, Memoires, viii, 440, and Vie, iv, 211)। इ-त्सिङ्ग इस विहार को अपने वृत्तान्त मे नालन्द से दो योजन की दूरी पर लिखता है (देखो Chavannes, p. 146, note)। आधुनिक तिल्लार, नालन्द के पश्चिम में। Cf. Cunningham, Ancient Geography of India, i, 456.

|| हर्षचरित, (कश्मीर संस्करण, पृ० ४८८ तथा ४९७) में एक दिवाकरमित्र का बौद्ध भदन्त के रूप मे उल्लेख है। म० फूजिशीमा भूल से शक्रमित्र

है। दक्षिणी सागर के श्रीभोज में शाक्यकीर्ति निवास करता है, जिसने शिक्षा-प्राप्ति के लिए भारत के पाँचों देशों की यात्रा की थी और इस समय श्रीभोज (सुमात्रा) में है।

ये सब लोग अपने उज्ज्वल चरित्र के लिए समान रूप से प्रसिद्ध हैं, प्राचीनों के बराबर हैं, और ऋषियों के चरण-चिह्नों का अनुसरण करने के लिए उत्सुक हैं। जब वे हेतुविद्या की युक्तियाँ समझ लेते हैं तब जिन (हेतुविद्या का बड़ा सुधारक) के सदृश बनने की आकांक्षा करते हैं; योगाचार्य के सिद्धान्त को चखते हुए वे उत्साहपूर्वक असङ्गवाद का अनुसन्धान करते हैं।

जब वे 'नास्ति' पर संवाद करते हैं तब चतुराई से नागार्जुन का अनुकरण करते हैं; जब 'अस्ति' का वर्णन करने लगते हैं तब सङ्घभद्र की शिक्षा की सम्पूर्ण रूप से थाह लेते हैं। मैं, इ-त्सिङ्ग, इन आचार्यों के साथ ऐसी घनिष्ठता से वार्तालाप किया करता था कि उनसे व्यक्तिगत रूप से अमूल्य उपदेश प्राप्त कर सकता था (शब्दार्थ, मैं उनके आसनों और लिखने के फलकों के निकट गया और उनके प्रशंसनीय शब्दों को ग्रहण किया और उनसे हर्षित हुआ)।

मुझे सदा इस बात से बड़ी प्रसन्नता होती है कि मुझे व्यक्तिगत रूप से उनसे ज्ञान प्राप्त करने का अवसर मिला था जो अन्यथा मैं कभी प्राप्त न कर सकता, और मैं पुरानी टीकाओं का नवीनों के साथ मिलान करके अपने पिछले अध्ययन की स्मृति को ताज़ा कर सकता था।

मेरी एक मात्र कामना यह है कि मैं उस प्रकाश को पाऊँ जो एक काल से दूसरे काल को मिलता रहा है। मुझे सन्तोष

लिखता है। देखो जूलियन, Mèthode pour Dechiffrer les Noms Sanscrits, p. 70.

इसी बात मे है कि मैंने (प्रातःकाल) धर्म्म सीख लिया है, और मेरी इच्छा धूल की भाँति उठनेवाले सैकड़ों सन्देहों को मिटा देने की है, और (यदि मेरी इच्छा सबेरे पूरी हो जाय तो) सायङ्काल को मर जाने से मुझे कोई खेद नहीं होगा।

गृध्रकूट पर पीछे पड़े रह जानेवाले थोड़े से रत्नों को अब तक भी बटोरते हुए, मैंने कुछ अत्युत्तम रत्न पाये हैं; नागनदी (= अजिर्वती) में सौंपी हुई मणियों की खोज करते हुए मुझे कुछ अत्युत्कृष्ट मणियाँ मिली हैं। रत्नत्रय की अदृष्ट सहायता और राज-कृपा के दूर तक पहुँचनेवाले प्रभाव से मैं अपनी यात्रा-रूपी धारा को पूर्व की ओर मोड़ने में समर्थ हुआ, और ताम्रलिप्ति* से पोत पर सवार होकर श्रीभोज मे आ पहुँचा।

यहाँ आये मुझे चार से अधिक वर्ष हो चुके हैं। यहाँ मैं विविध रीतियों से अपने समय को काम मे लगा रहा हूँ, और मैंने अभी इस स्थान को छोड़कर स्वदेश जाने का निश्चय नहीं किया।

---

* हुगली के मुहाने के निकट, पूर्वी भारत में एक प्राचीन व्यापारिक बन्दर।

पैंतीसवाँ परिच्छेद

केशों के विषय में नियम

भारत के पाँचों खण्डों में सर्वत्र बिना सिर मुँड़ाये (मूलार्थतः 'लम्बे केशों के साथ') कोई भी मनुष्य सारी अन्तिम प्रतिज्ञाएँ (मूलार्थतः 'पूर्ण शील') नही ले सकता, न विनय में इसके लिए कोई उदाहरण है, और न पुराने समय मे कभी कोई ऐसी रीति ही थी। क्योंकि यदि भिक्षु भी साधारण उपासक जैसे ही स्वभाव रखता है तो वह दोषों से बच नहीं सकता। यदि मनुष्य शीलों पर चल नही सकता तो उसका उन पर चलने की प्रतिज्ञा लेना व्यर्थ है।

इसलिए यदि मनुष्य का मन भिक्षु होने पर लगा हो तो उसे चाहिए कि सिर मूँड़ने के लिए कहे, रँगा हुआ चोला पहने, अपने विचारों को पवित्र करे और मोक्ष को अपना लक्ष्य बनाये। उसे पाँच, और फिर दस शीलों का पालन करने मे न चूकना चाहिए। जिसने सभी शीलो का पालन करने की प्रतिज्ञा शुद्ध अन्तःकरण से की है उसे विनय-पुस्तकों के अनुसार उनका अनुष्ठान करना चाहिए।

योगाचार्य सूत्र (No. 1170) पढ़ लेने के पश्चात् उसे असङ्ग के आठ शास्त्रों का सम्पूर्ण रूप से अध्ययन करना चाहिए।

[इ-त्सिङ्ग की टीका]—आठ शास्त्र ये हैं—

१. विद्यामात्र विंशति(-गाथा)-शास्त्र या विद्यामात्रसिद्धि (वसुबन्धुकृत) (चीनी त्रिपिटक का नञ्जियो का सूचीपत्र, सं० १२४०)।

२. विद्यामात्रसिद्धि-त्रिदश-शास्त्र-कारिका (वसुबन्धु-कृत) (नञ्जियो का सूचीपत्र, सं० १२१५)।

३. महायानसम्परिग्रह-शास्त्रमूल (असङ्ग-कृत) (नञ्जियो का सूत्रपत्र, सं० ११८३, ११८४, १२४७)।

४. अभिधर्म(-सङ्गीत)-शास्त्र (असङ्ग-कृत) (नञ्जियो की नामावली, सं० ११९९; स्थितमति की टीका, सं० ११७८)।

५. मध्यान्तविभाग-शास्त्र (वसुबन्धु-कृत) (नञ्जियो की नामावली, सं० १२४४, १२४८)।

६. निदान-शास्त्र (सं० १२२७, १३१४ उल्लङ्घ-कृत, सं० १२११ शुद्धमति-कृत)।

७. सूत्रालङ्कार-टीका (असङ्ग-कृत, सं० ११९०)।

८. कर्मसिद्ध-शास्त्र (वसुबन्धु-कृत, सं० १२२१, १२२२)।

यद्यपि उपर्युक्त शास्त्रों मे वसुबन्धु के कुछ ग्रन्थ हैं, परन्तु (योग-पद्धति मे) सफलता असङ्ग की मानी जाती है (इसलिए असङ्ग के ग्रन्थों में वसुबन्धु की पुस्तकों का समावेश है)।

जो भिक्षु हेतुविद्या मे अपने आपको विख्यात करना चाहता है उसे 'जिन' के आठ शास्त्रों को सम्पूर्ण रूप से समझ लेना चाहिए।

[इ-त्सिङ्ग की टीका] वे ये हैं—

१. तीन लोकों के ध्यान का शास्त्र (मिला नही)।

२. सर्वलक्षणध्यान-शास्त्र (कारिका) (जिन-कृत) (नञ्जियो की नामावली, सं० १२२९)।

३. विषय के ध्यान का शास्त्र (जिन-कृत)। सम्भवत: आलम्बन-प्रत्यय ध्यान-शास्त्र (नञ्जियो की नामावली, सं० ११७३)।

४. हेतुद्वार पर शास्त्र (नहीं मिला)।

५. हेत्वाभासद्वार पर शास्त्र (नही मिला)।

६. न्यायद्वार (तारक)-शास्त्र (नागार्जुन-कृत) (नञ्जियो की नामावली, सं० १२२३, १२२४)।

७. प्रज्ञपति-हेतु-संग्रह (?)-शास्त्र (जिन-कृत) (नञ्जियो, सं० १२२८)।

८. एकीकृत अनुमानों पर शास्त्र (नहीं मिला)।

अभिधर्म का अध्ययन करते समय उसे छः पादों* का सम्पूर्ण पाठ करना चाहिए, और आगमों† को सीखते समय चार निकायों के सिद्धान्तों का अखण्ड रूप से निरूपण करना चाहिए। इन सब पर अधिकार हो जाने के पश्चात्, भिक्षु नास्तिकों और विवाद करनेवालों का सफलता-पूर्वक मुक़ाबला कर सकता, और धर्म्म की सच्चाइयों की व्याख्या करके सबको बचाने में समर्थ हो जाता है। वह दूसरों को ऐसे उत्साह के साथ शिक्षा देता है कि उसे थकावट मालूम ही नहीं होती। वह अपने मन मे 'दुहरे शून्य' के चिन्तन का अभ्यास करता है। वह 'आठ श्रेष्ठ मार्गों' द्वारा अपने हृदय को शान्त करता है, सावधानी से 'चार ध्यानों' में लग जाता है, और सात स्कन्धों‡ के नियमों का ठीक-ठीक पालन करता है।

---

* अभिधर्म पर ये छः निबंध हैं, और इन सबका सम्बन्ध सर्वास्तिवाद-निकाय से है, संख्या १२७६, १२७७, १२८१, १२८२, १२९६, और १३१७.

† आगम (त्रिपिटक का एक विभाग) ये हैं—

(१) दीर्घागम (३० सूत्र, तुलना कीजिए दीघनिकाय, ३४ सुत्त)।

(२) मध्यमागम (२२२ सूत्र, तुलना कीजिए, मज्जिमनिक, १५२ सुत्त)।

(३) सम्युक्तागम (सम्युत्तनिकाय, ७७६० सुत्तन्त)।

(४) एकोत्तरागम (अंगुत्तरनिकाय, ६५५७ सुत्तन्त)।

पालि मे पाँच निकाय हैं, पाँचवाँ खुद्दकनिकाय (१५ भाग) है।

‡ सात स्कन्धों में भिक्षुओं से सम्बन्ध रखनेवाले विशेष अपराध हैं:—

(१) पाराजिक पाप वह है जिसके लिए भिक्षु को निकाल दिया जाता है।

(२) सङ्घादिशेष अपराधों की संख्या तेरह है। इनके लिए रोक और पश्चात्ताप की आवश्यकता होती है, परन्तु निकाल देने की नहीं।

जो लोग इस प्रकार जीवन व्यतीत करते हैं वे उच्चकोटि के हैं।

कुछ लोग ऐसे हैं जो यद्यपि उपर्युक्त महात्माओं की तरह आचरण नहीं कर सकते, पर घर के कामों में बहुत बँधे हुए नहीं। उनका जीवन सरल तथा निष्कपट है, और वे सांसारिक चिन्ताओं को छोड़ देने की इच्छा रखते हैं। यदि उनसे कोई चीज़ माँगी जाय तो वे पात्र को दे देते हैं।

वे बहुत सादा वस्त्र रखते हैं, और केवल शिष्टता का ध्यान रखते हैं। वे आठ उपदेशों (शील) का दृढ़ता से पालन करते, और आयु-पर्यन्त उद्यमशील बने रहते हैं।

[इ-त्सिङ्ग की टीका]—आठ उपदेश ये हैं—(१) हत्या न करना, (२) चोरी न करना, (३) व्यभिचार न करना, (४) झूठ न बोलना, (५) मदिरा न पीना, (६) न सङ्गीत से प्रसन्न होना, न हार पहनना, और न सुगन्धित पदार्थों से अभिषेक करना, (७) ऊँचे और चौड़े पलँग का उपयोग न करना, (८) निषिद्ध समयों में भोजन न करना।

वे तीन पूज्यों (अर्थात् तीन रत्नों) में विश्वास रखते और उनका सम्मान करते हैं, और अपने आपको निर्वाण-प्राप्ति में लौलीन करके (या निर्वाण को लक्ष्य बनाकर) अपने विचारों को उसी पर एकाग्र कर देते हैं।

इन व्यक्तियों की पदवी क्रम में (उच्च श्रेणियों से) दूसरी है।

---

(३) स्थूलात्याय एक घोर अपराध (थुल्लचय) है।

(४) प्रायश्चित्तिक अपराधों की संख्या बानवें है, और उनके लिए अङ्गीकार और क्षमा (पाचित्तिय) का प्रयोजन है।

(५) नैसर्गिक संख्या में तीस है। वे प्रायश्चित्तिक पाप हैं, जिनके साथ ज़ब्ती (निस्सग्गिय) भी है।

(६) दुष्कृत (दुक्कत)।

(७) दुर्भाषित (दुब्भासित)।

देखो आपत्तिखण्डो, चाइल्डर का पालि अभिधान, चुल्लवग्ग ६, ३, ३.

ऐसे लोग भी हैं जो, (सांसारिक कार्यों को) सीमाओं में रहते हुए, अपनी स्त्रियों का भरण-पोषण तथा बच्चों का पालन और शिक्षण करते हैं। वे अपने से श्रेष्ठ लोगों की सम्मानपूर्वक पूजा और अपने से नीच लोगों पर दया करते हैं।

वे पाँच उपदेशों को ग्रहण और उनका पालन करते हैं, और सदा उपवास के चार दिन (उपवसथ) मनाते हैं।

[इ-त्सिङ्ग की टीका]—उपवास के चार दिन ये हैं—

(क) चाँद के कृष्ण पक्ष (काले पक्ष) में, अष्टमी और चतुर्दशी (पालि में, 'अट्ठमी' और 'चातुद्दशी'), या दशमी और अमावस्या। (ख) शुक्ल पक्ष मे, अष्टमी और पूर्णिमा (पालि में, 'अट्ठमी' और 'पञ्चदशी')।

इन दिनों मे मनुष्य को आठ उपदेश लेने चाहिएँ। यह क्रिया 'पवित्र अनुष्ठान' कहलाती है। यदि मनुष्य बाक़ी सात को छोड़कर केवल आठवाँ उपदेश ('निर्दिष्ट समय के सिवा भोजन न करना') ही लेता है तो उसे बहुत थोड़ा पुण्य (मूलार्थत: 'सुख का हेतु') मिलता है। आठवे उपदेश का प्रयोजन दूसरे सात उपदेशों के उल्लङ्घन से बचना है, न कि व्यर्थ में पेट को भूखा रखना।

वे दूसरों के प्रति सहानुभूति का बर्ताव करते और अपने आपको सावधानी से संयम मे रखते हैं। वे कोई निर्दोष व्यवसाय करते हैं, और अधिकारियों को कर देते हैं। ऐसे लोग भी अच्छे मनुष्य समझे जाते हैं।

[इ-त्सिङ्ग की टीका]—निर्दोष व्यवसाय से अभिप्राय वाणिज्य से है, क्योंकि इससे जीवों की हानि नहीं होती। इस समय भारत में वणिकों को किसानों से अधिक सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है; इसका कारण यह है कि कृषि से अनेक कृमियों के प्राणों की

हानि होती है। रेशम के कीड़े पालने या पशु-वध करने से मनुष्य को भारी पाप लगता है।

वर्ष भर में करोड़ों जीवों की हानि होगी। ऐसे व्यापार को चिरकाल तक करते रहने से, चाहे वह दोषयुक्त न समझकर ही किया जाता रहा हो, मनुष्य को अगले जन्मों,में असंख्य रीतियों से इसका प्रतिफल भोगना पड़ेगा। जो ऐसा व्यवसाय नहीं करता वह 'निर्दोष' कहलाता है।

परन्तु कुछ दुर्मति लोग ऐसे हैं जो, पशुवत् जीवन व्यतीत करते हुए, तीन शरणों (अर्थात् बुद्ध की शरण, धर्म्म की शरण, और सङ्घ की शरण) को नहीं जानते, और अपने जीवन मे एक भी उपदेश का पालन नहीं करते। ये लोग, जिनको यह ज्ञात नहीं कि निर्वाण पूर्ण शान्ति की अवस्था है, कैसे जान सकते हैं कि उनके अगले जन्म चक्र की भाँति घूमेंगे ?

इस भ्रम मे पड़े हुए वे पाप पर पाप करते चले जाते हैं। ये लोग सबसे नीच श्रेणी के हैं।

———

छत्तीसवाँ परिच्छेद

मृत्यु के पश्चात् कार्यों का प्रबन्ध

मृत भिक्षु के कार्यों के प्रबन्ध की रीति का विनय में पूर्ण रूप से वर्णन है। मैं यहाँ संक्षेप से बहुत आवश्यक बातें देता हूँ। सबसे पहले इस बात का पता लेना चाहिए कि कोई ऋण तो नहीं; मृत व्यक्ति कोई मृतपत्र तो नहीं छोड़ गया और रुग्णावस्था में कौन उसकी सेवा करता रहा है। यदि ऐसी अवस्था हो तो सम्पत्ति का बँटवारा राजनियम के अनुसार होना चाहिए। जो सम्पत्ति बच जाय उसे उचित रूप से बाँट देना चाहिए।

उदान* (त्रिपिटक का एक भाग) का एक श्लोक है—

'भूमि, घर, दूकानें, बिछौने की सामग्री,
ताँबा, लोहा, चमड़ा, उस्तरे, बर्तन,
कपड़े, छड़ियाँ, पशु, पेय पदार्थ, भोजन,
ओषधि, पलँग, तीन प्रकार की—
बहुमूल्य वस्तुएँ, सोना, चाँदी, इत्यादि,
विविध वस्तुएँ—बनी हुई या बिना बनी हुई;
इनको, इनके गुणों के अनुसार, विभाज्य

* देखो मेक्समुलर का धम्मपद, S. B. E. vol. x, p. ix, and चाइल्डर्स का S, Y. तिपिटकम्। इस उदान के साथ आरम्भ होनेवाली कोई बीस पंक्तियाँ विनय-संग्रह (नन्जियो की नामावली, सं० ११२७) से अक्षरशः मिलती हैं, देखो खण्ड ७, अध्याय २१, पृ० ३८, जापानी संस्करण में (Bodl. Jap. 65)।

अथवा अविभाज्य ठहराना चाहिए।

जगति-पूज्य बुद्ध ने यह विधान किया था।'

इसका विशेष वर्णन इस प्रकार है—भूमि, घर, दूकानें, बिछाने की सामग्री, ऊनी आसन, और लोहे या ताँबे के उपकरण बाँटे नहीं जा सकते। परन्तु शेषोक्त में से बड़े और छोटे लोहे के कटोरे, ताँबे के छोटे कटोरे, दरवाज़ों की चाभियाँ, सुइयाँ, बरमे, उस्तरे, चाकू, लोहे की डोइयाँ, काँसे की चीज़ें, कुल्हाड़े, छेनियाँ इत्यादि और साथ ही उनकी थैलियाँ, मिट्टी के बर्तन अर्थात् प्याले-प्यालियाँ, पीने और साफ़ करने के पानी के लिए कुण्डिक, तेल के घड़े और पानी के बासन बाँटे जा सकते हैं; बाक़ी नहीं। लकड़ी और बाँस के उपकरण, चमड़े के बिछौने, चौर की सामग्री; दास और दासियाँ; मदिरा, भोजन, अनाज; भूमि और घर, ये सब प्रत्येक प्रान्त से आकर एकत्र होनेवाले भिक्षुओं की सम्पत्ति बना देनी चाहिएँ। इनमें से जङ्गम वस्तुएँ सङ्घ के उपयोग के लिए कोषागार में रक्खी जानी चाहिएँ। भूमि, घर, ग्राम्य-वाटिकाएँ, भवन—जो स्थावर हैं—भी सङ्घ की ही सम्पत्ति हो जाते हैं। यदि वस्त्र या कोई अन्य पहनने योग्य वस्तुएँ रह जायँ, चाहे वे चोले हों, रँगी हुई या बिना रँगी स्नान करने की कमीज़ें हों, या मोमजामे हों, बटलोइयाँ, स्लीपर या जूते, ये सब उसी स्थान पर उस समय एकत्रित भिक्षुओं में बाँट देने चाहिएँ। जिस कपड़े में बाँहों का एक जोड़ा हो वह बाँटा नहीं जा सकता, किन्तु सफ़ेद वस्त्र जो दुहरा बनाया जाता है, अपने इच्छानुसार बाँटा जा सकता है।

बुद्ध की जाम्बूनदवर्ण मूर्त्ति के सामने लम्बी-लम्बी छड़ियों का झंडों के रूप में उपयोग किया जाता है। पतली छड़ियाँ भिक्षुओं को दे दी जाती हैं ताकि वे उन्हें धातु की छड़ियों के रूप में व्यवहार करें।

[इ-त्सिङ्ग की टीका]—'जाम्बूनदवर्ण' नामक प्रतिमा की उत्पत्ति का वर्णन विनय में है। जब बुद्ध सङ्घ में नहीं होते थे तब भिक्षु लोग बहुत विनीत नहीं रहते थे; इस अवस्था से विवश होकर धनाढ्य अनाथ-पिण्डद ने बुद्ध से इस प्रकार पूछा—'मैं, सङ्घ के सम्मुख रखने के लिए, तेरी जाम्बूनदवर्ण (सोने के रङ्ग की) प्रतिमा बनाना चाहता हूँ।' गुरुवर ने यह प्रतिमा बनाने की आज्ञा उसे दे दी।

धातु की छड़ी संस्कृत में 'खक्खर*' कहलाती है, और (छड़ी लेकर चलने से उत्पन्न होनेवाले) शब्द को दिखलाती है। पुराने अनुवादक ने इसका अनुवाद 'धातु की छड़ी' किया है, क्योंकि शब्द धातु से उत्पन्न होता है; आप चाहें तो इसे 'छड़ी की धातु' कह सकते हैं। जैसा कि मैंने स्वयं देखा है, पश्चिम (भारत) मे जिस छड़ी का व्यवहार किया जाता है उसकी चोटी पर लोहे का एक चक्र जड़ा होता है; चक्र का व्यास दो-तीन ंच होता है, और इसके मध्य मे चार-पाँच अङ्गुल लम्बा नली के आकार का धातु का एक सिरा होता है। स्वयं लाठी, साफ़ या खुरदरी लकड़ी की बनी होती है। इसकी लम्बाई मनुष्य की भृकुटी तक पहुँचती है। चोटी के चक्र से कोई दो इंच नीचे लोहे की एक ज़ञ्जीर बाँधी जाती है, जिसके छल्ले गोल या अण्डाकार होते हैं और एक तार को झुका-कर और इसके सिरों को एक-दूसरे छल्ले मे जोड़कर बनाये जाते हैं। प्रत्येक छल्ला इतना बड़ा बनाया जाता है कि जिसमें से तुम अपना अँगूठा डाल सको। ऐसी छः या आठ ज़ञ्जीरें चोटी के

---

* यह नाम यद्यपि ठीक संस्कृत नहीं, पर ऐसा जान पड़ता है कि इसका व्यवहार बौद्धों की छड़ी के लिए होता था। देखिए महाव्युत्पत्ति, २६८; ह्यू न-त्साङ्ग, ii, 509 तुलना कीजिए, 'कत्तर-दण्ड', महावग्ग ५, ६, २, चुल्लवग्ग ८, ६, ३, और जातक १, ६.

चक्र में से बाँधी जाती हैं। ये ज़ञ्जीरें लोहे या ताँबे की होती हैं। ऐसी लाठी रखने का प्रयोजन गाँव में भिक्षा लेते समय गायों या कुत्तों को दूर रखना है। यह आवश्यक नहीं कि इसको इस प्रकार उठाने का विचार किया जाय कि जिससे बाँहें थक जायँ। इसके अतिरिक्त, कुछ लोग मूर्खता से सारी लाठी लोहे की ही बनाते और उसकी चोटी पर लोहे के चार चक्र लगा देते हैं। यह बहुत भारी होती है और एक साधारण व्यक्ति के लिए इसे उठाये फिरना कठिन होता है। यह मूल-नियमों के अनुरूप नहीं।

चतुष्पाद, हाथी, घोड़े, खच्चर, सवारी के गधे 'राजपरिवार' को दे दिये जाते हैं। साँड़ और भेड़ें बाँटी नहीं जानी चाहिएँ, किन्तु वे सारे समाज की होती हैं। टोप, कवच, इत्यादि वस्तुएँ भी राजपरिवार में भेज देनी चाहिएँ। सूइयों, बरमों, चाकुओं या धातु की लाठियों के सिरों को दे देने के बाद फुटकर शस्त्र उस समय एकत्रित भिक्षुओं में बाँट दिये जाते हैं। यदि वे सबके लिए पर्याप्त न हों तो केवल बड़े भिक्षु ही उन्हें ले लें।

जाल जैसी वस्तुओं की खिड़कियों के लिए जालियाँ बना ली जाती हैं। अच्छे प्रकार के रङ्ग, जैसे कि पीला, सिंदूरी, आसमानी, नीला, हरा, मूर्त्तियों और इर्द-गिर्द के अलङ्कारों को रँगने के लिए मन्दिर मे भेज दिये जाते हैं।

श्वेत और लाल मिट्टी और घटिया नीले पदार्थ एकत्रित भिक्षुओं में बाँट दिये जाते हैं। द्राक्षमदिरा यदि खट्टी होने के निकट हो तो भूमि में गाड़ दी जाती है, और इसके सिरका बन जाने पर भिक्षु इसका उपयोग कर सकते हैं। परन्तु यदि यह मीठी ही बनी रहे तो इसे फेंक देना चाहिए, किन्तु इसे बेचा न जाय। क्योंकि बुद्ध ने कहा है—'तुम भिक्षु लोगो, जिन्होंने मुझसे दीक्षा पाई है, न तो किसी दूसरे को मदिरा दो, और न आप ही इसका सेवन करो।

अपने मुख में इतनी थोड़ी भी मदिरा न डालो जितनी कि नरकट के सिरे से गिरी हुई एक बूँद होती है।' यदि मनुष्य मदिरा के साथ मिलाकर आटा, मदिरा के तलछट से बना हुआ जूस खाता है तो वह अपराध करता है। इस विषय में मनुष्य को सन्देह में नहीं रहना चाहिए, क्योंकि विनय में इसके निषेध के लिए एक नियम है। मैं जानता हूँ कि (चीन में) पवित्र शिला* का विहार आटे को मिलाने के लिए जल का व्यवहार करता है। इस विहार के पूर्व निवासियों मे इस प्रयोजन के लिए मदिरा का उपयोग न करने की यथेष्ट बुद्धि थी, ताकि कोई अपराध न लगे।

औषधीय पदार्थ, प्रयोजन के समय रोगियों को देने के लिए, एक पवित्र भण्डार मे रक्खे जाने चाहिएँ। बहुमूल्य पत्थर, रत्न, और ऐसी ही दूसरी वस्तुएँ दो भागों में विभक्त की जाती हैं, एक तो धार्म्मिक प्रयोजनों (धम्मिक) के अर्पण होता है, और दूसरा भिक्षुओं के अपने उपयोग के लिए (सङ्घिक) रहता है। प्रथमोक्त भाग धर्म्म-पुस्तकों के नक़ल कराने और 'सिंहासन' के निर्माण या सजावट मे ख़र्च होता है। दूसरा भाग उपस्थित भिक्षुओं मे बाँट दिया जाता है। ऐसी वस्तुएँ, जैसे कि रत्न-जड़ित कुरसियाँ, बेच देनी चाहिएँ और उनका मूल्य उपस्थित जनों को दे दिया जाय।

लकड़ी की कुरसियाँ साझे की सम्पत्ति बना दी जाती हैं। परन्तु धर्म-पुस्तकें तथा उनकी टीकाएँ किसी को नहीं देनी चाहिएँ, किन्तु उन्हे सम्प्रदाय† के लोगों के पाठ के लिए एक पुस्तकालय में रख देना चाहिए। जो पुस्तकें बौद्ध-धर्म की न हो उन्हें बेच डाला जाय, और (उनसे प्राप्त हुआ धन) उस समय निवास करनेवाले भिक्षुओं में बाँट दिया जाय। यदि लेखपत्र और ठेके

---

* लिङ्ग-यन।

† तुलना कीजिए चतुद्दिससंघ।

तत्काल देय हों तो (रुपया) वसूल करके चटपट बाँट देना चाहिए; यदि वे तत्काल देय न हों तो लेखपत्र कोष में रख छोड़ने चाहिएँ, और जब उनकी अवधि पूरी हो जाय, तब (रुपया) सङ्घ के उपयोग के अर्पण कर दिया जाय। सोना, चाँदी, गड़ा हुआ तथा बिना गड़ा हुआ माल, कौड़ियाँ (कपर्द) और मुद्राएँ, बुद्ध, धर्म्म तथा सङ्घ के लिए, तीन भागों मे बाँट दी जाती हैं। बुद्ध का भाग मन्दिरों, उन स्तूपों —जिनमें पवित्र बाल या नाख़ून रक्खे हुए हैं— और अन्य खण्डहरों के जीर्णोद्धार मे व्यय किया जाता है।

धर्म्म का भाग धर्म्म-पुस्तकों की नक़ल कराने और 'सिंहासन' के निर्माण तथा सजावट मे लगाया जाता है। दूसरा सङ्घ का भाग मठ मे रहनेवाले भिक्षुओं मे बाँट दिया जाता है।

भिक्षु के छः परिष्कार* रोगी धात्री को दिये जाते हैं। बाक़ी की टूटी हुई चीज़ें उचित रूप से बाँट दी जायँ।

इस विषय का सम्पूर्ण वर्णन बड़ी विनय में मिलता है।

---

* देखो परिच्छेद १०,

सैंतीसवाँ परिच्छेद

सङ्घ की साधारण सम्पत्ति का उपयोग

सभी भारतीय विहारों मे भिक्षु को कपड़े मठ मे रहनेवाले भिक्षुओं (के साझे की पूँजी) से दिये जाते हैं। खेतों और उद्यानों की उपज, और वृक्षो तथा फलों से होनेवाली आय, कपड़ों का व्यय पूरा करने के लिए प्रति वर्ष भागों में बाँट दी जाती है। एक प्रश्न है। यह देखकर कि मृतक के चावल या कोई दूसरा भोजन सम्प्रदाय की सम्पत्ति बन जाता है, एक भिक्षु व्यक्तिगत रूप से उसमे से, जो समाज की सम्पत्ति बन गई है, अपना भाग कैसे ले सकता है? हम इस प्रकार उत्तर देते हैं—दानी निवास करने-वाले भिक्षुओं के निर्वाह के लिए गाँव और खेत देता है। तब क्या यह युक्तिसङ्गत है कि जो भोजन देता है वह यह चाहे कि लेनेवाला कपड़ों के बिना ही रहे? इसके अतिरिक्त, यदि हम (दैनिक कार्यों के) वास्तविक प्रबन्ध को देखें, तो गृहस्थ उसको कपड़े देता है जो उसकी सेवा करता है। परिषद् का प्रधान ऐसा ही दान देने से क्यों इन्कार करे? इसलिए भोजन और कपड़ों का देना धर्म्मसम्मत है।

भारत के भिक्षुओं की साधारण सम्मति ऐसी ही है, यद्यपि इस विषय पर विनय के नियम कभी तो चुप हैं और कभी स्पष्ट। भारतीय विहारों को भूमि की विशेष जागीरें मिली हुई हैं, जिनकी आय से भिक्षुओं को वस्त्र दिये जाते हैं। कुछ चीनी मन्दिरों मे भी ऐसी ही अवस्था है। खेत देनेवाले के मूल सङ्कल्प के

कारण विहार में (रहनेवाला) कोई भी व्यक्ति—चाहे वह भिक्षु हो या साधारण भक्त—उसी स्रोतसे दान ले सकता है। परन्तु यदि वह भोजन नही करता तो यह किसी का दोष न होगा। यह माना गया है कि सम्प्रदाय को जो दान मिलता है—चाहे वह खेत हो चाहे घर, या कोई क्षुद्र वस्तु,—वह भिक्षुओं के भोजन और आच्छादन के लिए दिया जाता है। इस विषय में कुछ भी सन्देह नहीं। यदि उपकारी का वास्तविक सङ्कल्प निष्कपट रूपसे उदार था, तो दानके लाभ सब के लिए समझे जा सकते हैं, चाहे यह केवल देव-मन्दिर को ही भेंट दिया गया हो।

इसलिए सम्प्रदाय, जब तक वह दाता के वास्तविक सङ्कल्प को पूरा करता है, बिना किसी दोष के, जैसा चाहे दानों का उपयोग कर सकता है।

परन्तु चीन मे, कोई व्यक्ति प्रायः विहार की सम्पत्ति से वस्त्र नहीं ले सकता, इसलिए उसे इस आवश्यकता के लिए पहले से उपाय करना पड़ता है, जिससे वह अपने विशेष कार्यों को भुला देता है। यह नहीं कि जिसको भोजन और कपड़ा मिल जाता है वह बिना किसी शारीरिक या मानसिक श्रम के जीवन व्यतीत करता है, किन्तु यह एक सच्ची बात है कि यदि मनुष्य केवल ध्यान और उपासना में लगा हुआ विहार मे रहे तो वस्त्र और भोजन की चिन्ता का कुछ भी प्रयोजन न होने से वह बहुत स्वतंत्र हो सकता है।

जिसके पास पांसु (धूल के ढेर) के (चिथड़ों से बनाये हुए) तीन चीवरों के सिवा और कुछ नहीं, जो द्वार-द्वार से भोजन की भिक्षा करता और अरण्य मे वृक्षों के नीचे रहता है, वह यति का पवित्र जीवन व्यतीत करता है*। मोक्ष-मार्ग पर मनुष्य का लक्ष्य

---

* पुराने बौद्धों का ऐसा जीवन अभी इ-त्सिङ्ग के समय मे भी मौजूद था, देखिए परिच्छेद ६। यह जीवन धूताङ्गो के अनुसार है।

जितना अधिक दृढ़ता-पूर्वक स्थिर होता है उतना ही उसका आन्तरिक ध्यान और ज्ञान बढ़ता है। बाहर से प्रेम और दया दिखलाने से मनुष्य का मन मुक्ति-घाट की ओर जाता है। जो जीवन इस रीति से समाप्त होता है वह सर्वोच्च है। भिक्षुओं के चीवर विहार में रहनेवाले भिक्षुओं की साझे की सम्पत्ति में से दिये जाने चाहिएँ, और प्रत्येक वस्तु—जैसे कि बिछौने के कपड़े, इत्यादि—समान रूप से बाँटी जानी चाहिए और किसी एक ही व्यक्ति को नहीं दी जानी चाहिए; इस प्रकार उन्हें विहार की सम्पत्ति की रक्षा अपनी निज की सम्पत्ति से भी अधिक सावधानी से करनी चाहिए। यदि अनेक दान हों तो विहार को चाहिए कि बड़े को पुण्यार्थ दे के छोटे को रख ले। यह बुद्ध की श्रेष्ठ शिक्षा के अनुकूल है, क्योंकि उसने स्पष्ट कहा है—'यदि तुम वस्तुओं का यथोचित रीति से उपयोग करोगे तो तुममें कोई दोष न मिलेगा। तुम यथेष्ट रूप से अपना निर्वाह कर सकोगे, और श्रमपूर्वक आजीविका की तलाश करने के कष्ट तथा व्यय से मुक्त हो जाओगे'।

विहार के लिए बहुत सा धन, सड़े हुए अनाज से भरे हुए खाते, अनेक दास और दासियाँ, कोषागार में इकट्ठा किया हुआ रुपया और ख़ज़ाना रखना, और इनमे से किसी भी चीज़ का उपयोग न करना, जब कि सारे सदस्य निर्धनता से दुःख पा रहे हों, अनुचित है। बुद्धिमानों को सदा सत्यासत्य का ठीक निर्णय करके उसके अनुसार आचरण करना चाहिए।

कुछ विहार ऐसे हैं जो वहाँ रहनेवालों को भोजन नहीं देते, किन्तु प्रत्येक वस्तु उनमें बाँट देते हैं और उन्हें अपने भोजन के लिए स्वयं उपाय करना पड़ता है। ऐसे विहार किसी परदेसी को वहाँ निवास करने की आज्ञा नहीं देते। इस प्रकार जो लोग किसी प्रदेश से आते हैं उन्हें ये विहार स्वयं अधर्म्म-सङ्गत जीवन

बिताने का प्रलोभन देते हैं ('या ऐसे विहार के अधिकारी उन सब भिक्षुओं के जीवन की अधर्म्म-सङ्गत रीति के लिए उत्तरदाता होंगे जो उनके संसर्ग में आते हैं')। जो लोग ऐसा अधर्म्म-सङ्गत आचरण कराते हैं उन्हें इसका कुफल अवश्य मिलेगा, और उनके सिवा किसी दूसरे को भावी परिणाम न भोगने पड़ेंगे।

———

अड़तीसवाँ परिच्छेद

शरीर का जलाना अधर्म्मसंगत है

बुद्ध-भिक्षुओं के लिए अध्ययन की केवल एक ही पद्धति है। जिन लोगों ने अभी अध्ययन आरम्भ ही किया है वे विक्रान्त और विश्रुत बनने पर तत्पर हैं, पर अपने धर्म्म-ग्रन्थों का उन्हें कुछ ज्ञान नहीं। वे उन लोगों का अनुसरण करते हैं जो उँगलियों को जला देना धर्म्मनिष्ठा का काम और आग से अपने शरीर को नष्ट कर डालना प्रशंसा का कर्म समझते थे। वे ऐसे कामों को अपने हृदय में ठीक समझते हुए अपनी ही प्रवृत्ति पर चलते हैं। यह सच है कि सूत्रों मे ऐसे कर्मों के कुछ उल्लेख हैं, परन्तु वे भक्तजनों के लिए हैं, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर उनके लिए न केवल अपने कोष, वरन् अपना जीवन दे देना भी ठीक है। इसलिए सूत्रों में यह बार-बार कहा है—'यदि मनुष्य अपना हृदय धर्म्म की ओर झुकाता है,' इत्यादि, और इस प्रकार इसका संकेत स्वयं भिक्षुओं की ओर नहीं। क्यों? प्रव्रजितों को अपने आपको दृढ़तापूर्वक विनय के नियमों की सीमा मे ही रखना चाहिए। यदि वे उनके उल्लङ्घन का अपराध नही करते तो उनका आचरण सूत्रों के अनुकूल है। यदि वे किसी उपदेश का उल्लङ्घन करते हैं तो उनकी आज्ञानुवर्तिता मे दोष है।

भिक्षु होने के कारण उन्हे घास का एक तिनका भी नष्ट न करना चाहिए, चाहे सारा मन्दिर घास से ढका हुआ हो। चाहे वे किसी एकाकी खेत मे भूख से मर रहे हों, उन्हें चावल का एक

दाना भी न चुराना चाहिए। परन्तु सर्वसत्त्वप्रियदर्शन* के ऐसे भक्तजन के लिए अपनी बाँह को भी भूनकर भोजन देना ठीक है। बोधिसत्त्व ने अपने लड़कों और लड़कियों तक का दान कर दिया था, परन्तु भिक्षु को देने के लिए लड़का और लड़की ढूँढ़ने का प्रयोजन नहीं। महासत्त्व ने अपने नेत्र तथा शरीर दे दिया था, परन्तु भिक्षु को ऐसा करने का प्रयोजन नहीं। हि्सएन यू (ऋषि†-नन्दित) ने अपना जीवन सौंप दिया था, परन्तु यह कोई ऐसा उदाहरण नहीं जिसका अनुकरण विनय के विद्यार्थी के लिए अच्छा हो।

राजा मैत्रीबल ने अपनी बलि दे दी थी, परन्तु भिक्षु को उसके उदाहरण का अनुकरण नहीं करना चाहिए। मैंने अभी सुना है कि (चीन या भारत के, सम्भवतः चीन के) युवक अपने आपको वीरतापूर्वक धर्म्म-अनुष्ठान के अर्पण करते हुए, शरीर जला देने को बुद्धत्व प्राप्त करने का एक साधन समझते हैं, और एक दूसरे के बाद अपने जीवनों का परित्याग करते हैं।

ऐसा नहीं होना चाहिए। क्योंकि देहान्तरगमन की दीर्घ अवधि के पश्चात् मनुष्य-जन्म प्राप्त करना कठिन है। एक सहस्र बार मनुष्य-जन्म पाने पर भी हो सकता है कि मनुष्य को प्रज्ञा प्राप्त न हो, न वह सात बोध्यङ्गों‡ को सुने और न तीन पूज्यों (रत्नत्रय) को मिले। अब हमें एक उत्कृष्ट स्थान में निवास मिला है और हमने प्रशंसनीय धर्म्म को धारण किया है। सूत्रों के केवल थोड़े से श्लोक पढ़कर ही अपने क्षुद्र शरीर को छोड़ देना व्यर्थ

---

* अपने शरीर को जला देने, इत्यादि, की कथा सद्धर्मपुण्डरीक, अंश २२ में है।

† काश्यप के अनुसार यह मैत्रीबल की उपाधि थी, जिसका जातक जातकमाला (८ वाँ) में मिलता है। कर्न का संस्करण पृष्ठ ४१ देखिए।

‡ चाइल्डर्स का S. V. बोज्झङ्गो।

है। हमारे अनित्यता पर ध्यान करना आरम्भ करने के इतनी जल्दी बाद, हम ऐसी निःसार बलि को बड़ा कैसे समझ सकते हैं?

हमें चार प्रकार के उपकारों* का बदला चुकाकर उपदेशों का ठीक-ठीक पालन करना और प्राणियों† की तीन श्रेणियों को बचाने के लिए ध्यान में लग जाना चाहिए। ठीक जिस प्रकार अतल सागर में तैरते समय मनुष्य ने पवन से भरा हुआ थैला पकड़ रक्खा हो, उसी प्रकार हमें अनुभव करना चाहिए कि एक छोटे से अपराध में भी कितना बड़ा भय है। पतली बरफ़ पर दौड़ते हुए घोड़े के काँटा लगाने के सदृश, प्रज्ञा-प्राप्ति के लिए अनुष्ठान करते समय हमें पूरी तरह से होशियार रहना चाहिए।

इस प्रकार आचरण करने और अच्छे मित्रों की सहायता से हमारा मन जीवन के अन्तिम क्षण तक अचल रहेगा। ठीक तौर पर सङ्कल्प बना लेने पर, हमें भावी बुद्ध मैत्रेय के मिलाप की प्रतीक्षा करनी चाहिए। यदि हम (हीनयान का) 'छोटा परिभोग' प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें पवित्रीकरण‡ की आठ अवस्थाओं के द्वारा उसे लेना चाहिए। परन्तु यदि हम (महायान के) 'बड़े परिभोग' के क्रम पर चलना सीखते हैं तो हमे तीन असंख्य कल्पों के द्वारा अपने कार्य को सम्पन्न करने का यत्न करना चाहिए।

मैंने कभी कोई ऐसा कारण नहीं सुना कि क्यों हम दुःसाहस से अपना जीवन दे दें। आत्म-हत्या का पाप पहली श्रेणी के§ निषेधों को तोड़ने के दूसरे दर्जे पर है। यदि हम विनय-पुस्तकों का

---

* बुद्ध (१), राजा (२), माता-पिता (३), और उपकारियों के उपकार।

† कामलोक, रूपलोक और अरूपलोक, अर्थात् त्रिभव।

‡ देखो चाइल्डर्स का अरियपुग्गलो।

§ पहले पाराजिक-अपराध हैं, see Childers, S. V.

सावधानी से निरूपण करें तो हम आत्म-हत्या की आज्ञा देनेवाला कोई वचन कभी न पायेंगे।

बुद्ध के अपने शब्दों में ही इन्द्रियों को वश मे करने की महत्त्वपूर्ण रीति बताई गई है। कामनाओं को नष्ट करने के लिए अपने शरीर को जलाने से क्या लाभ? बुद्ध ने तो बधिया करने की भी आज्ञा नहीं दी, परन्तु दूसरी ओर उसने स्वयं तालाब मे मछलियों को छोड़ देने के लिए उभारा है। बुद्ध का वचन हमें किसी भारी उपदेश का उल्लङ्घन और अपनी मन-मानी करने का निषेध करता है। यदि हम अपने शरीरों को जलाने जैसे किसी अनुष्ठान की शरण लेते हैं तो हम उसकी श्रेष्ठ शिक्षा का परित्याग करते हैं। परन्तु हम उन लोगों के विषय में विचार नहीं कर रहे हैं जो विनय-नियमों को बिलकुल धारण न करके बोधिसत्त्व के अनुष्ठान का अनुकरण, और दूसरों के कल्याण के लिए अपने आपको बलि कर देना चाहते हैं।

उनतालीसवाँ परिच्छेद

पास खड़े होनेवाले अपराधी हो जाते हैं

शरीर को जलाने का ऐसा कर्म बहुधा आन्तरिक निष्कपटता दिखलाने की एक रीति समझी जाती है। दो-तीन दृढ़ सुहृद आपस मे मिलकर युवा विद्यार्थियों को अपने जीवन नष्ट कर डालने की प्रेरणा करने के लिए सम्मति कर लेते हैं। जो इस रीति से पहले नष्ट होते हैं उन्हें स्थूल* अपराध लगता है, और जो लोग पीछे से उनके उदाहरण का अनुकरण करते हैं वे पाराजिक † अपराधी बनते हैं, क्योंकि वे (आत्महत्या का निषेध करनेवाले) नियम को तोड़कर फल-प्राप्ति की इच्छा करते हैं, और, आदेशों के उल्लङ्घन से मृत्यु की तलाश करते हुए, अपने कुनिर्मित सङ्कल्प पर दृढ़ता से डटे रहते हैं। ऐसे लोगों ने कभी बुद्ध के सिद्धान्त का अध्ययन नहीं किया। यदि सतीर्थ इस अनुष्ठान के लिए उभारे तो उन्हें पाप लगता है (जिसका प्रायश्चित्त नहीं हो सकता), ठीक जिस प्रकार जब सुई की आँख टूट जाती है (तब फिर यह दुबारा नहीं बन सकती)। जो लोग दूसरे से कहते हैं कि तुम अपने आपको आग मे क्यों नहीं फेंक देते वे (ऐसा) पाप करते हैं (जो दूर नहीं हो सकता), जिस प्रकार कि टूटा हुआ पत्थर जुड़ नहीं सकता। मनुष्य को इस बात का ध्यान रखना चाहिए। लोकोक्ति है—'दूसरों के उपकारों का बदला देना अपने जीवन को नष्ट कर डालने

---

* घोर अपराध, देखिए चाइल्डर्स, S. V. थूलो।

† पहले और सब से बुरे अपराध, देखिए चाइल्डर्स, S. V.

से, और चरित्र-गठन अपने नाम को कलङ्कित करने से अच्छा है'। भूखे सिंह को अपना शरीर देना बोधिसत्त्व का ही मोक्ष का काम था। श्रमण के लिए यह उचित नहीं कि वह एक जीते कबूतर के स्थान में अपने शरीर से मांस काटकर दे। बोधिसत्त्व का अनुकरण करना हमारी शक्ति में नहीं। मैंने स्थूल रूप से बता दिया है कि त्रिपिटक के अनुसार कौन सी बात उचित है और कौन सी अनुचित। बुद्धिमानों को पूर्ण रूप से मालूम होना चाहिए कि अनुकरण करने के लिए कौन सा अनुष्ठान ठीक है।

गङ्गा नदी मे प्रतिदिन अनेक मनुष्य अपने आपको डुबाते हैं। बुद्धगया के पर्वत पर भी बहुधा आत्महत्याएँ होती रहती हैं। कुछ लोग अपने आपको भूख से मारते हैं और कुछ नहीं खाते। कई लोग वृक्षों पर चढ़कर अपने आपको नीचे गिरा देते हैं।

जगत्पूज्य (बुद्ध) ने इन भटकाये हुए मनुष्यों को नास्तिक ठहराया है। कई लोग जान-बूझकर अपने पुरुषत्व को नष्ट करके हिजड़े बन जाते हैं।

ये कर्म विनय-शास्त्र के सर्वथा प्रतिकूल हैं। वे लोग भी, जो ऐसे अनुष्ठानों को अनुचित समझते हैं, डरते हैं कि यदि हम ऐसे कामों को रोकेंगे तो हमें पाप लगेगा। परन्तु यदि मनुष्य ऐसी रीति से अपना जीवन नष्ट करता है तो, उसके अस्तित्व का बड़ा उद्देश खो जाता है।

इसी कारण बुद्ध ने इसका निषेध किया था। बढ़िया भिक्षुओं और विज्ञ उपाध्यायों ने उपर्युक्त हानिकारक रीति से कभी आचरण नहीं किया। अब मैं अगले परिच्छेद मे प्राचीन काल के धर्म्मात्मा मनुष्यों के दिये हुए ऐतिह्यों का वर्णन करूँगा।

चालीसवाँ परिच्छेद

प्राचीन काल के धर्म्मात्मा मनुष्य ऐसे कामों का अनुष्ठान नहीं करते थे

अब मेरे शिक्षक सुनिए। मेरा उपाध्याय पूजनीय शन-यू (एक चीनी भिक्षु), और मेरा कर्माचार्य ध्यानाचार्य हुइ-ह्सी था। सात वर्ष की आयु हो चुकने के पश्चात् मुझे उनकी सेवा का अवसर मिला था। दोनों बड़े धर्म्मशील अध्यापक थे और ताई शन की चिन-यू उपत्यका के महात्मा; ध्यानाचार्य (सेङ्ग-) लङ्ग के (सन् ३९६) बनाये हुए शेन-तुङ्ग विहार में रहते थे। शन-यू तेह चोऊ का, और हुइ-ह्सी पेइ चोऊ का निवासी था*। दोनों यह विचारकर कि वन का एकान्त जीवन, चाहे मनुष्य के अपने लिए अच्छा है, परन्तु इससे दूसरों का बहुत कम भला हो सकता है, पिङ्ग-लिन में आ गये, और वहाँ नियम के अनुसार, 'प्रशात सिंह' नामक निर्मल नदी के किनारे 'भूमि-गुफा' (तु-कु) के मन्दिर में रहने लगे। यह मन्दिर (शन-तुङ्ग में) चि-चोऊ की राजधानी से पश्चिम की ओर कोई चालीस चीनी मीलों की दूरी पर अवस्थित है।

वे भोजन का एक अमित भाण्डार तैयार किया करते थे, जिसके द्वारा वे लोगों का भली भाँति भरण कर सकते अथवा बुद्धों को

---

* मूलार्थतः, 'इन भिक्षुओं के सांसारिक सम्बन्ध क्रमशः तेह और पेइ प्रान्तों में थे', या दूसरे शब्दों में 'वे वहाँ उत्पन्न हुए थे'। जापानी संस्करण के सिवा और संस्करणों का पाठ यहाँ अस्पष्ट है। तेह चोऊ शङ्ग-तुङ्ग में चि-नन है।

चढ़ावा चढ़ा सकते थे। जो दान उन्हें मिलता था उसे वे मुफ़्त और प्रसन्नता-पूर्वक दे देते थे। उनके विषय में यह कहा जा सकता है कि उनके चार प्रणिधान पृथ्वी और आकाश के समान असीम थे, और सर्वप्रियता के चार तत्त्वों (संग्रह-वस्तु*) द्वारा जिस मोक्ष का प्रचार वे लोगों में करते थे वह बहुत उदार था, और जिन लोगों का उनके द्वारा परित्राण हुआ वे रेत या धूल के सदृश असंख्य थे। वे रहने के लिए भक्ति-पूर्वक मन्दिर बनाते थे और पुण्य के अनेक कर्म करते थे। अब मैं अपने उपाध्याय, शन-यू, के सात सद्गुणों का संक्षेप से वर्णन करूँगा।

१. मेरे उपाध्याय का विस्तीर्ण पाण्डित्य

त्रिपिटक का गहरा परिज्ञान रखने के अतिरिक्त, उसने और भी बहुत से ग्रन्थकारों का भली भाँति अध्ययन किया था। वह कन्फ्यूशस और बौद्ध दोनों धर्म्मों का समान रूप से विद्वान्, और कन्फ्यूशस सम्प्रदाय की छहों कलाओं में निपुण था। वह ज्योतिष, भूगोल, गणित, भविष्यत्सूचन, और पञ्चाङ्ग के ज्ञान मे भली भाँति कुशल था। वह इच्छा होने से किसी भी बात का रहस्य मालूम कर सकता था। उसके भीतर प्रज्ञा का कैसा विशाल सागर सदा लहरें मारा करता था! उसका साहित्योद्यान कैसा मनोहर था, जिसमें फूलों की सदा बहार रहती थी! उसके अपने बनाये हुए ग्रन्थ, त्रिपिटक का उच्चारण-अभिधान, (Pronouncing Dictionary) और अनेक शब्द-पुस्तकें पिछली पीढ़ियों को मिली हैं। वह कहा करता था, 'चीनी मे ऐसी कोई लिपि नहीं जिसे मैं नहीं जानता' (अधिक मूलार्थतः 'वह लिपि नहीं यदि मैं उसे नहीं जानता')।

---

* देखो, चाइल्डर्स का सङ्ग्रहो; महाव्युत्पत्, ३१।

२. मेरे उपाध्याय की अमित योग्यता

मेरा उपाध्याय 'छाप लिपि', चूअन तथा चोऊ* की रीतियों, और चुङ्ग तथा चङ्ग † की रीतियों, के अनुसार लिखने मे निपुण था। त्जू ‡ ची के सदृश, जो यह बता सकता था कि यू पो-या की वीणा चोटी निकाल रही है या धारा, उसे तार तथा पवन के वाजों के स्वरों की अच्छी पहचान थी। वह कुल्हाड़े का उपयोग ऐसी चतुराई से कर सकता था जैसा कि शिल्पी शिह§ (मक्खी के) पङ्ख के सदृश कीचड़ (का एक छोटा सा टुकड़ा) दूर कर देता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विज्ञ मनुष्य केवल एक बरतन || मात्र नहीं (जैसा कि हमें कहना चाहिए 'वह एक तार-वाला बाजा नहीं')।

---

* (१) कहते हैं 'छाप लिपि' दो ढङ्ग की थी, बड़ी और छोटी। 'बड़ी छाप' चोऊ वंश के एक सचिव, शिह चोऊ, ने ईसा से कोई ८०० वर्ष पूर्व निकाली थी, और 'छोटी छाप' की शैली लि-स्सु की मानी जाती है, जो कि पहले चिन सम्राट् (२२१ ई० पू०—२१० ई० पू०) का लोकविदित मन्त्री था। इस 'छोटी छाप' शैली में चीनी का पहला अभिधान, शुओ-वेन, जो सन् १०० में प्रकाशित हुआ था, लिखा हुआ है।

(२) चोऊ, छापलिपि, जिसका नाम उसके आविष्कारक के नाम पर है, उपर्युक्त 'बड़ी छाप' से भिन्न नहीं।

† (१) वेइ का चुङ्ग (सन् २२०—२६०) जो 'अधिकारिक सेवकों' की शैली में अच्छा लिखता था।

(२) चङ्ग घसीट लिखने में बड़ा दक्ष था।

‡ यह एक कहानी में एक सङ्गीत-प्रेमी लकड़हारे का नाम है। इसका शब्दार्थ सङ्गीत-परीक्षक है। यह सारङ्गी बजाया करता था।

§ शिह ने एक बार नाक की चोटी पर से कीचड़ का एक छोटा सा टुकड़ा अपने कुल्हाड़े के साथ ऐसी तरह से उतारा था कि नाक की कोई हानि नहीं हुई थी। देखो Kwang-tze xxiv, iii, ii, 6; S. B. E., Vol. xL, p. 101.

|| Cf. the Analects, book ii, p. 150.

३. मेरे उपाध्याय की बुद्धि

जब मेरा उपाध्याय महापरिनिर्वाण-सूत्र का अध्ययन कर रहा था, तब उसने एक ही दिन मे सारा का सारा पढ़ लिया। जब वह पहली बार उसी को दुबारा पढ़ने लगा तब उसने, उसके गुप्त सिद्धान्त की सावधानी से परीक्षा और इसके गम्भीर अर्थों की तत्परता से खोज करते हुए, सारे को चार मास मे समाप्त कर दिया। उसका स्वभाव था कि छोटे लड़के को शिक्षा देते समय वह आधी लिपि से आरम्भ करता था; मनुष्य कल्पना नहीं कर सकता कि उसे कभी (शिष्य पर क्रोध करने के कारण) अपनी खड्ग पकड़ने का अवसर आया हो। वह एक बड़ी योग्यता के मनुष्य को इस प्रकार उपदेश देता था मानो वह एक पूर्ण बरतन को भर रहा है, और उपदेश पानेवाले को यह लाभ होता था कि वह बहुमूल्य रत्नों-द्वारा सुन्दर बन जाता था। कुछ समय हुआ, जब सुइ वंश (सन् ५८९—६१७) के अन्तिम काल मे लोग अव्यवस्थित हो गये, मेरा उपध्याय हुल्लड़ के कारण यङ्ग* नगर में चला गया। अनेक भिक्षु, जब उन्होंने उसे वहाँ देखा, इस बात मे सहमत हो गये कि वह केवल एक मूढ़ मात्र है, क्योंकि उसकी आकृति सादी और गँवारू थी। उन्होंने नवागत को महापरिनिर्वाण-सूत्र पढ़ने पर विवश किया, और दो छोटे उपाध्यायों को आज्ञा दी कि वे देखें कि वह एक-एक वाक्य पढ़ता है। पढ़ते समय जब उसने शब्द निकाला तब उसका स्वर गम्भीर और शोकार्त था। उसने सूर्योदय से लेकर मध्याह्न तक सूत्र की तीनों पिटारियाँ पढ़ डाली। उपस्थित जनों मे से कोई भी ऐसा न था जिसने उसकी प्रशंसा न की हो और उसे बधाई न दी हो, और उन्होंने उसकी अद्भुत शक्तियों की बड़ी श्लाघा

* किअङ्ग-सु प्रान्त में, यङ्ग चोऊ।

करते हुए उसे विश्राम करने के लिए कहा। लोग इस वृत्त को भली भाँति जानते हैं, यह मेरी अपनी ही स्तुतिमात्र नहीं।

४. मेरे उपाध्याय की वदान्यता

उसके लेन-देन का एक उदाहरण यह है। जो भी मूल्य कोई माँगता है वही वह दे देता है। चीज़ चाहे महँगी हो या सस्ती, वह कुछ परवा नहीं करता, और मूल्य को कभी नहीं घटाता। यदि कोई उसका कुछ ऋणी हो और वह रक़म लेकर उसके पास आये तो वह उसे बिलकुल नहीं लेता। उसके समय के लोग उसे अनुपम वदान्यता का मनुष्य समझते थे।

५. मेरे उपाध्याय का वात्सल्य

वह धन की अपेक्षा सचाई को अधिक महत्व देता था। वह बोधिसत्त्व के आचरण का अनुकरण करता था; जब उससे कोई माँगता था तब वह कभी इन्कार नहीं करता था। उसकी स्थिर इच्छा यह थी कि प्रति दिन तीन छोटी मुद्रा दान दूँ। एक बार एक शीत हेमन्त-मास में ताओ-अन नाम का एक परिव्राजक आया। उसने बड़ी लम्बी यात्रा की थी, भारी हिमप्रलय सहन किये थे, और उसके पैर बुरी तरह से जमे हुए थे। उसे कुछ दिन तक गाँव में ठहरना पड़ा; उसके सूजे हुए पैर घायल थे और जगह-जगह पर दुख रहे थे। गाँववाले उसे एक गाड़ी में बैठाकर उस विहार में ले गये जहाँ मेरा उपाध्याय रहता था। ज्योंही उपाध्याय ने द्वार पर आकर उस ग़रीब के पैर देखे, उसने अपना कुछ भी ख़याल न करके उसके घावों को अपने कपड़ों के साथ बाँध दिया। चीवर अभी नया ही बनवाया था, और पहली मरतबा उसी दिन पहना था। पास खड़े लोगों ने उसे रोका और कहा कि कोई पुराना कपड़ा ले लीजिए ताकि नये में दाग़ न लग जाय। उत्तर में उसने कहा—

'घोर पीड़ा के समय सहायता देते हुए, जो कुछ पास है उसके सिवा और किसी चीज़ का उपयोग करने का हमारे पास क्या समय है'। जिन लोगों ने इस काम को देखा या सुना, सबने उसकी बहुत प्रशंसा की। यद्यपि ऐसा काम कोई बहुत कठिन नहीं, फिर भी इसका ऐसा आचरण बहुत कम होता है।

६. मेरे उपाध्याय की काम के प्रति भक्ति

मेरे उपाध्याय ने प्रज्ञापारमिता-सूत्र की आठों श्रेणियाँ सौ बार पढ़ी थीं, और जब वह पीछे से सारे त्रिपिटक का पारायण करता था तब उन्हीं को बार-बार पढ़ता था।

सुखावती मे प्रवेश करने के लिए आवश्यक पुण्य-कार्यों के अनुष्ठान के विषय मे वह दिन-रात यत्नवान् रहता था, और बुद्धों की प्रतिमाओं को रखने के स्थान और भिक्षुओं के निवास के स्थान को साफ़ करता रहता था। अपने सारे जीवन मे वह बहुत ही कम निकम्मा बैठा देखा जाता था। वह जीव-हिंसा के डर से प्रायः नंगे पाँव ही चला करता था। वह अपने विचार को सधाता और अपने हृदय को सिखाता रहता था, इसलिए वह कदाचित् ही कभी आलसी और सुस्त देखा जाता था। उसके मिट्टी से रगड़कर साफ़ किये हुए धूपदान सुखावती के उन कमल-फूलों के सदृश सुन्दर थे, जो परित्राण[१]-प्राप्त नौ श्रेणियों के लिए खिलते हैं। उसके द्वारा सजाई और सँवारी हुई, सूत्रों की महाशाला का दृश्य गृध्रकूट के ऊपर के 'चार पुष्प' बरसानेवाले आकाश के सदृश होता था।

धर्ममन्दिर में उसके काम को देखकर मनुष्य उसकी धर्मशीलता की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता था। व्यक्तिगत रूप से उसे

---

[१] देखो मेरा अमितायुर्-ध्यान-सूत्र, iii, S B. E, Vol. xlix, p. 188 seq.

अपने थकने का कभी ज्ञान नहीं होता था; वह अपने काम की समाप्ति की आशा अपने जीवन की समाप्ति के साथ ही रखता था। पढ़ने से जो अवकाश उसे मिलता था उसे वह बुद्ध अमितायुस् (= अमिताभ) की पूजा मे लगाता था। उसमें माहात्म्य के चार चिह्नों का कभी अभाव न होता था। सूर्य की छाया उस पर कभी व्यर्थ नहीं पड़ी (अर्थात्, 'उसने सूर्य की गति-द्वारा चिह्नित समय का एक मिनट भी कभी नष्ट नहीं किया')। रेत के छोटे से छोटे दाने भी, इकट्ठे कर देने पर, आकाश और पृथ्वी को भर देते हैं। जिन कर्मों से मोक्ष मिलता है वे नाना प्रकार के हैं।

७. उसे परमेश्वर की व्यवस्थाओं का पूर्वज्ञान होना*

अपनी मृत्यु से एक वर्ष पूर्व उसने अपने बनाये हुए सारे ग्रन्थ और वे सारे ग्रन्थ, जो उसके अधिकार मे थे, इकट्ठे किये और उनका एक बड़ा ढेर लगाकर उन्हें फाड़ डाला; और वज्र† की दो मूर्तियों के लिए, जो उस समय बन रही थीं, (सामग्री के रूप मे) प्रयुक्त करने को उन्हें ओखली मे डाल दिया। उसके शिष्यों ने आगे आकर आपत्ति की और कहा—'हमारे पूज्य गुरुदेव, यदि काग़ज़ का ही प्रयोग करना आवश्यक है तो हम इनके स्थान मे कोरे काग़ज़ का उपयोग कर सकते हैं'। गुरु ने उत्तर दिया—'मैं चिरकाल से बिलकुल इन्हीं ग्रन्थों का अध्ययन करता रहा हूँ।

---

* इ-त्सिङ्ग ने यह शब्द-रचना कन्फ्यूशियस के वचन से ली है (Analects, book ii. 4)। अर्थात्, 'वह अपनी मृत्यु का समय पहले से ही जानता था।'

† वज्र (हीरा) से अभिप्राय वज्रपाणि हो सकता है। यह इन्द्र का एक नाम है और बौद्धधर्म्म का एक रक्षक देवता है। परन्तु बौद्धों की चीनी में वज्र का प्रयोग इसके शाब्दिक अर्थों तक ही परिमित नहीं, और यहाँ इस का अभिप्राय बुद्ध की किसी मूर्ति से हो सकता है।

इन्होंने मुझको भटका दिया है। क्या मुझे आज इन्हें दूसरों को कुमार्ग पर ले जाने देना चाहिए? यदि मैं ऐसा करता हूँ, तो यह ऐसा ही बुरा है जैसा कि किसी को प्राणघातक विष खिला देना या किसी को विषम मार्ग पर डाल देना। यह कभी ठीक न होगा। सांसारिक कार्य मे बहुत अधिक सफलता प्राप्त कर लेने से भिक्षु के अपने विशेष धर्म को भुला देने की सम्भावना है। दोनों को करने की अनुज्ञा बुद्ध ने केवल बढ़िया बुद्धि के लोगों को ही दी है, परन्तु अपने विशेष कर्म के सिवा किसी दूसरे मे आसक्त होने से भारी भूल हो जाती है। जिस चीज़ को मनुष्य आप लेना नहीं चाहता वह दूसरों को नहीं देनी चाहिए'*। यह सुनकर शिष्य यह कहते हुए कि 'यह ठीक है' वापस चले गये। परन्तु महत्त्व के ग्रन्थ, जैसा कि शुओ-वेन,† और अन्य शब्दकोश, शिष्यों को दे दिये गये। तब उसने उनको यह शिक्षा दी—'जब तुम चीनी के अभिजात-वाङ्मय तथा इतिहास का स्थूल अध्ययन कर चुको और लिपियों का अनिश्चित ज्ञान प्राप्त कर लो, तब 'उत्कृष्ट बौद्ध-शास्त्र' पर योग दो। तुम्हे इस फन्दे को बहुत अधिक आकर्षण सिद्ध नहीं होने देना चाहिए।' अपनी मृत्यु से पहले उसने अपने शिष्यों को बता दिया कि मैं तीन दिन के पश्चात् अवश्य ही इस संसार को छोड़ जाऊँगा; मैं हाथ मे झाड़ू ‡ पकड़े हुए मरना पसन्द करता हूँ, और मेरा शव किसी दलदली उजाड़ में छोड़ आना। तीसरे

---

* Analects, book xii, 2, Confucius's saying: 'जो तुम अपने साथ कराना पसंद नहीं करते वह दूसरों के साथ भी न करो।'

† यह एक प्रसिद्ध अभिधान है जिसे हु सू शेन ने सन् १०० में संकलित किया था, और जिसमें कोई १०००० लिपियोंका विश्लेषण चीनी भाषा की 'चित्राक्षर' उत्पत्ति को प्रमाणित करने के लिए दिया गया है।

‡ कदाचित् इस बात के चिह्न के रूप में कि उसने मृत्यु-समय तक धर्ममन्दिर में झाड़ू देना नहीं भुलाया था।

दिन सबेरे ही वह निर्मल नदी के साथ-साथ गया, और लहलहाती हरी नरकट के समीप, एक सुनसान खड़े सफ़ेद बेंत के वृक्ष के नीचे चुपचाप बैठकर, हाथ में झाड़ू पकड़े हुए संसार से चल दिया। उसका एक शिष्य, जिसका नाम ध्यानाचार्य हुइ-ली था, उसी दिन प्रातःकाल अपने गुरु को वहाँ देखने गया। परन्तु यह क्या बात है? गुरु चुप है। शिष्य ने पास जाकर गुरु के शरीर को अपने हाथों से स्पर्श किया। उसे गुरु का सिर अभी तक गरम मालूम हुआ, परन्तु हाथ और पैर पहले ही ठण्डे हो चुके थे। तब रोते हुए उसने सभी दूर-दूर के मित्रों को इकट्ठा किया। जब सब इकट्ठे हो गये तब भिक्षुगण इतना अधिक रोये और शोकातुर हुए कि उस विषण्ण दृश्य की उपमा पृथ्वी पर रक्त की धारा उँड़ेलनेवाली लाल* नदी से दी जा सकती है; उसके साधारण अनुयायी भी सिसकियाँ भरने और चिल्लाने लगे, यहाँ तक कि उस घबड़ाई हुई भीड़ की उपमा बहुमूल्य पर्वत पर टुकड़े-टुकड़े हुई मणियों से दी जा सकती है। खेद की बात है कि बोधि का पेड़ इतना शीघ्र कुम्हला जाय; यह भी शोक का विषय है कि धर्म्म की नौका यों अकस्मात् डूब जाय। उसका अन्त्येष्टि संस्कार उसके विहार की पश्चिमी वाटिका में किया गया। उसकी आयु तिरसठ वर्ष की थी। मृत्यु के पश्चात् उसकी जो वस्तुएँ बची वे केवल तीन चीवर, स्लीपरों और जूतों का एक जोड़ा, और वह बिछौनामात्र थी जिसका वह उन दिनों उपयोग कर रहा था।

जिस समय मेरे उपाध्याय की मृत्यु हुई, मैं बारह वर्ष का था। गजराज (अर्थात् 'गुरुदेव') के चले जाने से मैं अशरण हो गया।

सांसारिक साहित्य का अध्ययन छोड़कर मैं पवित्र (बौद्ध) धर्म्मशास्त्र के अध्ययन में लग गया। चौदहवें वर्ष में मुझे दीक्षा मिली

* मूलार्थतः 'स्वर्ण-नदी'।

श्रौर अठारहवें वर्ष में मैंने भारत-यात्रा का सङ्कल्प किया, परन्तु यह सङ्कल्प मेरे सैंतीसवें वर्ष में पूरा हुआ। चलते समय, मैं अपने अन्तिम गुरु की समाधि के निकट पूजा करने तथा छुट्टी लेने गया। उस समय, इर्द-गिर्द वृक्षों के मुरझाये हुए पत्ते इतने बढ़ चुके थे कि उन्होंने आधी समाधि को आलिङ्गन कर रक्खा था; और जङ्गली घासों से समाधिमन्दिर का आँगन भर रहा था। यद्यपि प्रेतलोक हमसे छिपा हुआ है, तो भी मैंने उसका वैसे ही सम्मान किया मानो वह वहाँ उपस्थित* था। गिर्द घूमते और प्रत्येक दिशा मे दृष्टि करते हुए, मैंने अपनी यात्रा का सङ्कल्प सुनाया। मैंने उसकी आध्यात्मिक सहायता माँगी, और उस दयालु श्रेष्ठजन (मूलार्थतः 'मुख') के मुझ पर किये हुए महोपकारों का बदला चुकाने की इच्छा प्रकट की।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

मेरा दूसरा उपाध्याय, ध्यानाचार्य हुइ-ह्सी, केवल एकमात्र विनय ही के अध्ययन मे लीन रहा। उसका मन स्वच्छ और शान्त था। उसने धर्म्मविषयक अभ्यासों को, जो दिन और रात मे छः वार किये जाते थे, कभी नही छोड़ा। वह सवेरे से रात तक चार प्रकार के भक्तों (भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक और उपासिका) को पढ़ाता हुआ कभी नही थकता था। उसके विषय मे यह कहा जा सकता है कि घबराहट के समय में भी वह व्याकुल नहीं होता था, प्रत्युत अधिक शान्त और निश्चल रहता था। किसी ने, चाहे वह भिक्षु हो या सामान्य जन, उसे कभी पक्षपात करते नही देखा।

सद्धर्मपुण्डरीक उसका मनभाता ग्रन्थ था, साठ से अधिक वर्षों तक वह उसे दिन मे एक वार पढ़ता रहा; इस प्रकार पारायण की संख्या बीस सहस्र वार होती है। यद्यपि दैवयोग से उसका जीवन-

---

* See Analects, book iii, 12.

काल सुइ वंश (सन् ५८९—६१७) के अन्तिम काल के क्षुब्ध समयों में था, और केवल दैव के चलाने से उसे इधर-उधर घूमना पड़ा, परन्तु उसने अपने (पढ़ने के) निश्चित विचार का कभी परित्याग नहीं किया। उसकी छहों ज्ञानेन्द्रियाँ पूर्ण थीं, और शरीर के चार* तत्त्व नीरोग थे। अपने साठ वर्ष के जीवन में उसे कभी रोग नहीं हुआ। जब कभी वह नदी के निकट सूत्रों का पाठ करने लगता था, एक शुभ पक्षी आकर महाशाला के एक कोने में बैठ जाता था। जब वह पाठ होता रहता था तब पक्षी भी चिल्लाने लगता था, मानो वह उसके शब्द से प्रभावित होता, और उसे ध्यान-पूर्वक सुनता था। उसकी प्रकृति सदा अच्छी रहती थी और वह सङ्गीत के स्वरों† को भली भाँति जानता था। वह घसीट लिखने, और 'लेखक की रीति' में विशेष रूप से प्रवीण था। वह लोगों को सुपथ दिखाते और शिक्षा देते कभी न थकता था। यद्यपि वह सांसारिक पुस्तकों के अध्ययन की बहुत परवा न करता था, फिर भी वह स्वभावतः ही उनमें सम्पन्न और दक्ष था। छः पारमिताओं पर उसकी गाथा और उसकी रची हुई प्रार्थना के शब्द, दोनों चीज़ें, 'भूमि-गुफा के मन्दिर' की दीवटों पर लिखी गई थीं। पीछे से जब वह सद्धर्म्मपुण्डरीक की नक़ल करने में लगा हुआ था तब उसने (पुराने समय की) प्रसिद्ध लिखावटों की रीतियों की तुलना करके (नक़ल करने के लिए) सबसे उत्तम रीति चुन ली ‡। गन्दी हवा को मुँह से बाहर निकाल और मुख में सुगन्धियाँ रखकर, वह अपने आपको नहा-

---

* अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु।

† यह एक बड़ा विचित्र वाक्य है। मेरा अनुवाद अलग जापानी संस्करण के व्याख्यात्मक चिह्नों का अनुकरण करता है।

‡ मेरा अनुवाद काश्यप के अनुकरण पर है।

धोकर शुद्ध किया करता था। अकस्मात् एक बार इस सूत्र पर अद्‌भुत रीति से बुद्ध का एक स्मृति-चिह्न अवशिष्टांश प्रकट हुआ। जब सूत्र की प्रतिलिपि समाप्त हो गई तब लपेटे हुए काग़ज़ की प्रत्येक पोटली* पर नाम स्वर्ण अक्षरों मे अंकित हो गया। ये अक्षर पोटली के रजत काँटों के पास सुन्दर प्रतीत होते थे। उसने उनको रत्न-जड़ित सन्दूकों में रख दिया। ये सन्दूक़ स्वयं भी चमकीले थे, इसलिए उनसे मणि-जटित लोटों की जगमगाहट और भी बढ़ गई। तत्कालीन सम्राट् ताई शन में आया, और यह समाचार सुनकर, उसने मालिक से कहा कि यह प्रति पूजा के लिए राजपरिवार को भेंट कर दो।

मेरे ये दो उपाध्याय, शन-यू और हुइ-हूसी, पूर्व ऋषि ध्याना-चार्य (सेङ्ग-) लङ्ग के उत्तराधिकारी थे।

ध्यानाचार्य लङ्ग चिन† के दो वंशों के समय मे उत्पन्न हुआ था, और लोगों की पाँचों श्रेणियों से दूर तक प्रसिद्ध था। उसे सब प्रदेशों से चढ़ावे आते थे; वह स्वयं प्रत्येक दाता के द्वार पर भिक्षा लेने जाता था। वह लोगों को अवस्था और योग्यता के अनुसार शिक्षा देता था। उसके कर्म भक्तों की आवश्यकताओं के अनुरूप होते थे। परन्तु उसका व्यक्तिगत प्रभाव सांसारिक टण्टों से बहुत ऊपर था। इसलिए शेन-तुङ्ग (अर्थात् 'अद्‌भुत शक्ति') के मन्दिर का नाम उसी पर रक्खा गया था। उसका धार्मिक शील हमारी समझ से बाहर था। पूर्ण वृत्तान्त उसके अलग जीवन-चरित (लिअङ्ग-काओ-सेङ्ग-चुअन) में दिया गया है।

---

* चीनी सद्धर्मपुण्डरीक के हस्तलेख का एक सुन्दर नमूना आक्सफ़ोर्ड की इण्डियन इंस्टिट्यूट के पुस्तकालय में देखा जा सकता है।

† पहला चिन, सन् २६०—३१४; और पिछला चिन, सन् ३८४—४१७।

उस समय शासक लोग बुद्ध-धर्म्म का सम्मान करते, और जनता धर्मपरायण थी (लगभग सन् ३५०—४१७)।

जब लोग इस मन्दिर के निर्माण का सङ्कल्प कर रहे थे, उन्होंने वन मे प्रवेश करने पर ताई शन की उत्तरीय धारा के निकट एक सिंह को गर्जते सुना। वहाँ से निकलने पर उन्होंने फिर पर्वत की दक्षिणी उपत्यका मे एक घोड़े की हिनहिनाहट* सुनी। स्वर्गीय † कुएँ में से यद्यपि लगातार पानी निकाला जा रहा था पर वह कभी कम न होता था, और दिव्य शस्यागार † में से यद्यपि लगातार अनाज निकाला जाता था पर उसकी राशि कम न होती थी। उसे अन्तर्धान हुए यद्यपि देर हो चुकी है पर उसका पीछे छोड़ा हुआ प्रभाव अभी तक नष्ट नहीं हुआ है। मेरे ये दो उपाध्याय, और एक दूसरा कुटीचर भिक्षु, पूजनीय ध्यानाचार्य मिङ्ग तेह, विनय-सिद्धान्त मे निपुण और सूत्रों के आशय से पूर्णतया परिचित थे। शिष्यों के शिक्षकों के रूप में वे उँगलियों को जलाने और आग से शरीर को नष्ट कर डालने जैसी बातों का कड़ा निषेध करते थे, क्योंकि बुद्ध ने इनकी कभी शिक्षा नहीं दी। मैंने स्वयं इन उपाध्यायों से शिक्षा पाई थी, और किसी दूसरे से सुन-सुनाकर जानकारी प्राप्त नहीं की थी। तुम्हें भी प्राचीन ऋषियों की उपर्युक्त बातों की सावधानी से परीक्षा करनी, और प्राचीनों की शिक्षा पर ध्यान देना चाहिए।

श्वेत घोड़े ‡ की लगाम उतार लेने के समय से लेकर काले हाथी ‡

---

* कदाचित् इत्सिग क मन में बुद्धचरित के रचयिता अश्वघोष के सम्बन्ध की वह कथा है जिसमें बताया जाता है कि उसने एक राजा के सामने अद्भुत रीति से घोड़ों से हिनहिनाहट कराई थी।

† ये कदाचित् सेङ्ग लङ्ग ऋषि की स्मृति में बनाये गये थे।

‡ कङ्ग-सेङ्ग-हुई तिब्बती मूल का एक भारतीय था। यह सन् २४१ में चीन में आया था। इसने दो ग्रन्थों का अनुवाद किया। फाहिएन भारत मे चीन का एक प्रसिद्ध यात्री है; सन् ३९९—४१४; उसने चार

पर हौदा रखने के समय तक, काश्यपमातङ्ग और धर्म्मरत्न*, अपनी (प्रज्ञा की) रश्मियों से जगत् को आलोकित करते हुए, दिव्य भूमि (चीन) के लिए सूर्य और चन्द्र के समान हो गये, और कङ्ग-सेङ्ग-हुई तथा फाहिएन, अपने उदाहरण के प्रताप से दिव्य कोषागार (भारत) के लिए घाट और पुल बन गये। ताओ-अन और हुई-येन† यङ्ग-त्ज़े और हन नदियों के दक्षिण मे बाघों की तरह सिर झुकाये पड़े थे, हि्सऊ और ली‡ हुङ्ग और ची नदियों के उत्तर मे श्येन के सदृश ऊँचा उड़ रहे थे।

सम्प्रदाय मे उत्तराधिकारी यथाविधि और निरन्तर मिलते जाते थे; इसलिए प्रज्ञा की लहर अपने शुद्ध रूप मे बनी रही है। धर्मात्मा भक्त लोग धर्म्म के अविरत सौरभ की प्रशंसा करते और

पुस्तकों का अनुवाद किया और अपनी यात्रा का वृत्तान्त लिखा। 'काले हाथी पर हौदा रखने' से इ-त्सिङ्ग का अभिप्राय सम्भवतः फ़ाहिएन के पर्यटन से है। काश्यप ने इस पर कोई टीका नहीं दी। Nanjio's Catal., App ii. 21, 45.

* ये दो भिक्षु सन् ६७ में चीन मे आये। बौद्ध पुस्तकों के ये पहले अनुवादक थे। कहते हैं कि वे इन पुस्तकों को एक श्वेत घोड़े पर लाद कर लाये थे। लो-यङ्ग मे श्वेत अश्व विहार बनाया गया था। अनुवाद की एक पुस्तक काश्यपमातङ्ग की, और पाँच धर्म्मरत्न की ठहराई जाती हैं। Nanjio's Catal , App ii, 1—2.

† ताओ-अन का देहान्त सन् ३८९ मे हुआ। पहले पहल इसी ने साधारण नाम शिह=शाक्य का प्रयोग चलाया। हुई-येन, जिसने अपने आपको पूर्वीत्सिन, सन् ३१७—४१९, के अधीन किया, श्वेत कमल परिषद् का संस्थापक था। 'शुद्ध भूमि निकाय' का प्रचार पहले इसी ने किया। इसने अपने शिष्यो को सन् ४०८ मे संस्कृत पुस्तकें लाने के लिए 'उद्यान' भेजा था।

‡ हुई-हि्सऊ और फ़ा-ली दोनों सुई वंश (सन् ५८९—६१८) के समय मे थे। हुई-हि्सऊ महायान सम्परिग्रह निकाय का एक उपाध्याय था। फ़ा-ली का देहान्त ६३५ में हुआ। वह निर्वाण सम्प्रदाय का एक उपाध्याय और चतुर्वर्ग-विनय की टीका का रचयिता था।

उसके गुणों को पहचानते थे। हमने कभी नहीं सुना कि उन उपाध्यायों में से किसी ने उँगलियाँ जलाने के अनुष्ठान की आज्ञा दी हो। न हमने उन्हें किसी को अपना शरीर जलाने की ही आज्ञा देते देखा है। धर्म्म का दर्पण हमारी आँखों के सामने है, और बुद्धिमानों को सावधानी से उससे शिक्षा लेनी चाहिए।

ध्यानाचार्य हुई-ह्सी, सायंकाल की शान्ति मे, मेरे लड़कपन मे मेरे साथ सहानुभूति प्रकट किया करता, और अनेक स्नेह-भरे शब्दों से मुझे धीरज दिया करता था। कभी-कभी उसका बात-चीत पीले पत्तों (की भंगुरा) (अर्थात् अनित्यता) के विषय में हुआ करती थी, जिससे वह मुझे मेरी माता के लिए प्रचण्ड लालसा की ओर से फेर ले।

कभी-कभी वह मुझे कौओं* के बच्चों के स्वभाव के विषय में बातें सुनाया करता और जताता कि जिस बड़े स्नेह के साथ तुम्हारा पालन-पोषण किया गया है उसका बदला तुम्हें ज़रूर चुकाना चाहिए। कभी-कभी वह कहता 'तुम्हें 'तीन रत्नों' की समृद्धि को बढ़ाने के लिए परिश्रम-पूर्वक यत्न करना चाहिए, ताकि कहीं उनका अस्तित्व न तो नष्ट हो जाय और न तुम्हें सांसारिक साहित्य के अध्ययन मे इतना लीन हो जाना पड़े कि जिससे तुम्हारा जीवन व्यर्थ हो जाय।' दस वर्ष की आयु मे भी मैं उसके उपदेश को केवल सुन ही सकता था; मैं अभी उसके अभिप्राय की थाह लेने मे असमर्थ था। प्रति दिन सवेरे पाँचवी घड़ी पर मैं उसके कमरे मे काम पूछने जाया करता था। हर बार गुरुजी मुझे इस प्रकार प्रेम से थपथपाकर, जिस प्रकार कि दयामयी माता अपने बालक को दुलारती है, अपना स्नेह प्रकट किया करते। जब कभी उनके पास

---

* अर्थात् 'पितृ-भक्ति'। चीन मे कहते है कि कौए अपने माता-पिता को उतना आहार वापस दे देते हैं जितना उन्होने बाल्यावस्था में खाया था।

कोई मिष्ट भोजन होता तब वे उसका सबसे स्वादिष्ठ भाग मुझे दे दिया करते। यदि मैंने उनसे कोई चीज़ माँगी तो उन्होंने मुझे कभी निराश नहीं किया। मेरा उपाध्याय शन-थू मेरे लिए कठोर पिता के सदृश और ध्यानाचार्य हुई-हूसी सदय माता के तुल्य था। इस प्रकार हमारे सम्बन्ध प्रायः ऐसे पूर्ण थे मानों हम भाई-बन्द हैं।

जब मैं उपसम्पदा की आयु को पहुँचा तब हुई-सुई मेरा उपाध्याय हो गया। मेरे 'शीलों' की शपथ ले चुकने के पश्चात् एक मर्तबा वह एक उत्तम रात के समय हवा खा रहा था। अकस्मात्, धूप जलाते-जलाते, मेरे उपाध्याय को चित्तक्षोभ ने आ दबाया और उसने मुझे यह उपदेश दिया—'महामुनि को निर्वाण लिये बहुत देर हो चुकी है और अब उसकी शिक्षा के झूठे अर्थ किये जा रहे हैं। शीलों के सामने सिर झुकाने की इच्छा रखनेवाले तो अनेक हैं पर उनका पालन करनेवाले बहुत थोड़े हैं। जिन बड़ी-बड़ी बातों का निषेध किया गया है, तुम्हें दृढ़ सङ्कल्प के साथ उनसे बचे रहना और पहले दल (जिससे अभिप्राय पाराजिक अपराधों से है) का व्यतिक्रम न करना चाहिए। यदि तुम कोई और प्रकार का अपराध करोगे तो तुम्हारे कारण मैं नरक में दुःख भोगूँगा। इसके अतिरिक्त तुम्हें उँगलियाँ जलाने या आग से अपने शरीर को नष्ट करने जैसी दुःखदाई बातें नहीं करनी चाहिएँ।' जिस दिन मुझे पवित्र शील कृपापूर्वक दिये गये उसी दिन मुझे यह उपदेश मिला और सौभाग्य से मैं उसकी दया का पात्र बना।

उस समय से मैंने ऐसा प्रचण्ड उद्योग किया है कि जब कभी मैंने देखा है कि मेरे चूकने की सम्भावना है, मैं बहुत डरा हूँ कि मैं अपराधी हो चुका हूँ, चाहे वह अपराध छोटा ही हो। मैंने विनय के अध्ययन मे पाँच वर्ष लगाये हैं।

मैं विनय के उपाध्याय, फ़ा-ली की रची हुई टीकाओं की गह-

राई की थाह ले सकता और तओ-हूसुअन* नामक एक दूसरे विनयोपाध्याय के—उसकी पुस्तकों में वर्णित—सिद्धान्तों की ठीक-ठीक व्याख्या कर सकता था। ज्योंही मुझे विनय के नियमों (मूलार्थतः, 'पालन तथा अतिक्रम') का परिचय हो गया, मेरे उपाध्याय ने इस विषय पर मुझे एक व्याख्यान देने की आज्ञा दी। जिन दिनों मैं उससे महासूत्र पढ़ा करता था, मैं भिक्षा माँगता, एक समय भोजन करता और बिना लेटे सारी रात बैठा रहता था।

वह वन-विहार, जहाँ हम रहा करते थे गाँव से बहुत दूर था परन्तु मैंने इस अभ्यास को कभी नहीं भुलाया। जब कभी मैं अपने गुरुदेव की दयामयी शिक्षा का चिन्तन करता हूँ, मेरे आँसू उमड़ आते हैं—मैं नहीं जानता, वे कहाँ से आ जाते हैं।

हम देखते हैं कि जब कोई बोधिसत्त्व दयाभाव से प्रेरित होकर दुःखियों का त्राण करना चाहता है तब वह अपने आपको प्रचण्ड अग्नि की धधकती हुई ज्वाला मे फेकने को तैयार हो जाता है और जब कोई जगन्मित्र किसी कङ्गाल की ख़बरगीरी का विचार करता है तब वह एक छोटे से घर के तङ्ग दरवाज़े का भी ध्यान रखता है। इसमे कुछ भी भूल नही। मैंने सारी शिक्षा उससे आप पाई थी, और दूसरों से सुन-सुनाकर उससे नही सीखा। एक दिन उसने कृपापूर्वक मुझसे कहा—'इस समय मेरे पास सेवा करनेवालों की कमी नहीं, इसलिए तुम्हे अब मेरे पास न रहना चाहिए, क्योंकि इससे मेरे अध्ययन मे विघ्न पड़ता है।' तब मैं उसके पास से, हाथ मे धातु की छड़ी लेकर, पूर्वी देश के लिए चल पड़ा। वहाँ जाकर मैं अभिधर्म (सङ्गीति) और सम्परिग्रहशास्त्र (Nanjio's Catal.,

---

* इसका देहान्त सन् ६६७ ई० मे हुआ। यह विनय निकाय का संस्थापक और कोई आठ ग्रन्थों का रचयिता था। See Nanjio's Catal., App. iii. 21.

iii, Nos. 1178, 1199; 1183, 1184, 1247) के अध्ययन मे लीन हो गया। वहाँ से फिर पीठ पर पुस्तकों का बस्ता रखकर, मैं पश्चिमी राजधानी (सि-अन-फू) को गया और वहाँ मैंने बड़े परिश्रम से कोश और विद्यामात्रसिद्धि (Nanjio's Catal., iii, Nos. 1267, 1269, 1197, 1210, 1238, 1239, 1240) का अध्ययन किया। भारत के लिए प्रस्थान करते समय मैं इस राजधानी से अपने जन्म-स्थान* को लौट आया। मैंने अपने परमगुरु हुई-हूसी से इस प्रकार परामर्श माँगा—'हे पूज्यदेव, मेरा सङ्कल्प लम्बी यात्रा पर जाने का है; क्योंकि यदि मैं उसको देखूँगा जिससे मैं अभी तक परिचित नहीं हूँ तो मुझे अवश्य बड़ा लाभ होगा। किन्तु आप पहले ही वयोवृद्ध हैं, इसलिए आपसे परामर्श लिये बिना मैं अपने सङ्कल्प को पूरा नहीं कर सकता।' मेरे गुरु ने मुझे इस प्रकार उत्तर दिया—'तुम्हारे लिए यह भारी अवसर है, यह दुबारा नहीं मिलेगा। (मैं तुम्हें निश्चय कराता हूँ कि) मुझे तुम्हारे ऐसी बुद्धि-मत्ता से बनाये हुए सङ्कल्प को सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई है (मूलार्थतः 'तुम्हारे धार्मिक हेतुओं ने मुझे जगा दिया है')। मैं अपनी व्यक्तिगत ममता का और अधिक वर्णन क्यों करूँ?

'यदि मैं तुम्हें (वापस आते देखने के लिए) पर्याप्त देर तक जीता रहा तो तुम्हें 'प्रकाश' को फैलाते देखकर मुझे हर्ष होगा। निःसङ्कोच होकर जाओ; पीछे रही हुई चीज़ों की ओर मुड़कर मत देखो। तुम्हारी तीर्थस्थानों की यात्रा को मैं निस्सन्देह पसन्द करता हूँ। इसके अतिरिक्त धर्म की समृद्धि के लिए उद्योग करना एक बड़ा ही आवश्यक कर्तव्य है। संशय को बिलकुल दूर कर दो।'

इस प्रकार न केवल मेरा सङ्कल्प ही दयापूर्वक पसन्द किया

---

* उसका जन्म-स्थान चि-लि के अन्तर्गत फ़ङ्ग-यङ्ग, वर्तमान चओ-चोऊ, में था।

गया, किन्तु अब तो मुझे उनका आदेश मिल गया, जिसे मैं किसी अवस्था में भी पूरा किये बिना न रह सकता था।

अन्त को मैं हि् सएन हेङ्ग-काल के दूसरे वर्ष (सन् ६७१) के ग्यारहवें मास मे कङ्ग-चोऊ (कैण्टन) के समुद्र-तट से पोत मे चढ़-कर दक्षिणी सागर के लिए चल पड़ा। इस प्रकार मैं एक देश से दूसरे का सफ़र कर सका और यात्रा के लिए भारत मे जा सका। हि् सएन हेङ्ग-काल के चौथे वर्ष (सन् ६७३) के दूसरे मास के आठवें दिन मैं ताम्रलिप्ति पहुँचा, जो पूर्वी भारत के समुद्र-तट पर एक बन्दर है। पाँचवें मास में, इधर-उधर साथी पाते हुए, मैं फिर पश्चिम की ओर चल पड़ा। तब मैं नालन्द विहार और वज्रासन को गया और इस प्रकार अन्त को मैंने सभी तीर्थों के दर्शन किये। तब मैं उसी मार्ग से वापस मुड़कर श्रीभोज पहुँच गया।

उसके विषय मे कहा जा सकता है कि वह एक विश्रुत, सुचरित और बुद्धिमान् उपाध्याय था, जिसने ब्रह्मचर्य को पूर्ण और पुरुषदम्य-सारथि (बुद्ध) की सच्ची शिक्षा पर अधिकार प्राप्त किया था। इस प्रकार कहने में हम भूल नहीं कर रहे हैं। संसार की आवश्य-कताओं को पूरा करने और मानव-समाज के जीवन को मार्ग दिखाने से वास्तव मे वह अपने समय का एक आदर्श पुरुष बन गया था।

तरुण होने तक मेरा पालन और शिक्षण उसी ने किया था। भवसागर में इस बेड़े के मिल जाने से मैं एक दिन की जल-यात्रा (तट के निकट) और आ गया। इन दो उपाध्यायों की सङ्गति में सौभाग्य से मुझे जीवन के घाट का पता लग गया। सुकर्म और दान, चाहे कितने ही क्षुद्र क्यों न हों, लोग गीत और बाजे के साथ प्रायः इनकी प्रशंसा करते हैं। तब मेरे उपाध्यायों की इतनी बड़ी प्रज्ञा तथा उपकारशीलता की पद्य अथवा गद्य से और भी कितनी अधिक प्रशंसा होनी चाहिए!

मेरी कविता यह है—

'मेरी स्नेहमयी माता तथा पिता! अतीत कालों मैं आपने मेरी रचा की है। आपने मुझे लाकर मेरे लड़कपन में इन चतुर उपाध्यायों की देख-रेख मे छोड़ दिया। आपने अपने प्रेम तथा शोक को दबाकर ऐसा किया जब कि मैं एक निःसहाय बालक था। पाठ पढ़ते हुए, मैं कभी-कभी अधीत विषयों का अभ्यास किया करता था। मैंने अपने चरित्र की जड़ सदुपदेशों और सुनियमों की भूमि मे गाड़ी थी। दोनों उपाध्याय* मेरे लिए सूर्य और चन्द्र के सदृश प्रकाश देनेवाले थे। उनके सद्गुण की उपमा यिन और यङ्ग (अर्थात् 'प्रकृति मे व्यापक धन तथा ऋण तत्त्वों') के गुणों मैं हो सकती है। मेरी बुद्धि-रूपी खड्ग की नोक को उन्होंने तीक्ष्ण कर दिया। उन्होंने मेरे धर्म्मरूपी शरीर को भी पोषित किया। वे अपनी व्यक्तिगत रचा मे कभी नहीं थकते थे। कभी-कभी वे बिना सोये सारी-सारी रात, और कभी-कभी, बिना भोजन किये सारा-सारा दिन मुझे पढ़ाते चले जाते थे। बहुधा परमगुणी मनुष्य ऐसा दिखाई दिया करता है मानों इसमें कोई भी विशेष गुण नही, पर ऐसे मनुष्य की प्रज्ञा इतनी गम्भीर होती है कि हम उसे नाप नहीं सकते। ऐसे ही मनुष्य मेरे उपाध्याय थे।

'ताई पर्वत से प्रकाश अन्तर्धान हो गया (उसके दोनों उपाध्याय ताई शन से चले आये, इस परिच्छेद का आरम्भ देखिए)। धर्म्म ची के नदी-तट मे छिप गया (दोनों उपाध्याय ची में आये और वहीं बस गये; एक का ची मे देहान्त हो गया)। प्रज्ञा का सागर उनमे विस्तीर्ण तथा दूर तक फैला हुआ था। ध्यान रूपी कुञ्ज बहुत फल-फूल रहा था। उनकी रचना-शैलियाँ बड़ी सुन्दर थीं; उनकी मानसिक एकाग्रता बड़ी आश्चर्यजनक थी।

---

* शन-यू तथा हुई-हूसी।

"पीसो, परन्तु तुम पिण्ड को घटा नहीं सकते। रँगो, परन्तु तुम उसे काला नहीं बना सकते।" इस लोक से प्रयाण की साँझ को, मेरे उपाध्याय (शन-यू) ने एक विचित्र चिह्न दिखलाया। जब पक्षी एक मनुष्य के पाठ को ध्यानपूर्वक सुनने लगा तब एक अनोखा उदाहरण प्रकट हुआ। जब मैं अभी बच्चा ही था, एक (शन-यू) का देहान्त हो गया, और दूसरा (हुई-हूसी) पीछे रह गया। जो भी पुण्य कर्म्म मुझसे सम्पन्न हुए हों, मैं उन्हें राशिरूप में मृतकों को देता हूँ। एक को मैं उसकी मृत्यु के बाद उन उपकारों का बदला देना चाहता हूँ जो उसके जीवन-काल में मुझ पर हुए थे। दूसरे के लिए मेरी कामना उसके जीवन-काल मे ही उसके दया-रूपी ऋण को चुका देने की है, चाहे मैं उससे बहुत दूर अलग हूँ। परमात्मा करे कि हमारे सुख की वृद्धि के लिए किसी दिन हमारा एक-दूसरे से मिलाप हो।

'मोक्ष-प्राप्ति के लिए, मुझे प्रत्येक जन्म में उनकी शिक्षा मिलती रहे। मुझे आशा है कि पुण्यशीलता के अभ्यास से मेरी भूतानु-कम्पा बढ़कर पर्वत के समान ऊँची हो जायगी।

'मेरा शुद्ध और शान्त ध्यान सरोवर की गहराई के समान गम्भीर हो। मैं नाग-वृक्ष* के नीचे प्रथम दर्शन की प्रतीक्षा मे हूँ, जब कि मैं बुद्ध मैत्रेय का गम्भीर तड़तड़ाता हुआ नाद सुनूँगा। चार प्रकार के जन्मों † मैं से होता हुआ, मैं अपने मन को सम्पूर्ण और बुद्धत्व के लिए आवश्यक तीन दीर्घ कल्पों को इस प्रकार पूरा करना चाहता हूँ।'

---

* लोगों का विश्वास है कि आगामी बुद्ध मैत्रेय का जन्म केतुमति में होगा, और वह, शाक्यमुनि के सदृश, जिसे बोधि-वृक्ष के नीचे बुद्धत्व प्राप्त हुआ था, नाग-वृक्ष के नीचे बुद्धत्व प्राप्त करेगा।

† अर्थात् (१) योनि से, (२) अण्डो से, (३) स्वेद से, (४) अलौकिक रीति से जन्म।

इस डर से कि पाठक मेरे उपाध्याय की साहित्यिक शक्ति के विषय में मेरे कथन को कहीं निर्मूल न समझें, मैं उसकी शब्द-रचना का एक नमूना देता हूँ। एक बार दूसरे मास के पन्द्रहवें दिन (यह दिन निर्वाण-दिवस के तौर पर मनाया गया था*) भिक्षु और साधारण लोग दक्षिणी पर्वत पर, जहाँ ध्यानाचार्य (लुङ्-) लङ् निवास करता था (ताई शन), इकट्ठे हुए। उन्होंने 'स्वर्गीय कूप' 'दिव्य शस्यागार' की विचित्र वस्तुओं के दर्शन किये, और पवित्र प्रतिमास्थान और देवमन्दिर मे पूजा की। वहाँ उन्होंने पूजन तथा भिक्षादान की एक महान् प्रक्रिया सम्पन्न की। इस समय तक ची-नरेश के राज्य के सभी साहित्य-सेवी वहाँ एकत्र हो गये। इनमे से प्रत्येक के अधिकार मे लेखों के सागर और वाङ्मय के पर्वत थे। वे सब प्रतिष्ठा † के लिए स्पर्धा करते हुए अपने उत्कृष्ट चरित्र की डींग मार रहे थे ‡।

यह प्रस्ताव किया गया कि वे स्वर्गीय लङ् की प्रतिमा और उसके मन्दिर की प्रशंसा मे एक कविता रचें, और उन सबने सर्व-सम्मति से मेरे उपाध्याय हुई-हूसी को इसे बनाने के लिए आगे किया। उसने बिना किसी सङ्कोच के इसे स्वीकार कर लिया।

जिस समय वह दीवारों पर लिख रहा था उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो नदी का प्रवाह अपनी ऊर्मिमाला को हिलाकर उसकी सहायता कर रहा है। वह एक क्षण भर भी बन्द नहीं

---

* बुद्धघोष की समन्त-पासादिका में कहा है; 'विसाखा-पुण्णमदिवसे पच्चूससमये परिनिब्बुते भगवति।' बुद्धघोष की भूमिका के चीनी अनुवाद का इसके अनुरूप वचन यह है—'बुद्ध ने दूसरे मास के १५ वें दिन के प्रातः-काल निर्वाण में प्रवेश किया।' देखिए ओल्डनबर्ग का विनय-पिटिकम्, iii, p. 283.

† मूलार्थतः 'थैले में सूए के सदृश।'

‡ मूलार्थतः 'सन्दूक में एक मणि रख कर'

हुआ, किन्तु अपनी अनर्गल लेखनी से निरन्तर लिखता ही चला गया। उसने शीघ्र ही कविता समाप्त कर दी और उसमे संशोधन या परिवर्धन की कुछ भी गुञ्जायश न थी।

उसकी कविता यह थी—

'प्राचीन ऋषि बड़ा ही देदीप्यमान था।

'उसका उत्कृष्ट उपदेश सागर के सदृश दूर-दूर तक फैला हुआ था।

'एक निर्जन उपत्यका उसका आश्रय थी, और यहाँ उसका निवास था।

'सौभाग्य-सूर्य उस पर निष्प्रयोजन चमकता था।

अनन्त काल की नदियाँ और पर्वत विस्तीर्ण और शून्य हैं।

बीतते हुए युगों के साथ-साथ मनुष्य और पीढ़ियाँ बीत जाती हैं।

नास्तिकी समस्या की थाह केवल आध्यात्मिक ज्ञान ही ले सकता है।

'प्राचीन ऋषि के पीछे रहे चित्र के सिवा हम और क्या देखते हैं?'

मेरे उपाध्याय की इस कविता को देखकर विद्वानों के सारे समाज ने एक स्वर होकर उसकी भारी प्रशंसा की। कइयों ने अपनी लेखनियाँ देवदारु की टहनी को सौंप दी और कुछ ने अपने मसीपात्र चट्टान के नीचे फेंक दिये। उन्होंने कहा—'सी शिह (एक आदर्श सुन्दरी स्त्री का नाम) ने अपना मुखड़ा दिखला दिया है; (अब) मू मो (एक कुरूपा स्त्री का नाम जो पीत सम्राट् की सेवा किया करती थी) कैसे प्रकट हो सकती है?' अनेक चतुर मनुष्य उपस्थित थे किन्तु कविता की बराबरी करने मे कोई भी समर्थ न हुआ। मेरे उपाध्याय के सब ग्रन्थ अलग-अलग इकट्ठे किये हुए हैं।

मैं इ-त्सिङ्ग, महाचोऊ* के सभी पूजनीय मित्रों को सादर नमस्ते भेजता हूँ। जिनके साथ मैं वाह्य-कथा अथवा धर्म-कथा किया करता था,—जिन मे से कुछ के साथ मेरा बचपन मे परिचय हो गया था, और जो कुछ मध्यम आयु मे मेरे परममित्र हो गये थे—इनमे से अधिक गुणवान लोग मेरे आध्यात्मिक गुरु बन गये, यद्यपि उनमे अनेक क्षुद्र मनुष्य भी थे। इस प्रस्तुत पुस्तक के चालीस परिच्छेदों में मैंने केवल महत्त्व-पूर्ण विषयों का ही वर्णन किया है, और जो कुछ मैंने लिखा है वह भारत के उपाध्यायों और शिष्यों मे इस समय प्रचलित है। मेरे लेख का आधार स्पष्ट रूप से बुद्ध के वचन हैं, और यह मेरे अपने मन की उपज नहीं। हमारा जीवन वेगवान् नदी के सदृश शीघ्रता से बीत रहा है। हम सबेरे नही बता सकते कि साँझ को क्या घटना होगी। इस डर से कि मुझे शायद तुम्हारे दर्शन नसीब न हो और मैं आप आकर ये बातें तुम्हे न बता सकूँ, मैं यह इतिहास भेजता और अपने प्रत्यागमन के पहले इसे आंपकी भेट करता हूँ। मेरी प्रार्थना है कि जब आपको अव-काश हो, इस पुस्तक में लिखित विषय का अध्ययन कीजिए, और इस प्रकार आप मेरे हृदय मे पहुँच सकेंगे। जो कुछ मैंने वर्णन किया है वह और किसी के नहीं, केवल आर्यमूलसर्वास्तिवाद-निकाय के अनुसार है।

मैं फिर आपको कविता में सम्बोधन करता हूँ—

---

* महा चोऊ अर्थात् 'चीन' क्योंकि राज्यापहारी रानी (सन् ६६०—७०४) का शासन 'चोऊ' ('चोऊ', सन् ६९१—६६०, नहीं) कहलाता था। यह कल्पना, कि इ-त्सिङ्ग की पुस्तकों में नैमित्तिक टीकाएँ किसी दूसरे की पीछे से लिखी हुई हैं क्योंकि टीकाओं में 'चोऊ यूएन' अर्थात् 'चोऊ की भाषा' का प्रयोग मिलता है, एकदम छोड़ देनी चाहिए, क्योंकि हम देखते है कि स्वयम् इ-त्सिङ्ग चीन के लिए 'चोऊ' का प्रयोग करता है। Compare Chavannes, Memoirs of I-tsing, p 203.

'मैंने अपने आचार्य की उत्तम शिक्षा को सादर लेखबद्ध किया है।

'अहा, वह कैसा महान् और दयामय उपदेश है!

'सारे का आधार बुद्ध की श्रेष्ठ शिक्षा है;

'मैं नहीं कह सकता कि मेरी विनीत बुद्धि ने इसे खोजकर निकाला है।

'सम्भव है, मुझे आपके दर्शनों का अवसर न मिल सके।

'इसलिए मैं अपना इतिहास आपके पास आगे भेजता हूँ।

'यदि आप इस ग्रन्थ को रखने योग्य पायेंगे तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।

'यह गाड़ी मे भी आपके साथ रहना चाहिए।

'मेरे जैसे तुच्छ मनुष्य के वचन को भी स्वीकार कीजिए।

'एक सौ अतीत पीढ़ियों के ऋषियों के चरण-चिह्नों पर चलते हुए, आनेवाले सहस्रों वर्षों के लिए मैं सुन्दर बीज बोता हूँ।

'मेरी सच्ची आशा और कामना गृध्रकूट* को अपने मित्रों के छोटे कमरों † मे दिखाना, और चीन की दिव्य भूमि में दूसरी राजगृह नगरी निर्माण करना है।'

———

* राजगृह के निकट अब शैलगिरि कहलाता है।

† होनन में सुङ्ग पर्वत की एक चोटी का नाम, जहाँ उसके बहुत से मित्र रहते थे। इ-त्सिङ्ग इस नाम का उपयोग दोनों अर्थों में करता है।

उन पुस्तकों के नाम जिनका उल्लेख इ-त्सिङ्ग के ग्रन्थों में है परन्तु जो इंडिया ऑफ़िस के संग्रह में नहीं मिलतीं।

---

१. सी-फ़ङ्ग:ची अर्थात् 'पश्चिम (भारत) का इतिहास।' See folio 25 [b], vol. i, Nan-hai-ki-kwei-nei-fa-kwhan (sic), No. 1492 (India Office copy.)

२. सी-फ़ङ्ग-शिह-तेह-चूअन अर्थात् 'पश्चिम के दस धर्मात्मा मनुष्यों के उत्तम चरित।' See folio 11[b], vol iv, of Nan-hai--ki-kwei-nei-fa-kwhan (sic), no 1492 (India Office copy)

३. चुङ्ग-फ़ङ्ग-लू अर्थात् 'मध्य देश का इतिहास।' See Chavannes, Memoires of the Eminent Priests who visited India during the T'ang Dynasty, by I-tsing, p 88 and folio 18[a], vol. i, of Fa-than-si-yu-kin-fa-kao-san-kwhan (sic) No. 1491 (India Office copy.)

उपर्युक्त सारी पुस्तकें इ-त्सिङ्ग की अपनी रचना प्रतीत होती हैं। कदाचित् वे चीन, कोरिया, अथवा जापान के किसी बौद्ध पुस्तकालय मे मिल जायँ।

अतिरिक्त टीका

—+—*—+—

पृष्ठ २. द्वन्द्व···गये—लिएह-त्जे अपनी पुस्तक मे कहता है 'शुद्ध और हलका वायु, ऊपर उठकर आकाश, और गन्दा तथा भारी (वायु) नीचे उतरकर पृथ्वी बन गया।' Compare Faber's Licius p. 4.

पृष्ठ ६. अनिरुद्ध—बुद्ध के अन्तिम उपदेश का सूत्र केवल महापरिनिर्वाण-सूत्र ही हो सकता है। पाली पाठ में इस प्रकार है—'हे भिक्षुओ, हो सकता है कि कुछ भिक्षुओं के मन मे बुद्ध, धर्म्म, सङ्घ, मार्ग, या विधि के विषय मैं सन्देह या संशय हो (बुद्धे वा धम्मे वा सघे वा मग्गे वा पटिपदाय वा)। भिक्षुओ, स्वतंत्रता-पूर्वक पूछो, इत्यादि।' बुद्ध ने तीन बार ऐसा कहा, परन्तु सब चुप रहे। तब आनन्द ने (अनिरुद्ध ने नहीं, जैसा कि चीनी मे है) कहा—'वस्तुतः सारी सभा में कोई भी ऐसा नही जिसके मन मे बुद्ध, इत्यादि, के विषय मे कोई सन्देह हो।' इ-त्सिङ्ग इस सूत्र के दो संशोधित संस्करणों का उल्लेख करता है। इनमे से एक महायान का और दूसरा हीनयान का था। हीनयान का संस्करण जावा में था और सम्भवतः पाली मे था। उसने महायान पाठ भी देखा था, परन्तु उसे उसके एक परिच्छेद की ही प्रति मिली थी।

पृष्ठ १०. लाट का उल्लेख, सिन्धु, सुराष्ट्र (सूरत), भरोएच, और माल्व के साथ, बृहत्संहिता, अ० ६९, ११, में है। इ-त्सिङ्ग कहता है कि यह पश्चिमी भारत मे है, और इसका उल्लेख प्रायः सिन्धु के साथ करता है। ह्यू एन-चओ नामक एक चीनी लाट को जाते हुए व-क-ल (शायद वलख), कपिश, और सिन्धु में से होता

हुआ वहाँ पहुँचा था (Chavannes, pp. 23—26)। प्रोफेसर बूहलर ने मुझे सूचित किया है कि लाट मही और कीम नदियों के बीच का प्रान्त, मध्य गुजरात, है और इसका प्रधान नगर बरोएच (भरु-कच्छ) है।

पृष्ठ १६. † सुदर्शन-विभाषा विनय, जो विनय की एक टीका है, दक्षिणी बौद्ध पुस्तकों में से बुद्ध-घोष समन्तपासादिका का अनुवाद मात्र था। इसका प्रारम्भिक भाग, वस्तुतः, पाली-पाठ से अक्षरशः मिलता है, यहाँ तक कि पाली-श्लोकों के लिए चीनी मे भी श्लोक ही दिये गये हैं। इसमें बुद्धघोष-द्वारा उद्धृत दीपवंस के भी कुछ श्लोक हैं। मैं इस पुस्तक के ऐतिहासिक भाग का अनुवाद करने का यत्न कर रहा हूँ। यह एक मनोरञ्जक बात है कि बुद्धघोष की एक पुस्तक, जो सन् ४३० मे लङ्का और वहाँ से सन् ४५० मे ब्रह्मा गई, सन् ४८९ मे चीनी मे अनुवादित हुई, और चीनी में लेखक का नाम कभी मालूम ही न हो।

पृष्ठ ३०. * पुर (जिसका पूरा रूप पु-र-भ-द-र है) का वास्तविक रूप अनिश्चित है। 'जूते वे हैं जिनमें रुई या उसी प्रकार की कुछ और चीज़ें चमड़े के साथ मिलाकर सी दी जाती हैं; मध्य भाग (दूसरे भाग की अपेक्षा) ऊँचा होता है' (सुदर्शन-विभाषा, vol. xvii p.13)। वे, 'मोटे अस्तरवाले जूतों' की ऐसी कोई चीज़ जान पड़ते हैं (महा-वग्ग, ५, १३, १३); 'मैं गणमूगणूपाहनम्' (उपानह)।

पृष्ठ ३४. 'छूये हुए' पानी की ठिलिया, पाली मे, 'आचमन-कुम्भी' जान पड़ती है।

पृष्ठ ४२. कलन्दक या कलन्तक निस्सन्देह गिलहरी है, कोई पक्षी नही। समन्तपासादिका का चीनी अनुवाद, इस शब्द पर टीका करता हुआ, सुत्तविभङ्ग पाराज १, ५, १, 'वेसालिया अवि-दूरे कलन्दक-गामो नाम होति', इसे 'जङ्गली चूहे' का नाम देता है।

पृष्ठ ८३. तेरह आवश्यक चीज़ें—

महाव्युत्पत्ति, २७२.	इ-त्सिङ्ग	महावग्ग ८, २०, २,
१. सङ्घाती	१	सङ्घाती } तिचीवर।
२. उत्तरासङ्ग	२	उत्तरासङ्ग }
३. अन्तर्वास	३	अन्तरवासक }
४. सङ्कच्छिका	७	... ... सङ्कक्खिक* । (चुल्लव० १०, १७, २ और भिक्खुनीपाचित्, ९६)
५. प्रतिसङ्कच्छिका	८	निवासन
६. निवासन	५	
७. प्रतिनिवासन	६	पटिनिवासन (महावग्ग, १, २५, ९; चुल्लवग्ग, ८, ११, ३)
८. केशप्रतिग्रहण	११	
९. स्नात्रशाटक	देएस्त (Deest)	उदकशाटिक (महावग्ग ८, १५, ७)
१०. निषीदन	४	५. निसीदन
११. कण्डुप्रतिच्छादन	१२	७. कण्डुपटिच्छादी† ।
१२. वर्षशाटीचीवर	Deest	४. वस्सिकसाटिक
१३. परिष्कार चीवर	१३. भेषज परिष्कार	९. परिक्खार-चोलक ।
	९. काय-प्रोञ्छन	

* पुरानी टीका—'सङ्कच्छिकन् नाम अधक्खकम् उभनाभि तस्स पटिच्छादनत्थाय' (विनय-पिटक) ।

† महावग्ग ८, १७, १; पातिमोक्ख, पाचित्तिय ९०, इसे कभी कभी वस्त्रबन्धन चोल भी कहते हैं ।

१०. मुख-प्रोञ्छन   ८. मुखपुञ्छन-चोलक
                              ९. पच्चत्थरण* ।

पृष्ठ १०८. बुद्धघोष की समन्तपासादिका में महाकाश्यप के शब्दों की तुलना कीजिए—'याव धम्मविनयो तिट्ठति ताव अनतीतसत्थुकम् एव पावचनम् होति, 'वुत्तम् ह एतम् भगवता; यो वो मया आनन्द धम्मो च विनयो च देसितो पञ्ञत्तो सो वो मम अच्चयेन सत्थाऽति ।'

पृष्ठ १३०. क्योंकि कार्त्तिक मास चीनियों के आठवें मास के मध्य मे आरम्भ होता है, जो प्राय: जलविषुव का दिन होता है, इसलिए हम मासों की तुलना इस प्रकार कर सकते हैं—

पाँच ऋतुएँ । (विनय में)	चीनी । (१६वें से १५वें दिन तक)		भारतीय ।	छः ऋतुएँ ।
शीतकाल	९—१०	मास	मार्गशीर्षः	शिशिरः
	१०—११	,,	पौषः	
	११—१२	,,	माघः	वसन्तः
	१२—१	,,	फाल्गुनः	
वसन्त	१—२	,,	चैत्रः	ग्रीष्मः
	२—३	,,	वैशाखः	
	३—४	,,	ज्येष्ठः	वर्षाऋतुः
	४—५	,,	आषाढ़ः	
वर्षाऋतु	५—६	,,	श्रावणः	शीतकालः
अन्तिम ऋतु	६ ठे मास का १६ वाँ			
लम्बी ऋतु	६—७	मास	भाद्रपदः	
	७—८	,,	आश्विनः	हेमन्तः
	८—९	,,	कार्त्तिकः	

* बिछौने की चादर या बैठने का गद्दा ।

पृष्ठ १६१. आठ प्रकार के शर्बत (पान)-

एक शतकर्मन्, पुस्तक ६, में दी हुई इ-त्सिङ्ग की व्याख्या।

१. चोचपान।

'चोच बेरों के सदृश खट्टा और आकार में Gleditchia sinensis, lam की फलियों का ऐसा होता है। चोच का पेड़ "तन्दली" (तण्डुलीय? कदाचित् कदली; ऐसा ही बुद्धघोष कहता है— चोचपानन् ति अट्ठिक-कदलि-फलेहि कतपानम्) भी कहलाता है। फली एक-दो उँगली चौड़ी और तीन-चार उँगली लम्बी होती है। भारतीय लोग इसे सदा खाते हैं।

२. मोचपान।

'मोच केला (चीनी, पचियाओ) है। हम इस फल पर थोड़ी सी काली मिर्च रखकर उँगलियों से दबाते हैं तब यह पतला पानी सा हो जाता है।'

३. 'कु-ल-क-पान (कोलक, 'काली मिर्च'?) फल खट्टी खजूर के सदृश होता है।'

महावग्ग मे पाली।

३. चोचपान।

केला-पान (बुद्धघोष, ओल्डनबर्ग तथा हाइस डेविड्स) Bohtlingk तथा Roth के अनुसार चोच नारियल या दारचीनी भी हो सकता है।

४. मोचपान।

मोचपापन् ति अनट्ठिकेहि कदलि फलेहि कत-पानम् (बुद्धघोष)। यह भी केले का पेड़ है, परन्तु बीज (अट्ठिक) के विषय मे मोच और चोच में कुछ अन्तर जान पड़ता है।

(१) अम्ब पान

पाली के १, २, ५, ७ के अनुरूप नाम इ-त्सिङ्ग की सूची मे नहीं।

आठ प्रकार के शर्बत (पान)–

एक शतकर्मन्, पुस्तक ६, में दी हुई	महावग्ग में पाली।
४. अश्वत्थ पान। 'यह बोधिवृक्ष है; बोधिवृक्ष के फल से पान तैयार किया जाता है।'	(२) जम्बु पान।
५. उदुम्बर पान। 'इसका फल 'लि' के सदृश होता है।' विज्ञान की रीति से यह उत्पल अर्थात् कमल भी हो सकता है, परन्तु इ-त्सिङ्ग 'फल' बताता है, 'मूल' नहीं।	(५) मधु पान।
६. परूसकपान। इसका फल यिङ्ग-यू (Vitis labrusca, L एक प्रकार के जङ्गली अंगूर की बेल) के सदृश है)।	८. फारुसक पान।
८ मृध्विका पान। 'अंगूरों से तैयार किया हुआ शर्बत है।'	६. मुद्दिका पान। अंगूर का रस।
८. खजूर पान। 'इसका आकार छोटी खजूर का ऐसा होता है। इसका स्वाद कटु परन्तु कुछ-कुछ मीठा होता है। अधिकतर यह फ़ारस से आती है, परन्तु मध्यदेश मे भी	(७) सालूक पान (जल-पद्म का मूल)।

उगती है, किन्तु भारत की खजूर का स्वाद कुछ भिन्न होता है। वृक्ष जंगल में अपने आप उगता है और त्सुङ्ग लू के सदृश होताहै। इस पर फल बहुत लगतेहैं। जब यह पन-यू (कङ्ग-तुङ्ग) में लाया गया तब इसे 'ईरानीखजूर' कहते थे। इसका स्वादपकी हुई 'चीनी अंजीर' के सदृशहोता है।

इ-तिसङ्ग फिर एकशतकर्मन् (Nanjio's Catal., No. 1131) मे इन पाँच फलों के नाम देता है जिनकी बुद्ध ने आज्ञा दी है—

(१) हरीतक। (४) मरिच।
(२) विभीतक। (५) पिप्पली।
(३) आमलक।

पृष्ठ १६८. चिकित्सा-शास्त्र के आठ विभाग जिनका इ-त्सिङ्ग वर्णन करता है, निस्सन्देह आयुर्वेद के आठ विभाग हैं। वह इन विभागों के एक संक्षेप्ता का उल्लेख करता है, वह एक प्रसिद्ध वैद्य और इ-त्सिङ्ग का समकालीन (या इ-त्सिङ्ग के ठीक पहले) जान पड़ता है। यह संक्षेप्ता कदाचित् सुश्रुत हो, जो अपने आपको धन्वन्तरि का शिष्य कहता है। धन्वन्तरि विक्रमादित्य की कचहरी के नवरत्नों में से एक था।

आठ विभाग इस प्रकार हैं—

१. **शाल्य** (इ-त्सिङ्ग की (१) घावों की चिकित्सा)।

शल्य का अर्थ बाण है। यह शरीर मे अकस्मात् घुसी हुई बाह्य चीज़ों, घास, मिट्टी इत्यादि को बाहर निकालने की विद्या, और उपमिति से, सभी श्लेष्मल रसौलियों और व्रणों की दवा।

२. **शालाक्य** (इत्सिङ्ग का (२) सूई से चीरना)।

बाह्य शारीरिक व्याधियों अथवा आँखों, कानों, नाक, इत्यादि के रोगों की चिकित्सा। यह शलाका, "एक पतला और तीक्ष्ण यन्त्र" से बना है।

उपर्युक्त दोनों विभाग आजकल की अस्त्रचिकित्सा हैं।

३. **काय-चिकित्सा** (इ-त्सिङ्ग की (३) शरीर के रोगों की चिकित्सा)।

४. **भूत-विद्या** (इ-त्सिङ्ग की (४) भूताविष्ट रोग की चिकित्सा)।

पिशाचग्रस्त होने के कारण अव्यवस्थित इन्द्रियों को फिर चैतन्य कराना। यूनान, अरब और योरप में पहले इस विद्या का बड़ा प्रचार था, परन्तु ज्ञान-प्रसार के सामने यह सब लुप्त हो गया।

५. **कौमार-भृत्य** (इ-त्सिङ्ग की (६) बच्चों के रोगों की चिकित्सा)।

बच्चों की रक्षा, जिसके अन्तर्गत न केवल जन्म से बालकों का प्रबन्ध ही है, परन्तु दूध के ठीक न उतरने और माताओं के प्रसव-सम्बन्धी रोगों की भी चिकित्सा है।

६. **अगद** (इ-त्सिङ्ग की (५) अगद औषधि)।

प्रतिविषों का सेवन करना।

७. **रासायन** (इ-त्सिङ्ग का (७) जीवन को लम्बा करने के उपायों का प्रयोग)।

८. **वाजीकरण** (इ-त्सिङ्ग का (८) टाँगों और शरीर को पुष्ट करने की विधियाँ)।

मनुष्य-जाति को बढ़ाने की उन्नति।

पृष्ठ २५६. एक नस्टोरियन पादरी एक बौद्ध-सूत्र का अनुवाद कर रहा था, इस बात को सुनकर सम्भवतः पाठकों को आश्चर्य होगा, इसलिए मैं इसका पूरा वर्णन एक बौद्ध-पुस्तक से देता हूँ। **मसीह** का नाम एक बौद्ध पुस्तक में मिलना वस्तुतः एक विचित्र

बात है। यह सर्वथा नैमित्तिक रूप से ही आया है। उस पुस्तक का नाम है 'चेङ्ग यूअन-काल (७८५—८०४) में संकलित बौद्ध-पुस्तकों की नवीन सूची।' यह चीनी पुस्तकों के नवीन जापानी संस्करण में है। (Bodleian Library, Jap. 65DD, p. 73; पुस्तक नञ्जियो की सूची नहीं)।

सत्रहवें खण्ड मे यह कथा दी गई है—

एक बार भारत के कपिश का एक श्रमण, प्रज्ञ, मध्यभारत, सिंहल, और दक्षिणी सागर (सुमात्रा, जावा, इत्यादि) के रास्ते चीन में आया, क्योंकि उसने सुना था कि मञ्जुश्री चीन में है। वह कण्टन (कङ्ग-तुङ्ग) में पहुँचा। चिएन चुङ्ग काल के तीसरे वर्ष (सन् ७८२) यह उत्तर प्रान्त मे आया। चेङ्ग यूअन-काल के दूसरे वर्ष (सन् ७८६) उसे अपना एक मित्र मिला जो उसके पहले चीन में आया हुआ था।

उन्होंने, किङ्ग-चिङ्ग के साथ, जो आदम नाम का फ़ारस का एक भिक्षु था और ता-चिन (सिरिया) के विहार मे रहता था, एक मङ्गोल-पुस्तक से षट् पारमिता-सूत्र का अनुवाद किया था। उन्होंने सात खण्ड समाप्त किये। परन्तु उस समय प्रज्ञ न तो मङ्गोली भाषा जानता था और न वह तङ्ग की भाषा (चीनी) ही समझता था। किङ्ग-चिङ्ग (आदम) ब्राह्मण भाषा नहीं जानता था, न वह शाक्य (बुद्ध) की शिक्षा मे ही निपुण था। यद्यपि वे कह रहे थे कि हम पुस्तक का अनुवाद कर रहे हैं, परन्तु वास्तव में, वे उसके आधे भी बहुमूल्य (अर्थ) न प्राप्त कर सके। वे गुप्त रूप से निःसार प्रशंसा ढूँढ़ रहे, और भूल से भाग्य की परीक्षा कर रहे थे। कुछ लोगों ने उनके इस काम की शिकायत राजसभा मे की। (ते-त्सुङ्ग) ने, जो बुद्धिमान्, विज्ञ और सम्पन्न था, तथा जो शाक्य (बुद्ध) के धर्म्म का पालन करता था, उनके किये

हुए अनुवाद की जाँच की तो उसे मालूम हुआ कि उसमे वर्णित सिद्धान्त अस्पष्ट और शब्दरचना भद्दी है।

इसके अतिरिक्त, शाक्य का सङ्घाराम और ता-चिन (शाम) के विहार की रीतियों में भेद है, और उनके धार्मिक अनुष्ठान एक दूसरे के सर्वथा विरुद्ध हैं। किङ्ग-चिङ्ग (चीन) को चाहिए कि मसीह (मि-शी-हो) की शिक्षा दे और शाक्यपुत्रिय-श्रमण के सूत्रों का प्रचार करें। इच्छा यह है कि सिद्धान्तों की सीमाएँ स्पष्ट कर दी जायँ, ताकि अनुयायी एक दूसरे में मिल न जायँ। सत्य झूठ से उसी प्रकार दूर रहे जिस प्रकार चिङ्ग और वेइ नदियाँ एक दूसरे से अलग-अलग बहती हैं'। आदम और उसके प्रसिद्ध स्मारक के लिए देखिए Dr. Legge's Christianity in China in the Seventh and Eighth Centuries (Clarendon Press)।

पृष्ठ २६६. पाणिनि में विभक्तियों के नाम ये हैं—

१. प्रथमा	५. अपादान, पञ्चमी।
२. कर्मन, द्वितीया।	६. षष्ठी।
३. करण, तृतीया।	७. अधिकरण, सप्तमी।
४ सम्प्रदान, चतुर्थी।	८. आमन्त्रित।

कच्चायन के व्याकरण (कण्डो ७) में विभक्ति-सम्बन्ध इस प्रकार हैं—

२. कम्मम् (उपयोग)।	५. अपादानम् (निस्सक)।
३. करणम्।	६. सामी।
४. सम्पदानम्।	७. ओकासो या अवकासो (या भुम्मो)

पृष्ठ २७५. पेइ-ना सम्भवतः वेडा नाम की व्याकरण की कोई पुस्तक होगी। यह बात मुझे प्रोफेसर बूहलर ने सुझाई है। उन्होंने ९ अक्तूबर सन् १८९५ को इस प्रकार लिखा था— '

'संस्कृत में एक पुस्तक का नाम है जो कि आपके 'पे-ना', 'पे-णा', या 'पि-डा' के अनुरूप होगा, और वह बेडा है। श्रीयुत स० क० भण्डारकर की हस्त-लेखों की नामावली (in the Deccan College, Bombay, 1888, p. 146, 381) में, और Aufrecht's Catalogus Catalogorum, p. 108. में, जन्माम्भोधि (अर्थात् "जन्म का सागर") के नीचे, बेडावृत्ति नाम की एक पुस्तक का उल्लेख है। इस टीका का नाम ठीक ही बेडावृत्ति ("नाव-टीका") (सागर को पार करने के लिए) है।

'अब 'बेडा' वही है जो 'वेडा' है, और इसका अर्थ 'नौका' है। संस्कृत पुस्तक के लिए यह एक बड़ा सामान्य नाम है, जैसा कि आपको Catalogus Catalogorum से मालूम हो जायगा। मैं समझता हूँ कि यह रहस्यमय पे-ना या पे-डा का पर्याय है। परन्तु मुझे मालूम नहीं, भर्तृहरि की "नौका" कौन सी थी। इ-त्सिङ्ग का दिया इसका वर्णन बहुत अनिश्चित है। इससे जान पड़ता है, उसने स्वयं इस पुस्तक को कभी नहीं पढ़ा। ज० बु०।'

पृष्ठ २७७. स्थिरमति और स्थितमति। ऐसा जान पड़ता है कि चीनी अनुवादकों ने दोनों नामों मे कुछ गड़बड़ कर दी है। ह्यू न-त्साङ्ग में स्थिरमति किइन हुई और स्थितमति अन-हुई है। इ-त्सिङ्ग ने यहाँ अन-हुई लिखा है, परन्तु उसका तात्पर्य स्थिरमति से है। स्थिरमति और गुणमति इन दोनों का उल्लेख बहुधा इकट्ठा हुआ है। दोनों नालन्द मे थे (Memoires, liv. ix, p. 46); दोनों ने वलभी में एक विहार बसाया था (Memoires, liv, xi, p. 164) एक वलभी-जागीर पत्र में, जिसे प्रो० बूहलर ने प्रकाशित किया है (Ind. Ant., 1877, p. 91), आचार्य भदन्त स्थिरमति का बनाया हुआ श्री बप्पपाद विहार जागीरदार है; और प्रो० बूहलर का मत है कि यह अवश्य ही वह विहार होगा जिसका उल्लेख ह्यू न-त्साङ्ग

ने किया है। रत्नधर्मराज-कृत बुद्धचरित मे स्थिरमति को असङ्ग का, और गुणमति को वसुबन्धु का शिष्य लिखा है। इससे भी दोनों समकालीन ठहरते हैं। हमारे इस इतिहास मे भी दोनों इकट्ठे रक्खे हुए हैं। यहाँ तक तो सब एकतान है। चीनी पिटक में, क्यूएन-हुई की पुस्तक का अनुवाद सन् ३९७—४३९ (No. 1243) में हुआ था। क्योंकि दोनों नामों के अर्थ और ध्वनि कुछ-कुछ एकसाँ हैं, इसलिए इसमे कुछ गड़बड़ जान पड़ती है। इसलिए इ-त्सिङ्ग के अन-हुई को स्थितमति समझना उचित जान पड़ता है। परन्तु यह भी सम्भव है कि स्थितमति गुणमति और स्थिरमति का समकालीन हो। Compare Taranatha's Buddhismus, p 160।

पृष्ठ ३००. भावी बोधिसत्त्व, जिसने अपना पुत्र तथा पुत्री दे दी, विश्वान्तर (वेस्सन्तर, जो चीनी मे 'सुदान' प्रसिद्ध है) है। देखो कर्न की जातकमाला ९; Hardy's Manual of Buddhism, P. 120; चरियपिटक, No 9 आँख, आदि देने की कथा शिवि-जातक में है।

पृष्ठ ३००. 'जिसने अपनी देह भूखे बाघ को दे दी' के लिए देखिए व्याघ्रजातक और 'जिसने जीते कबूतर को बचाया' के लिए देखो शिविजातक।

———

वैयाकरण भर्तृहरि

गाटिञ्जन के प्रसिद्ध विद्वान् अध्यापक एफ० कीलहार्न, पी० एच०डी० ने "इण्डियन एण्टिक्वेरी" नामक सामयिक पुस्तक (सन् १८८३, खण्ड १२, पृ०२२६) में भर्तृहरि के विषय मे कुछ विचार प्रकट किये हैं। उनका सम्बन्ध इ-त्सिङ्ग के साथ होने के कारण हम यहाँ उनके लेख का अनुवाद देते हैं— सन्तराम।

"अध्यापक मैक्समूलर का भर्तृहरि और काशिका-वृत्ति को ईसा की ७वीं शताब्दो के मध्य के पूर्व रखना ठीक ही है। यह तिथि चीनी यात्री इ-त्सिङ्ग की तिथि के द्वारा स्थिर हुई है। इ-त्सिङ्ग के भारत में आगमन के समय वहाँ के विद्यापीठों मे व्याकरण की जो पाठ-विधि प्रचलित थी उसका वह एक मनोरञ्जक वृत्तान्त छोड़ गया है *। मेरा विचार इ-त्सिङ्ग के भर्तृहरि के ग्रन्थों से सम्बन्ध

---

* Loc cit pp. 343—349 इ-त्सिङ्ग की बताई पहिली पुस्तक, प्रारम्भिक सिद्धान्त, मुझे एक प्रकार की लिपिविवेक या मातृका-विवेक जान पड़ती है। यह चमेन्द्र शर्मन् की पुस्तक के ही सदृश थी, जो अक्षरों, उनके संयोगों, उनका उच्चारण करनेवाली इन्द्रियों, इत्यादि की शिक्षा देती है। मेरा यह समझना ठीक ही है कि हिन्दुओं और जैनों की देसी पाठशालाओं में बच्चो को सबसे पहले ओं नम. सिद्धम्—सिखाया जाता है। ग्रन्थों में 'सिद्धम्' से मङ्गलाचरण करने की रीति है, इसके लिए मेरा कात्यायन के पहले वार्त्तिक की ओर संकेत कर देना ही पर्याप्त है। कात्यायन ने अन्तिम वार्त्तिक की समाप्ति पर आठ अध्यायों मे से प्रत्येक मे इसी पद का प्रयोग किया है। यह बात बड़ी विचित्र है कि वाजसनेयी प्रातिशाख्य का कर्त्ता अपने आठो ही अध्यायों को वैसे ही शुभ वाक्य, 'वृद्ध' वृद्धिः', के साथ समाप्त करता है। नाममात्र खिलों के सम्बन्ध में इ-त्सिङ्ग के कथन में मुझे कोई भूल जान

रखनेवाले कथन की तुलना विद्यमान हस्तलेखों, या टीकाओं से उनके विषय मे जो कुछ हम जानते हैं उसके साथ करने और इस बात का पता लगाने का है कि क्या उन ग्रन्थों मे से कोई ऐसे उपन्यास भी मिल सकते हैं जो दूसरे ग्रन्थकारों के समय को स्थिर करने में सहायता दे सकें।

अध्यापक मैक्समूलर के अनुसार, इ-त्सिङ्ग का भर्तृहरि के ग्रन्थों का वृत्तान्त, उसका जितना उल्लेख करना यहाँ आवश्यक है, यह है—

'फिर, भर्तृहरि का संलाप है। यह चूर्णी पर टीका है। चूर्णी पण्डितप्रकाण्ड भर्तृहरि की कृति है। इसमे २५,००० श्लोक हैं।'

'इसके अतिरिक्त, वाक्यपदिक है, जिसमें ७०० श्लोक हैं।' इसके बाद, पिन या पिद या विन है। इसमें भर्तृहरि के ३००० श्लोक हैं।'

इन ग्रन्थों मे से पहले को अध्यापक मैक्समूलर भर्तृहरि की महाभाष्य पर टीका; और दूसरे को वाक्यपदीय समझता है; तीसरे ग्रन्थ के विषय मे उसका विश्वास इस बात की ओर झुकता है कि इ-त्सिङ्ग भट्टिकाव्य की बात कह रहा है, क्योंकि 'वह यह मान लेता है कि भट्टि को चीनी मे पिद के रूप मे दिखलाया जा सकता है।'

जो हस्तलेख अब प्राप्य हैं उनसे हमे मालूम है कि भर्तृहरि ने महाभाष्य पर एक टीका, और तीन काण्डों का एक ग्रन्थ, जिसे सामान्यतः वाक्यपदीय कहते हैं, लिखा है। टीकाकार और पिछले वैयाकरण प्रायः हमे यह सूचना देते हैं कि उसकी महाभाष्य की

पड़ती है। खिलपाठ काशिकावृत्ति १, ३, २ में मिलता है। वहाँ हरदत्त ने इसके अन्तर्गत धातुपाठ, प्रातिपदिक-(अर्थात् गण-)पाठ और वाक्य-पाठ बताया है।

टीका तीन पादों से अधिक न थी; और, जहाँ तक मुझे ज्ञात है, वे उस टीका और वाक्यपदीय के सिवा उसका और कोई ग्रन्थ नहीं मानते*। इसको सिद्ध करने के लिए मैं हेलराज का प्रमाण देता हूँ; जिसने अपनी टीका की समाप्ति के निकट भर्तृहरि के विषय में यों लिखा है:—

त्रैलोक्यगामिनी येन त्रिकाण्डी त्रिपदी कृता।
तस्मै समस्तविद्याश्रीकान्ताय हरये नमः॥

महाभाष्य पर भर्तृहरि की सारी टीका अभी तक विद्यमान है, ऐसा कहना असम्भव है। मैंने बर्लिन हस्तलेख के सिवा इसका और कोई हस्तलेख कभी नहीं सुना। बर्लिनवाला हस्तलेख भी पहले पाद के ७ वें आह्निक के आगे नहीं जाता; यह आरम्भ में अधूरा और मध्य मे सदोष, और सारे का सारा बहुत अशुद्ध है। परन्तु इस अधूरे और सदोष हस्तलेख से भी यह बात स्पष्ट है कि भर्तृहरि की टीका बहुत पूर्ण और लम्बी-चौड़ी थी। इसका कर्त्ता महाभाष्य पर एक से अधिक टीकाओं को जानता था, जिनका हमको कुछ भी पता नहीं। उसके हस्तलेखों मे ऐसे पाठ थे जो इस समय तक प्राप्त होनेवाले किसी भी हस्तलेख मे नहीं मिलते। और कैयट की टीका—कम से कम पहले सात आह्निकों की—भर्तृहरि के ग्रन्थ से बहुत ही छोटा सा संग्रह है। यह सोचकर कि भर्तृहरि की टीका कैयट की टीका से कम से कम चार गुनी बड़ी है और पहले तीन पादों पर कैयट की टिप्पणी मे लगभग ६००० श्लोक हैं, हम भली भाँति विश्वास कर सकते हैं कि त्रिपदी में २५,००० श्लोक थे। यही अङ्क इ-त्सिङ्ग ने दिया है। इ-त्सिङ्ग का भर्तृहरि के ग्रन्थ को चूर्णी पर एक टीका बताना ठीक भी है, क्योंकि

* हरिकारिका कोई अलग पुस्तक नहीं। दूसरे शब्दो में हरिकारिका का अर्थ है 'वाक्यपदीय से एक श्लोक'।

भर्तृहरि स्वयं महाभाष्य के कर्त्ता को चूर्णिकार कहता है। (बर्लिन हस्तलेख, पृ० ६२ ए, १०२ बी, १२१ ए.)

जो ग्रन्थ सामान्यतः वाक्यपदीय कहलाता है उसका अध्ययन भारत मे चिरकाल से बन्द हो चुका है। इसके हस्तलेख दुष्प्राप्य, और प्रायः अशुद्ध हैं। उन सब में यह ग्रन्थ तीन काण्डों में विभक्त किया गया है, इसलिए सारे को त्रिकाण्डी भी कहते हैं। उन तीन काण्डों में से पहले मे, जो ब्रह्मकाण्ड था आगम-समुच्चय कहलाता है, बहुत से हस्तलेखों में, १८३, दूसरे या वाक्य-काण्ड मे ४८७ श्लोक हैं। तीसरे या पदकाण्ड में १४ समुद्देश हैं, जिन के १३१५ श्लोक हैं। तब वाक्यपदीय में, जैसा कि वह हमारे पास है, सब मिलाकर १९८५, या पूर्ण अङ्कों मे २००० श्लोक हैं। यही अङ्क कोलब्रूक के हस्तलेख के अन्त में (अतिरिक्त टिप्पणी "२¾ रुपये" सहित) दिया गया है।

ऐसी अवस्था होने पर, मुझे प्रतीत होता है कि इ-त्सिङ्ग का कथन, जिसके अनुसार वाक्यपदिक में ७०० श्लोक थे, उस ग्रन्थ की ओर संकेत नहीं करता जिसको हमारे हस्तलेख वाक्यपदीय नाम देते हैं; क्योंकि मुझे इस बात पर विश्वास करने के लिए कोई कारण नहीं दीखता कि जो लेखक पाणिनि के व्याकरण का, काशिका-वृत्ति का, महाभाष्य का, और, जहाँ तक हम विचार कर सकते हैं, भर्तृहरि की टीका का ठीक-ठीक विस्तार देता है उसने इस अवस्था मे भूल की हो या उसको अशुद्ध जानकारी मिली हो। इसके विपरीत, मुझे यह दिखलाने की आशा है कि इ-त्सिङ्ग का वृत्तान्त यहाँ वैसा ही यथार्थ है जैसा कि यह उन दूसरे ग्रन्थों की अवस्था में है, जिनका उसने वर्णन किया है। मेरा विश्वास है कि मैं साथ ही उस अन्तिम ग्रन्थ का संस्कृत नाम भी सुझा सकता हूँ,

जिसको उसने 'पिन या पिद या विन' लिखा है, जिसको अध्यापक मैक्समूलर बड़े संकोच के साथ भट्टिकाव्य समझता है।

वर्धमान भर्तृहरि का वर्णन करता है। उसका उल्लेख वह अपने 'गणरत्नमहोदधि' मे इस प्रकार करता है—वाक्यपदीयप्रकीर्णकयोः कर्ता महाभाष्यत्रिपद्या व्याख्याता च। 'वाक्यपदीय और प्रकीर्णक का कर्ता, और महाभाष्य के तीन पदों का व्याख्याता।' यहाँ 'वाक्यपदीय और प्रकीर्णक' हेलाराज के ऊपर उद्धृत श्लोक मे 'त्रिकाण्डी' के समानार्थक हैं। यह समझना चाहिए कि यह उसी ग्रन्थ को दिखलाता है जिसको हस्तलेख केवल वाक्यपदीय कहते हैं। दक्षिण-भारत का एक हस्तलेख प्रकीर्णक का पदकाण्ड के साथ तुल्यार्थक शब्द के रूप में प्रयोग करता है। इसके अतिरिक्त हेलाराज पदकाण्ड पर अपनी व्याख्या को प्रकीर्णप्रकाश कहता है। इससे स्पष्ट है कि प्रकीर्णक उसका नाम था जिसको अब वाक्यपदीय का तीसरा काण्ड समझा जाता है। इससे यह परिणाम निकलता है कि १२ वी शताब्दी तक वाक्यपदीय नाम भर्तृहरि के ग्रन्थ के केवल पहले और दूसरे काण्डों ही को दिखलाने के लिए प्रयुक्त होता था।

इसके पश्चात् यह कहने की कुछ भी आवश्यकता नहीं कि मैं वाक्यपदिक के विषय में इ-त्सिङ्ग के वृत्तान्त का संकेत इस परिमित अर्थ में वाक्यपदीय की ओर समझता हूँ, जिसमे ६७० या, स्थूल रूप से कहें तो, ७०० श्लोक होंगे, और 'चिन' को मैं प्रकीर्ण या पद-काण्ड समझता हूँ। मैं जानता हूँ कि श्लोकों की जो संख्या इ-त्सिङ्ग चिन मे बताता है वह प्रकीर्ण के श्लोकों की वास्तविक संख्या से नहीं मिलती, परन्तु मेरा विचार है कि यही असङ्गति मेरी पहचान के विरुद्ध होने की अपेक्षा उसके पक्ष में जाती है। इस विषय पर मैं अपने विचारों का उल्लेख न करूँगा। हमारे

पास पुण्य राजा का स्पष्ट प्रमाण है कि उसके समय मे पहले ही, 'या तो इसके पठन-पाठन के बन्द हो जाने के कारण, या प्रतिलिपि-कारों की असावधानी से, या दूसरे कारणों से', पद-काण्ड पूर्ण नही था। इ-त्सिङ्ग का कथन और भी अधिक मूल्यवान् है क्योंकि वह चिताता है कि भर्तृहरि के ग्रन्थ का कितना अंश वास्तव मे खो गया होगा।

वाक्य-काण्ड के अन्त के श्लोकों के सिवा, भर्तृहरि अन्य ग्रन्थों की ओर, वाक्यपदीय और प्रकीर्ण दोनों मे, स्मृत्यन्तर और व्याकरणान्तर जैसे साधारण नामो से ही संकेत करता है। टीका-कार इनको आपिशलि और काशकृत्स्न के व्याकरण समझते हैं। महाभाष्य पर अपनी टीका मे वह आपिशला: और अष्टाध्यायी के टीकाकार कुणि नामक वैयाकरणों का प्रमाण देता है। इसके अतिरिक्त वह इन ग्रन्थों का उल्लेख करता या प्रमाण देता है —तैत्तिरीया: और वाजसनेयिन:; आश्वलायन—और आपस्तम्ब (श्रौत) सूत्र, और एक बहू ऋच (श्रौत)-सूत्र-भाष्य; निरुक्त, प्रातिशाख्य, सामान्य रूप से **शिक्षा,** और विशेष रूप से पाणिनीय शिक्षा का एक श्लोक; धर्मसूत्रकारा:, मीमांसक दर्शन, सांख्य दर्शन, वैशेषिक दर्शन और नैयायिका:। परन्तु जिस बात की ओर मैं विशेष ध्यान दिलाना चाहता हूँ वह यह है कि भर्तृहरि भी वैद्यक और चरक का तीन वार उल्लेख और प्रमाण देता है। इसलिए यह निश्चित है कि भारतीय वैद्यक-शास्त्र पर ग्रन्थ लिखनेवालों मे से कम से कम चरक को ७ शताब्दी के मध्य से पहले रखना पड़ेगा।

मैं आशा करता हूँ कि अन्यत्र भर्तृहरि की टीका की सहायता से मैं यह सिद्ध कर सकूँगा कि पिछले वैयाकरणों का गोनर्दीय को पतञ्जलि समझना ठीक नहीं।"

अनुक्रमणिका

छ

ज